डा. ज़ाकिर हुसैन

डा. ज़ाकिर हुसैन

एक जीवनी

एम. मुजीब

अनुवादक

सुमंगल प्रकाश

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली

1974 (शक 1896)

रु. 13.50

मुख्य वितरक
थामसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड
ऑलम्पस हाउस, 29 नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-110006

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016
द्वारा प्रकाशित और रूपक प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

इस जीवनचरित को लिखने का काम ज़ाकिर हुसैन स्मारक समिति ने तत्कालीन शिक्षा-मंत्री डा. वी. के. आर. वी. राव के सुझाव पर मुझे सौंपा था। डा. ज़ाकिर हुसैन के दामाद खुरशीद आलम खां से मुझे पता चला था कि उन्होंने खुद भी यह उम्मीद की थी, बल्कि वह यह माने ही बैठे थे, कि मैं यह जीवनचरित लिखूंगा ही। यदि इस किताब को सामयिक महत्व वाली ही एक किताब होकर रह जाना था, तो इसे लिखने में मैंने जरूरत से ज्यादा ही वक्त ले लिया है। अच्छा होता कि इसे किसी और ने ही लिखा होता, जिसने इसे लिखने की मुझसे ज्यादा तैयारी की होती, या जो इसके लिए मेरे मुकाबले ज्यादा वक्त दे सकता। अब तो मैं इतना ही कह सकता हूं कि मुझे जो इज्जत बख्शी गई है उसका मुझे पूरी तरह भान है और अपने को इस काम के बिलकुल ही अयोग्य न सिद्ध करने के लिए मैंने कुछ उठा नहीं रखा।

मेरा यह दावा नहीं है कि औरों के मुकाबले मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के ज्यादा नजदीक था। बहुत बार उन्होंने मुझ पर यह दोष लगाया कि मैं उनसे दूर ही दूर रहने की कोशिश करता हूं, और बात गलत भी नहीं थी। बातचीत करने का उनका स्तर इतना ऊंचा था, छोटी से छोटी बातों तक मे आश्चर्यजनक रूप से

इतनी जानदार दिलचस्पी थी, विशिष्टता संपन्न बातों का उनका बोध इतना गहरा था कि उनकी सोहबत में मैं शायद ही कभी पूरी तरह असुरक्षित हो पाता था। लेकिन जिस एक बात को लेकर हम दोनों का साथ हुआ था उसी की वजह से हमारा यह साथ कायम रहा आया, और वह मुझ पर इसीलिए भरोसा करके चल सकते थे कि मैं भी अध्यापन, प्रबंध कार्य और लिखाई का अपना सारा बोझ पूरी तरह यह मानकर ढोने को तैयार रहता था कि यह बोझ कब किस तरह कम होगा यह तय करना मेरा काम नहीं है। मैंने उनसे काम के सिवा कभी कुछ भी नहीं मांगा, ऐसा काम जो मैं कर सकूं, और मेरे लिए इतना-भर साहचर्य ही काफी था।

यह जरूर मैं महसूस करता हूं कि, क्या प्रासंगिक है और क्या नहीं, इसके बारे में मैंने अपनी कसौटी का जरा कड़ाई के साथ ही इस्तेमाल किया है। समसामयिक घटनाओं का उल्लेख वहीं किया गया है जहां उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन की जीवन-धारा को प्रभावित किया है, और उनके ऐसे सभी भाषणों को भी मैंने छोड़ दिया है जिनका उनके जीवनचरित की दृष्टि से महत्व नहीं है। जो लोग डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ किसी भी तरह के व्यक्तिगत संबंध का दावा रखते थे उन सबका परिचय-ग्रंथ भी मैंने इस जीवनचरित को नहीं बनने देना चाहा है। इससे बहुतों को निराशा हो सकती है, या नाराजी तक, लेकिन अगर भेदभाव और पक्षपात के आरोपों से बचना था तो यह खतरा तो मुझे उठाना ही था।

मुझे कितने ही क्षेत्रों से मदद मिली है—गांधी स्मारक निधि से, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय से, और दूसरी भी संस्थाओं से। मेरे सहायक श्री जगन्नाथ सहाय ने, जो कि डा. ज़ाकिर हुसैन के कार्यालय-स्टाफ में थे, जिस जोश और लगन के साथ काम किया है उससे यही जाहिर है कि डा. ज़ाकिर हुसैन के प्रति उनकी कितनी गहरी निष्ठा रही है। अपने निजी सहायक श्री ए. एल. आजमी का भी मुझे शुक्रिया अदा करना है जिन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन के स्कूल और कालेज जीवन की सामग्री लाकर दी, और अपने स्टेनोग्राफर श्री एम. अनास का भी, जिन्होंने टाइप का काम समझदारी और ईमानदारी के साथ किया।

इस जीवनचरित को लिखने के बाद इसके मसौदे को अपने कुछ और भी दोस्तों की राय जानने के लिए अगर मैं पढ़ने को दे सकता तो अच्छा होता, पर यह मुमकिन नहीं हो पाया। मेरे भाई स्वर्गीय प्रोफ़ेसर एम. हबीब ने, और

प्रोफेसर के. ए. निजामी ने, शुरू वाले दो अध्याय पढ़ लिए थे, और उनकी आलोचना से मुझे बहुत बड़ी मदद मिली थी।

अंत में मुझे शिक्षा मंत्रालय और नेशनल बुक ट्रस्ट का आभार स्वीकार करना है जिन्होंने कि इस जीवनचरित को तैयार करने के लिए आवश्यक खर्च की व्यवस्था की है।

नयी दिल्ली, —एम. मुजीब
सितंबर 1971

विषय-सूची

1

पारिवारिक पृष्ठभूमि और प्रारंभिक वर्ष

भारत के इतिहास में पठान लोग कितनी ही बुराइयों के कारण भी रहे हैं और उनके उपचार भी। भारतीय उपमहादेश का उत्तर-पश्चिमी सीमांत, जो उनका अपना देश है, खैबर, कुर्रम और बोलन दर्रों के उस पार पड़ता है, इन दर्रों की दुश्मनों के हमलों से रक्षा करते रहने और व्यापार के लिये जरूरत पड़ती थी। बारहवीं सदी के बीतते-बीतते, जब से कि ऐतिहासिक घटनाएं लिपिबद्ध की जाने लगी, इन पठानों को हम हर ऐसी ताकत का प्रचड प्रतिरोध करते पाते है जिसने उन्हें अपने नियंत्रण में लाना चाहा, या जिसने विधि और व्यवस्था के प्रारभिक रूपों को भी उनसे मनवाना चाहा। युद्ध होने पर, दिल्ली के सुल्तान, या बाद को मुगल शहशाह, अगर काफी ताकतवर हो जाते थे तो अपनी अधिक बलशाली फौज के जरिये पठानों के स्वातत्र्य-प्रेम को कुचल डालते थे। पर यह कुछ ही वक्त के लिये होता। दिल्ली के शासकों को जब किसी विदेशी हमले का खतरा नही रहता था तो उन्हें दो में से एक रास्ता चुनने के लिये लाचार होना पड़ता था— या तो सीमात के पठानों को संतुष्ट रखने का कोई तरीका ढूढ निकालें, और या एक ऐसे उजाड इलाके में बड़ी-बड़ी फौजो को बनाए रखें जहां आमदनी का कोई जरिया नही था। एक रास्ता यह निकाला गया कि पठानों को फौज मे ही भरती

कर लिया जाए और उनकी आबादी का जो हिस्सा फालतू हो उसे इस दे
अलग-अलग हिस्सों में बसाने की कोशिश की जाए। इस तरह पठानों ने ल
भिड़ने की अपनी खास खुसाई, और उनमें से जो बुढ़ापे की वजह से लड़ा
काबिल नहीं रह जाते थे वे फौज से छुट्टी पाकर इन बस्तियों में अपने ही लो
बीच जा रहते थे और अपनी खेती-बाड़ी करते थे, बाग-बगीचे लगाते थे
अपने बाल-बच्चों को सिखाते थे कि वे भी बड़े होकर मर्दानगी में पठान अ
पर चलें। उनकी बस्तियां चाहे कहीं भी क्यों न हों उनकी प्रेरणा का
उनकी मातृभूमि ही रहती थी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जहां तक मुमकिन था, वे
पुश्तो बोली ही बोलते थे, और अपनी जनजातीय संस्कृति के उन सभी गु
अपने अंदर संजोए रहते थे जो उन्हें हिंदुस्तानियों से अलग करते थे-
हिंदुस्तानियों से जिन्हें वे किसी तरह भी अपनी बराबरी का दर्जा देने को
नहीं थे।

लेकिन, जहां अपने देश में ये पठान किसी भी बड़ी ताकत के सामने झु
तैयार नहीं थे, वहां दूसरी ओर, एक बार देश छोड़ देने पर, व्यक्तिगत
ही नहीं, दलगत रूप में भी, वे पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ उस स
के अनुगत रहते थे जिसका कि वे नमक खाते थे। इस देश में उन्हें बसाने के
बस्तियों का चुनाव करते वक्त एक ख्याल यह भी रखा जाता था देहातों की
नीच आबादी को दबाकर रखा जा सके, और इस फर्ज को अदा करने में
कभी नहीं चूके। प्रशासन और प्रबंध संबंधी क्षमता उनमें काफी ज्यादा थी,
वास्तुकला की भी उन्होंने अपनी निजी ही शैली विकसित की थी। हुमा
भारत से बाहर खदेड़ देने वाला शेरशाह सूर (मृत्यु-1545) पठानों के श्रे
गुणों से संपन्न था—सिवा अपनी इस आदत के, कि अपनी जवानी में बा
शिकायत करता रहा कि उसके बाप ने उसके साथ इंसाफ नहीं किया, व
विलक्षण राजनेता था जिसमें अपने समय की राजनीतिक और प्रशा
आवश्यकताओं की गहरी सूझबूझ थी, न्याय देने के मामले में वह बड़ा ही
था; साथ ही उसका सौंदर्य-बोध भी ऐसा था कि अपने द्वारा निर्मित वास्
में वह शक्तिबोध को सौंदर्य-बोध में परिणत कर देता था।

फिर भी, केवल लड़ाई-भिड़ाई और अपनी जमीन-जायदाद की देखभा
प्रबंध ही पठानों की ऊर्जस्विता को खपाने के लिये काफी नहीं थी। बदन

की 'गरमी' दूर करने के निमित्त स्वस्थ और जवान पठानो के लिये खूनाखूनी कर बैठना आम बात थी, हालांकि इसके बाद भी वे शायद ही कभी चैन से बैठ पाते हों। जरा-सी बात पर वे भड़क उठते थे और अक्सर उसी दम जवाबी हमला कर बैठते थे। विद्वानों या साधु-फकीरों को छोड़ बाकी सभी ऐसे लोगो को वे हिकारत की निगाह से देखते थे जो दब्बू या नरम स्वभाव के होते थे, और पठानों की हर बस्ती मे बात-बात पर झड़पें होती रहती थी और कभी-कभी तो व्यक्तियों या संगठित दलो के बीच खूनाखूनी भी। शांति का ऐसा वातावरण उनकी प्रकृति के ही विपरीत था—जहा न जिंदगी पर कोई खतरा हो और न जमीन-जायदाद पर। बीसवी सदी के चौथे दशक मे जब मुगल बाज खां नाम का एक पठान सरदार पंजाब के लोक-सेवा-आयोग का सदस्य होकर पहलेपहल लाहौर आया तो सारी रात उसे नीद नही आ पाई। सभाव्य आक्रमणकारियों के खतरे से चेतावनी देने के लिये रात-भर वह पिस्तोलो की गोलियो के दगने का आदी था, और उसके घर के आसपास हथियारबंद पहरेदार गश्त लगाते रहते थे। लाहौर के अंग्रेजी राज का वह शात वातावरण एक ऐसे शून्य की भाति था जिसमे उसके लिये सास लेना दूभर हो उठा।

पठान स्वभाव से ही निष्कपट होता है और तदनुरूप ही उसका आचरण है। एक बार जबान देकर वह मुकर नही सकता, और जिसका 'नमक' खाया है उसके प्रति और अपनी बिरादरी, दोस्त और उपकारी के प्रति निष्ठा रखना उसके लिये मर्दानगी की एक बडी पहचान है। अतिथि-सत्कार मे तो वह अपना पूरा दिल ही खोल देता है। कहते हैं कि कोई मेहमान जब किसी पठान के दरवाजे पर दस्तक देता है तो मेजबान हाथ में एक लाठी, पानी से भरा एक प्याला, जेब मे कुछ धन, और हुक्का लिये दरवाजा खोलने पहुंचता है। मेहमान को बिना इंतजार किये ही मुंहमागी चीज मिल जाती है—धूम्रपान, धन, पीने का पानी या किसी शत्रु से लड़ने के लिये तैयार एक साथी। अतिथि-सत्कार मे पठान दरिया-दिल था। किसी भी प्रकार की क्षुद्रता से उसे नफरत थी; दुश्मनो के बीच एक-दूसरे के खिलाफ होने वाली साजिशें उसके लिये स्वाभाविक थी, पर कमीनी हरकतों से उसे घृणा थी। आमतौर पर वह दुनिया पर, और साथ ही अपने पठान भाइयों पर, यही छाप छोड़ना चाहता था कि वे देखें कि वह किस धातु का बना है, और अगर ऐसी छाप छोड़ने के लिये वह कोई गलत तरीके

अख्तियार कर बैठता था तो उससे सबद्ध सभी लोग अपने को शर्मिंदा महसूस करते थे।

भूतकालिक क्रिया का प्रयोग यहा अकारण नही किया गया है। पूरब की अधिकांश अन्य जातियों की ही भाति पठान भी अपने अतीत के स्वप्न मे रमना पसंद करते हैं। फिर, उनमें से जो भारत मे आ बसे उन्हे, एक ओर तो शांति-पूर्ण अंग्रेजी शासन को झेलने के लिये मजबूर होना पड़ा जिसने धीरे-धीरे उनके लडाकूपन को करीब-करीब निचोड ही डाला, और दूसरी ओर, क्षय रोग ने भी उन्हे अपना शिकार बनाया, जो शायद उन लोगों का एक जातिगत रोग ही था। उन पठानों का वर्णन अब भूतकालिक क्रिया में ही किया जा सकता है। हमारे देश के आज के पठान उतने ही अच्छे-भले नागरिक हैं जितने कि किसी और जाति वाले, और अपनी पृथक सत्ता कायम रखने की उनकी इच्छा का किसी भी लोकतान्त्रिक सिद्धात से विरोध नही है। यह बात जिस हद तक उन पठानो पर लागू होती है जो 1947 से पहले यहा आ बसे थे, उतनी ही उन पर भी जो बाद को यहां बसने के लिये आए। हिंदू पठानो और मुसलमान पठानो के बीच बस एक ही अंतर है, कि हिंदू पठान के अदर खतरनाक ढग से जीने की कोई लालसा नही है।

फर्रुखाबाद जिले का कायमगज कसबा पठानो की एक ठेठ बस्ती की मिसाल था। इसे 1713 मे मुहम्मद खा बगश ने बसाया था और इसका नाम अपने बेटे कायम खा के नाम पर रखा था। मुख्यत. ये लोग अफ्रीदी थे जिनमे से बहुतो के खानदानो को सीमा प्रात से यहा बसाने के लिये आमत्रित किया गया था। इन्ही मे से एक खानदान हुसैन खा का था जो मदा आखून, यानी उस्ताद कहलाते थे। डा. जाकिर हुसैन के पूर्वजो की तलाश मे हम बस उन्ही तक पहुच पाते हैं।

1713 और 1900 के बीच कायमगज भी वक्त के साथ-साथ बदलता आया था। खास पेशा फौजी नौकरी का था, और वहा से निवृत्त होने पर, अपनी जमीन-जायदाद की देखभाल। शिक्षित घराना था, और सूफियो और दरवेशों के संपर्क के कारण आध्यात्मिक रुझान। लेकिन यह भी नही कि बाहरी दुनिया का खयाल ही न रह गया हो, बल्कि अधिकाश लोग स्थानीय मामलो मे, सच पूछा जाय तो स्थानीय झगडो मे, मशगूल रहते थे। परपरागत तरीको को छोड़ कर ज्यादा दौलतमंद बनने की कोई ख्वाहिश नही थी, और आत्मसम्मान के आदर्श को धनदौलत और मानप्रतिष्ठा बढाने की जगह ज्यादातर उन प्रतिद्वद्वियों का

सफाया करके कायम रखा जाता था जो उनकी आन पर बट्टा लगाना चाहते थे। बल्कि अभी हाल तक, इसी के दूसरे और तीसरे दशकों मे भी, कायमगंज मन्नू खां जैसे इसान को जन्म दे सकता था जिसने अपनी और आसपास की इन वस्तियो में, ब्रिटिश राज के सरकारी अफसरों और उसकी पुलिस के बावजूद, आतंक जमा रखा था। बिना किसी दड के भय के, वह हर तरह के जुर्म कर सकता था, क्योंकि दुस्साहसी होने के साथ ही साथ वह गलत सबूतों को गढने और उन्हें तैयार करके पेश करने में ही नही, सही सबूतों को दबा देने में भी इस कदर माहिर था कि अदालत मे उसके खिलाफ कोई भी जुर्म साबित नही हो पाता था। बाजार मे होकर जब निकलता था तो सभी दूकानदार उसे बदगी करने के लिये खड़े हो जाते थे, और जब रेल से सफर करता था और स्टेशन-मास्टर को इसकी खबर दे देता था तो जब तक वह पहुंच नही जाता था, रेल को रोक रखा जाता था। यों मन्नू खा जरूर इस मामले मे बहुत आगे बढ गया था, पर वैसे भी पठान लोग आमतौर पर किसी जुर्म की भयानकता को नही इसी बात को महत्त्व देते थे कि उसकी नौबत क्यो आई और उसके लिये वजह क्या दी जाती है। एक क़िस्सा है कि किसी आदमी ने डोली में जाती हुई किसी औरत को पर्दे के अंदर से झाकते देख लिया। उस आदमी ने उसी दम अपनी गुलेल का निशाना साधा, जिसमें उस औरत की एक आंख जाती रही। लोकमत उस औरत के पक्ष मे नही हुआ; पर्दे की प्रथा का उल्लंघन करने वाली उस औरत को सजा देने वाले पठान की ही पीठ ठोकी गई। डा. जाकिर हुसैन के दादा गुलाम हुसैन खा ने अपने तालाब से किसी आदमी को खोद कर मिट्टी ले जाते देखा। उन्होंने कई बार उसे मना किया, और फिर भी जब वह नही माना, तो उसे छुरा भोंक दिया। उनकी पठान बिरादरी की निगाह मे किसी कमीने और ढीठ आदमी के साथ पेश आने का यही सही तरीका था।

अपने इतिहास की अगर हमने कद्र की होती तो हमारे प्राचीन सामाजिक जीवन के बारे मे कितने ही नाटक और ऐतिहासिक उपन्यास लिख डाले गए होते, और पठानो के समाज से उनके लिये प्रचुर सामग्री मिलती। पठान माताए, जिनके अंदर अक्सर ही उम्र के बढने के साथ-साथ श्रद्धाभक्ति की भावना बढ़ती जाती थी, पठानों की इस निरंकुश प्रकृति के दूसरे छोर पर होती थी, हालांकि पठान मर्दों के अंदर भी अपनी इस सहज प्रकृति से बिलकुल उलटे रूप भी देखने को

मिल जाते थे। गुलाम हुसैन खां जिंदगी भर सिपाही रहे और गुस्से में आकर उन्होंने एक आदमी के छुरा भी भोंक दिया, लेकिन दूसरी ओर गरीबों और बेसहारों के प्रति उनकी उदारता भी मशहूर थी, और कहा जाता है कि अड़ोस-पड़ोस की बेवाओं के लिये जरूरी सामान खरीदने भी वे बाजार जाया करते थे। वह कायमगंज के एक सूफी करम अली शाह के ही नहीं वहदतुल-वुजूद[1] और सुल्हे कुल[2] नामक धार्मिक मतों के एक हिंदू प्रवर्तक-वनविहारी के भी अनुयायी थे। उनके बेटे फिदा हुसैन खां अगर पठानों के परम्परागत पेशे से दूर रहे तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

फिदा हुसेन खा के पास कुछ ज्यादा जमीन-जायदाद नहीं थी और वड़े जमीदारों या जागीरदारों के बीच वह नहीं गिने जाते थे। बीस साल की उम्र में, 1888 मे, वह हैदराबाद (दक्खिन) में जा बसे। लगभग एक साल तक वह मुरादाबादी बर्तनों का व्यापार करते रहे, फिर, एक दोस्त से ले-लेकर पढ़ी जाने वाली किताबों ने उनकी दिलचस्पी कानून के अध्ययन में पैदा कर दी। इस विद्या में उन्होंने अपनी विलक्षण योग्यता का परिचय दिया, और जल्द ही वह औरंगाबाद में वकालत करने लग गए। लेकिन वकील के रूप में मिलने वाली सफलता से उन्हें सतोष नहीं हो पाया। उन्होंने हैदराबाद के उच्च न्यायालय के फैसलों का प्रकाशन शुरू कर दिया, और उसी दम समझ गए कि इनकी खासी माग है और इसलिये इस काम में अच्छा मुनाफा है। बेगम बाजार मुहल्ले में उन्होंने जमीन खरीद ली, और उस पर एक दोमजिला मकान बनवाया जिसकी निचली मजिल पर छापाखाना, दफ्तर और पुस्तकालय थे और ऊपरी मजिल पर रहने का मकान। अपने 'लॉ रिपोर्टर' के प्रकाशन के अलावा उन्होंने बहुत बड़ी सख्या में कानून संबंधी किताबें प्रकाशित कीं, और यह कहा जा सकता है कि हैदराबाद रियासत में कानूनी साहित्य के प्रकाशन में उनका अपना योगदान सबसे ज्यादा रहा। 1907 में उनतालीस साल की उम्र में जब उनका देहांत हुआ तब वह अच्छी खासी हैसियत रखते थे, और अपने बालबच्चों की शिक्षादीक्षा के लिए काफी नकद रकम और जायदाद छोड़ गए थे।

---

[1]यह विश्वास कि दृश्य जगत की सारी विषमताओं के पीछे (ईश्वर के साथ) एकत्व है।

[2]पूर्ण शांति, अथवा सभी के साथ मेल—एकत्व के सिद्धांत का एक रूप जो अकबर के काल में प्रमुख हो उठा था।

फिदा हुसेन खां ने *अन्य पठान नवयुवकों की भांति अठारह-उन्नीस साल की* उम्र में ही अपनी शादी नही की – यह बात उनके चरित्र की विशेषता की ही द्योतक है। औरंगाबाद मे वकालत का पेशा अख्तियार कर लेने पर ही, तेईस साल की उम्र मे, उन्होंने शादी की। उनकी पत्नी नाज़नीन बेगम की बडी लालसा थी कि उनके कोई बेटी हो, जो एक असाधारण-सी ही बात थी; लेकिन उनके नसीब मे सिर्फ बेटे ही बेटे लिखे थे, और वे भी सात-सात। इनमे सबसे बड़े थे मुजफ्फर हुसैन जिनका जन्म 1893 मे हुआ। लगता है कि उनका व्यक्तित्व सौम्य और संतुलित रहा होगा, और अपने भाइयों के आपसी झगड़ो को निपटाने और उनके बीच शाति और सद्भावना बढाने की विलक्षण क्षमता भी उनमे रही होगी। *दुर्भाग्यवश उनका अत हैदराबाद मे एक उज्ज्वल भविष्य का आरभ होने* के पूर्व हीक्षय रोग से हो गया और वह अपने पीछे दो बेटे और एक बेटी छोड गए। दूसरे लडके थे आबिद हुसैन, वह भी अलीगढ मे अपनी पढ़ाई पूरी करने से पहले ही क्षय रोग से चल बसे। डा ज़ाकिर हुसैन तीसरे बेटे थे। चौथे बेटे जाहिद हुसैन और पाचवें जाफर हुसैन भी भरी जवानी मे इसी बीमारी के शिकार हो गए। इन भाइयो में से छठे और सातवें, डा. यूसुफ हुसैन और डा. महमूद हुसैन अभी भी मौजूद हैं और प्रतिष्ठित पदो पर हैं।

नाज़नीन बेगम को नजर लगने का इतना डर बना रहता था कि अपने बेटों की संख्या वह कभी अपनी जबान पर नही लाती थी। सभवत: इसी डर की वजह से उनके जन्मो की सही ढग से रजिस्ट्री नही कराई गई और न उनके जन्मदिन ही मनाए जाते थे। इसी के फलस्वरूप डा. ज़ाकिर हुसैन की जन्मतिथि के बारे मे अनिश्चितता बनी रह गई। इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल के रजिस्टर से, जहा कि वह पहलेपहल दाखिल हुए थे, यह पता चलता है कि दाखिले के दिन, 8 दिसबर, 1907 को, वह दस साल एक महीने के थे। स्कूलो के इंस्पेक्टर एफ. जी. मोर्स द्वारा चार साल बाद इसे काट दिया गया, और उसकी जगह जो तारीख दर्ज की गई उसके अनुसार उनकी उम्र दस महीने बढ गई। यह संशोधन क्यो किया गया, इसकी कोई वजह नही दिखाई गई है। हो सकता है कि ये दस महीने उनकी उम्र मे इसलिये बढाए गए हो ताकि प्रवेशिका (मैट्रिक) परीक्षा के लिये आवश्यक न्यूनतम अवस्था से उसका मेल बिठाया जा सके; या पहले दर्ज कराई गई उनकी उम्र मे सचमुच ही गलती रह गई थी। 1922 मे जब

डा. ज़ाकिर हुसैन ने पासपोर्ट के लिए दरखास्त दी तो शायद स्कूल के रजिस्टरो से अपनी जन्मतिथि का पता लगाते फिरने की जहमत मोल न ले उन्होने 24 फरवरी 1897 को अपनी जन्मतिथि मान लिया। बाद को जब कभी भी उनसे उनकी जन्मतिथि के बारे मे पूछा जाता था, वह झुझला उठते थे। 'आप मुझे देख तो रहे हैं। आखिर पैदा तो हुआ ही हूगा। मेरा खयाल है कि इतना जानना ही काफी है।' किंतु अधिकृत रूप मे उनका जो जन्मदिन स्वीकार किया गया है वह स्कूल वाले रजिस्टर मे मोर्स द्वारा सशोधित तारीख से ही मेल खाता है।

डा. ज़ाकिर हुसैन को अपने मांबाप की कम ही याद थी, क्योकि उनके पिता की मृत्यु तभी हो गई थी जब वह दस साल के थे, और उनकी मां 1911 मे ही कायमगज मे प्लेग की महामारी फैलने पर उसकी चपेट मे आ गई थी।[1] लेकिन उन्होने मुझे बताया था कि हैदराबाद में रहते वक्त उनके घराने की जो प्रतिष्ठा थी उसकी खातिर उन्हें सडक पर पैदल नही चलने दिया जाता था, बल्कि सड़क-पार रहने वाले रिश्तेदारो के यहा जाने के लिये भी गाड़ी मगाई जाती थी। कायमगज में रहते वक्त दूसरी ही हैसियत थी, और उनके पिता की मृत्यु के बाद तो घर के हालात भी बदल गए थे। उनका कायमगज वापस लौटना समृद्धि के जीवन से सादगी और सख्ती की जिंदगी की ओर लौटना था। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन की उम्र तब इतनी कम थी कि इस परिवर्तन का उन पर कोई असर नही पड़ पाया। उनके सामने सबसे बडी समस्या यह थी कि अपने छोटे भाई ज़ाहिद हुसैन के साथ वह किस तरह पेश आए। लडकपन मे भी उन्हे यह डर बराबर बना रहता था कि उनसे कोई गलत काम न हो जाए और अपनी बराबरी वालो या अपने से बड़ो की नजरो मे वह गिर न जाए। ज़ाहिद हुसैन स्वभाव से ही झगड़ालू और दबग थे और शरीर से भी कही ज्यादा ताकतवर; डा. ज़ाकिर हुसैन को एक ओर इस बात का खयाल रखना पडता था कि उन्हे लोग स्नेहशील और भलेमानस समझें, दूसरी ओर अपने भाई के लडाकूपन से अपनी रक्षा की भी फिक्र करनी पड़ती थी। ताकत की जगह उन्हें अपनी अक्लमदी और चतुराई पर

---

[1] जब वह बीमार हुई तो घर वालों ने चाहा कि उनके तीनों बेटे, जिनमें से दो अलीगढ़ में और एक—डा. ज़ाकिर हुसैन—इटावा में पढ़ रहे थे, बुला लिये जाएं पर उनकी पढ़ाई मे इस तरह खलल देने को वह तैयार नहीं हुई।

ज्यादा भरोसा था। चूंकि वह प्राय: सदा ही सही रास्ते पर चलते थे इसलिये मुजफ्फर हुसैन का भी उन्हें समर्थन प्राप्त रहता था। फिर भी यह खतरा तो बराबर मौजूद रहता ही था कि जाहिद हुसैन कब कोई वार कर दे।

पढ़ने लायक उम्र होते ही सभी भाई इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल मे दाखिल होते गए। यह एक रिहाइशी सस्था थी जिसकी स्थापना 1888 मे मौलवी बशीरुद्दीन ने की थी, जो अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ विशुद्ध इस्लामी जिंदगी के हिमायती थे। उसके बारे में उनके विचार एक प्रकार से सकीर्ण ही थे और बच्चो के लिये काफी सख्त—नमाज मे शामिल होने पर कड़ी पाबदी, सिर के बालो को फैशन के खिलाफ बहुत छोटे-छोटे ही कटाना, सादे मोटे कपड़े, सख्त बिछावन, और स्वादहीन भोजन। डा. जाकिर हुसैन पाचवी कक्षा मे भरती हुए। उसके पहले की उनकी पढ़ाई घर पर ही ऊचे मुस्लिम घरानो की प्रथा के अनुसार हो चुकी थी। चार साल, चार महीने और चार दिन की उम्र होते ही हर लडके को घर के मुखिया या किसी बुजुर्ग द्वारा 'बिस्मिल्लाह'[1] कराई जाती थी (लिखना शुरू कराना) और कुरान की कुछ आयतो का पाठ करना सिखाया जाता था। पढाई 'बगदादी प्राइमर' से शुरू कराई जाती थी जो अरबी वर्णमाला सिखाने और बच्चे को कुरान पढाने के लिये यही सर्वश्रेष्ठ बालपोथी मानी जाती थी। कुरान के कुछ अध्यायों या पूरे ही कुरान की पढाई हो चुकने पर फारसी की शिक्षा शुरू होती थी। इसके लिये भी परंपरा से चली आने वाली उत्कृष्ट पोथिया थी। उर्दू की पढ़ाई बिलकुल अत में शुरू होती थी। यह क्रम मुस्लिम सस्कृति के परपरागत विकास का द्योतक था, और साथ ही उस मार्ग का भी जिससे होते हुए वह भारत तक पहुंचा था।

स्कूल में डा. जाकिर हुसैन को सभी कायदे-कानूनो को पालन करने वाले के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी; नमाजो मे और कक्षा मे वक्त के पूरे पाबद थे, और शरारतो से दूर रहते थे। स्कूल के पठान लडकों के अदर एक ऐंठ रहती थी और बात-बात पर वे बगावत कर बैठते थे। डा. जाकिर हुसैन न उनका साथ देते थे, न उनकी मुखालफत करते थे। वह शालीनतापूर्वक मध्यम मार्ग का अवलंबन करते थे। इसके कारण वह अपने सहपाठियो के भी विश्वासपात्र बन गए थे और

[1] 'परमात्मा के नाम पर, जो कि दयालु और करुणामय है।'

अपने शिक्षकों के भी। जब कभी भी उनका स्कूल किसी वाद-विवाद अथवा निबंध प्रतियोगिता मे भाग लेने के लिये अपने विद्यार्थी भेजता था, उन्हें जरूर उस मंडली मे शामिल किया जाता था, और वक्ता के रूप में वह असाधारण प्रतिभा का परिचय देते थे। वह प्रायः सभी शिक्षकों के और विशेष रूप से प्रधानाध्यापक मौलवी अल्ताफ हुसैन के कृपापात्र थे जिन्होंने मालूम होता है, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र मे उनके उज्ज्वल भविष्य को भांप लिया था, और जो उन्हें सही किस्म का प्रोत्साहन देते रहते थे। जब कभी भी स्कूल में किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन होता था, उसका स्वागत करने और अभिनंदन भाषण देने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन को ही चुना जाता था। एक बार स्कूल में अलीगढ़ से एक वक्ता आए। उनका विषय था अरबी, फिर भी उनके दाढ़ी नहीं थी। डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपने स्वागत-भाषण मे, आगतुक के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के लिए, दाढ़ी मुडाने की अच्छाइयो का ही बयान कर डाला।

डा. ज़ाकिर हुसैन की मा ने उनके मन मे बुजुर्गों का सम्मान करने की भावना बिठा दी थी जिसकी वजह से उनके अदर नम्रता, सम्मानप्रदर्शन और आज्ञा-कारिता के गुण उत्पन्न हो गए थे। लेकिन विद्यार्थियो और स्कूल के प्रबधको के बीच सघर्ष के मौके भी कम नही आते थे, और यदि उन्हे विश्वास हो जाता कि विद्यार्थी न्याय के पक्ष मे लड़ रहे हैं तो उन्हे उनका साथ देने मे जरा भी झिझक नही होती थी। सादे मोटे कपडो और सख्त बिछावन को तो छात्र बरदाश्त कर सकते थे, लेकिन स्वादहीन भोजन की भी नपीतुली मात्रा उन्हे हमेशा भड़काए रखती थी और सबसे ज्यादा जो बात खल जाती थी वह यह कि जो लडका पाचो नमाजो मे से एक मे भी बार-बार नागा करने लगता, उसे सजा के तौर पर भूखा रखा जाता था। एक बार यह सजा एक ही साथ बहुत से लड़को को दे डाली गई। बगावत के आसार नजर आने पर डा ज़ाकिर हुसैन से बीचबचाव करने के लिए कहा गया। स्कूल के प्रबधको को उन्होंने कायल कर दिया कि छात्रो को उनके आहार से वचित करना गैरकानूनी है, क्योकि उसके लिये उन्होने कीमत अदा की है और उस पर उनका अधिकार है। नतीजा यह हुआ कि यह सजा बाजाब्ता तौर पर उठा दी गई। इस निर्णय से उन छात्रो को, जिन्हे कि उन्होने चुपके-चुपके संगठित किया था पर साथ ही नियत्रण मे भी रखा था, भारी सतोष मिला कि उनकी सयुक्त कारंवाई की वजह से स्कूल को अपनी नीति बदलनी पड़ी।

डा. जाकिर हुसैन का यह पहला प्रयोग था जिसने उन्हे एक ऐसा हल सुझाया जो किसी झगड़े के दोनो ही पक्षो के लिए न केवल संतोषजनक हो सकता था बल्कि शिक्षाप्रद भी था।[1]

इतनी ही विशिष्टतापूर्ण थी डा जाकिर हुसैन की मानसिक जागरूकता, और आदोलनो तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओ के प्रति उनकी प्रतिक्रिया, खासतौर से जबकि उनका सबध इस्लाम जगत से होता था। यह ट्रिपोलिटन और बालकन युद्धो का काल था, और भारतीय मुसलमान तुर्की के भाग्य के बारे मे अत्यत विक्षुब्ध थे। विश्व के एकमात्र स्वतत्र मुस्लिम राज्य के विरुद्ध यूरोप के आक्रमण को लेकर डा. जाकिर हुसैन के अदर बड़ी प्रचड प्रतिक्रिया हुई, और अपने सहपाठियो को भी उन्होने उससे प्रभावित किया। लड़ाई की खबरो को जल्द-से-जल्द पाने की उन्हे इतनी बेचैनी रहने लगी कि 'पायनियर' अखबार खरीद कर लाने के लिये वह रोज स्टेशन जाते और अपने सहपाठियो को सुनाने के लिए दौड़े-दौड़े वापस आते। जुमा की नमाज के बाद अक्सर मस्जिद मे वह भाषण भी देते, और तुर्की सहायता कोश के लिए चदा इकट्ठा करते। एक बार, जब कि नमाज के लिए इकट्ठा हुए लोगों के बीच वह चदे के लिये अपनी टोपी बढाते चले जा रहे थे, कह उठे कि उनके दिये गए सिक्के गोलिया बनकर इस्लाम के दुश्मनो की छातियो को छेद देंगे। श्रोतामंडली मे से एक बूढा तो यह सुनकर रो पड़ा और उसके पास जो कुछ था सब दे डाला।[2]

सन् 1911 मे, जब कि वह आठवी कक्षा मे थे, उन्होने शायद किसी मौके पर देने के लिये छात्रजीवन पर एक भाषण लिखा था। उनके जिन विचारो और आदर्शों ने आगे चलकर उन्हे विशिष्टता प्रदान की उनकी जानकारी देने की दृष्टि से यह लेख अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

"शिक्षा प्राप्त करने वाले हर व्यक्ति के सामने निस्संदेह जीवन का कोई लक्ष्य रहता है। कोई वकील बनने के लिये पढ़ता है, कोई डाक्टर बनने के लिये, और

---

[1] यह जानकारी मौलवी फ़ैयाज खा (जन्म, 1888) से मिली है जो वहा प्राध्यापक थे और 1910-20 के काल मे छात्रावास और पाकशाला के अधीक्षक थे।

[2] 'अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट' खड 6, सख्याए 13-16, 1957 मे श्री हबीबुर्रहमान का लेख।

कोई सरकारी नौकर होने के लिये; और आमतौर पर यही माना जाता है कि पढ़ने-लिखने का उद्देश्य है अमीर बनना। यह उद्देश्य शुरू से जितना छात्र के मन मे नही रहता उतना उसके माता-पिता के दिल मे बना रहता है। जिस किसी भी विद्यार्थी के परिवार का भरण-पोषण उस पर निर्भर करता है। उसका यही कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता का सहारा बनने के लिये शिक्षा प्राप्त करे, और यह सही तौर पर कहा जा सकता है कि किसी की व्यक्तिगत सपत्ति राष्ट्र की भी संपदा है। लेकिन सिर्फ अमीर बनने और अच्छी तरह खा-पी सकने के लिए ही शिक्षा प्राप्त करना न सिर्फ उस विद्यार्थी के लिये बल्कि मानव जाति के लिए भी शर्म की बात है। किसी विद्यार्थी का लक्ष्य अगर यही है कि शिक्षा प्राप्त करके वह बढिया कोट पहनेगा, गाडी की सवारी करेगा, सरकारी अफसरो से हाथ मिलाएगा, तो वह विद्यार्थी कहलाने के योग्य नही है। सक्षेप मे कहा जाय तो अमीर बनना किसी विद्यार्थी का भद्दे से भद्दा लक्ष्य ही हो सकता है।

ठीक जिस तरह अमीर बनना किसी विद्यार्थी के लिये कोई (सही) लक्ष्य नही बन सकता, उसी तरह आराम और चैन की जिंदगी से भी दूर ही रहना चाहिये। आरामदेह जिंदगी का लालच ऐसा होता है कि वह सभी लोगो को, और खासतौर से विद्यार्थियो को, उन्नति करने से रोकता है।

अब तक मैंने सक्षेप मे वे बातें बताई जो किसी विद्यार्थी का लक्ष्य नही बननी चाहिए। अब मैं यह बताता हूं कि विद्यार्थियो को क्या काम करने चाहिए और उनके कर्त्तव्य क्या हैं। लेकिन उन्हे बताने से पहले अच्छा यह होगा कि मैं सक्षेप मे 'विद्यार्थी' के अर्थ पर प्रकाश डाल दू।

" 'विद्यार्थी' हम उसे कहते हैं जो अपनी वर्तमान स्थिति को सुधारना चाहता है, जो अपनी क्षमताओ को अधिक-से-अधिक बढाना चाहता है, जो ज्ञान और चिंतन के उन खजानो से फायदा उठाना चाहता है जिन्हे कि हजारो सालो से सैंकडो लोग आने वाली पीढियो के लिए विरासत के तौर पर छोड़ गए हैं, जो अपनी विवेक-बुद्धि के पथ-प्रदर्शन के लिए, अच्छी बातो की जानकारी के लिए, उस ज्ञान और उन उच्च आदर्शों के लिए जिनका उसे पता नही है किंतु जिनकी जानकारी उसे इस दुनिया मे सहारा देगी, सबकुछ प्राप्त करने का इच्छुक है। विद्यार्थी बनने के लिए भले-बुरे के बीच, फायदेमद और नुकसानदेह के बीच, और क्या चाहना ठीक है और क्या चाहना एकदम गलत, इसके बीच तमीज करने

लायक अवल होनी चाहिए। उसे अपने अंदर विचार करने और मूल्यांकन करने की योग्यता पैदा करनी चाहिए, ज्ञान के द्वारा उसे वह सवकुछ प्राप्त करने की इच्छा रखनी चाहिए, जो पाना मनुष्य के लिए सभव है। लेकिन सांसारिक जीवन की कठिनाइयो के बीच एक ऊंचा नैतिक स्तर कायम रखने के लिए अगर वह सतत प्रयत्नशील नही रहता तो वह इस दुनिया में कभी भी आगे नही बढ़ सकेगा, और न दूसरे लोगों को ही प्रभावित कर पाएगा। अपने कर्त्तव्यों को जो दृढ़तापूर्वक और गंभीरता के साथ नही निभाता वह किसी हालत मे भी विद्यार्थी कहलाने के लायक नही है। उसे अपने दिल मे यह बात तो आने ही नही देनी चाहिए कि वह कुछ भी करने लायक नही है, क्योंकि अगर वह इस तरह सोचने लगेगा तब तो वह कही भी नही पहुंच पाएगा। उसे साहसपूर्वक अपने कदम बढ़ाते चलना चाहिए; ऐसा करने पर उसकी सफलता सुनिश्चित है।

हिम्मत बलंद दार कि पेशे-खुदा व खल्क,
बाशद बकदरे हिम्मते तो एतबारे तो।

अर्थात्, तू हिम्मत बुलंद रख, ताकि खुदा और लोगों की निगाह में तेरा वही सम्मान हो जिसकी तुझे अभिलाषा है।

किसी विद्यार्थी के जीवन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसे जो भी भ्रम या राग-द्वेष हो वह उनसे ऊपर उठे और बुरी आदतें छोड़ दे। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने अपढ़ भाइयों के बीच शिक्षा का प्रसार करे और शिक्षाप्रसार को भी अपनी ही शिक्षा का एक अंग समझे। ज्ञान-प्राप्ति के ही उद्देश्य से उसे ज्ञानार्जन करना चाहिए, पर जिंदगी की जरूरतों के बारे में भी वह बेखबर न रहे। यदि वह इन जरूरतों से बेखबर रहता है तो वह अपने परिवार का बोझ अपने कंधों पर नही उठा सकता, और न मानवजाति के लिए ही उपयोगी बन सकता है। यदि वह शिक्षित नही है तो वह आदमी ही नही है और इस दुनिया मे कोई भी उल्लेखनीय कार्य नही कर सकता।"

जब उन्होंने स्कूल छोड़ा तो उसके संस्थापक और प्रबंधक मौलवी बशीरुद्दीन ने उन्हें रात के खाने पर बुलाया। मौलवी बशीरुद्दीन की कथनी और करनी मे कोई अतर नही था। फर्नीचर के नाम पर उनके कमरे में मूंज की सिर्फ एक खाट थी जिस पर वह आराम भी करते थे और दफ्तर का कामकाज भी। डा. ज़ाकिर हुसैन के बैठने के लिए भी उन्होंने उसी का एक हिस्सा खाली कर दिया।

खाने के लिए सिर्फ गोश्त था, और जब वह सामने रखा गया तो उन्होंने उसके शोरबे मे धीरे से पानी मिला लिया। डा जाकिर हुसैन ने भी उनकी इस क्रिया को सहज-स्वाभाविक ही मान लिया, और फिर इस तरह खाना खाने लगे मानो उसके स्वाद मे कोई फर्क ही न पडा हो। खाना हो चुकने पर मौलवी बशीरद्दीन ने उन्हे बताया कि शोरबे मे पानी उन्होने यही दिखाने के लिए मिलाया था कि जिंदगी मे हमे भोग-विलास के पीछे नही दौडना चाहिए; उनके जैसे होनहार नौजवान को यह बात बराबर ध्यान मे रखनी चाहिए।

डा जाकिर हुसैन 1913 मे मुहमडन एग्लो-ओरियटल कालेज (अब, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय) मे दाखिल हुए। वहा पहुचने पर पहलेपहल उनको कैसे तजुरबे हुए और वहा उनका छात्र-जीवन किस तरह बीता इसका बयान उन्होने 28 जनवरी 1957 को उस विश्वविद्यालय के दीक्षात-भाषण मे किया था :

"बार-बार मेरा ध्यान चवालीस साल पहले की उस तपती हुई दुपहरी की ओर जाता है जब कि पहलेपहल मे इस विश्वविद्यालय मे आया था। मेरे दो बड़े भाई पहले से ही यहा मौजूद थे, और इसलिए नए-नए आने वाले दूसरे सैकड़ो छात्रो के मुकाबले मे मैं यहा उतना अजनबी नही रहा। मेरे वे भाई पहले ही यहा के वातावरण के अग बन चुके थे, मैं नया था। मेरे एक भाई तीसरे पहर मुझे एक जोडा जूता, कुछ किताबें और एक लालटेन खरीदवा लाए। शहर हम लोग गए तो पैदल ही, पर लौटे इक्के पर, क्योंकि अपने हाथो मे सामान लेकर चलना शरीफों की इज्जत के खिलाफ था। मुझे याद है कि मेरे भाई मुझे छात्रावास के अपने कमरे मे बिठाकर अपने कुछ दोस्तो से मिलने के लिए निकल पडे थे और मुझे बता गए थे कि सूरज डूब जाने पर जब घटी बजे, तो मैं भोजनालय मे जा पहुंचू। घटी मेरे अनुमान से कुछ पहले ही बज उठी। सिर पर तुर्की टोपी, बदन पर तुर्की कोट, और मोजे-जूते पहनकर खाने के लिए जाने की बात सोलह साल की उम्र तक कभी सामने नही आई थी, यह सब पहनते-पहनाते कुछ वक्त लगा। और, देर लगती भी क्यो नही ? जूते के फीते को सूराखो मे डाल ही नही पा रहा था, क्योकि जैसे ही मैंने दो सूराखो मे डालकर फीते को खीचा, कि वह पूरा का पूरा बाहर निकल आया। और तब मैं इस कदर घबरा उठा कि नए जूते मुझे पहनाकर मेरे भाई ने शाम को फीते बाधने का जो तरीका कई बार मे सिखाया था उसे बिलकुल ही भूल गया। कई बार फीते को बाधा और खोला,

और फिर अचानक ही वह तरीका एक नए आविष्कार की तरह दिमाग में कौंध गया। आखिर सज-धजकर जब मैं कमरे से निकला तब तक काफी देर हो चुकी थी, और मेरे वे साथी जो कहीं ज्यादा चौकन्ने थे, पहले ही भोजनालय में पहुंच चुके थे।

'यक लहज: गाफिल गश्तम व सदसाला राहम दूर शुद' (मैं एक लमहे के लिए गाफिल हुआ था कि सौ साल दूर हो गया)।

भोजनालय का रास्ता मुझे मालूम नहीं था, और जहां-तहां टक्कर मारता फिरा; आखिर अपने लक्ष्य स्थान की निष्फल खोज करते-करते मुझे लगा कि मैं वहीं आ पहुंचा हूं जहां मेरा कमरा था। दरवाजा बंद था, और सभी दरवाजों की ही तरह। मैंने अपनी घड़ी पर नजर डाली। यह एक नई ही चीज थी जो मुझे उसी दिन अपने भाई से मिली थी। इसे पाने से पहले तक मैं अपने दिन के वक्त का बटवारा या तो स्कूल वाली बड़ी घड़ी को देखकर करता आया था और या सूरज की रफ्तार से। अब घड़ी जो देखी तो पता चला कि रात के खाने का जो वक्त मुझे बताया गया था उसे गुजरे सिर्फ आठ ही मिनट हुए थे। लेकिन इन्हीं आठ मिनटों के अंदर मुझ गरीब पर क्या-क्या गुजर चुकी थी—आत्म-ज्ञान-शून्यता और आत्मोपलब्धि, लक्ष्य की खोज, दिशा-च्युति, और इस साधना में पूर्ण विफलता तक की सारी मंजिलें पार हो चुकी थीं।

यह सही है कि वक्त को सिर्फ घड़ी की सुइयों की रफ्तार से नहीं नापा जाता। जिस व्यक्ति को ऐसा करना होता है उसकी मनोदशा को भी उसी का एक हिस्सा मानना पड़ता है। इंतजार या निराशा के कुछ मिनट ही कभी-कभी किसी के कंधों पर पहाड़-से वजनी हो उठेंगे; कभी-कभी सत्य की झांकी मिलने के, ऊंचे संकल्प के, सौंदर्य-बोध के, किसी पवित्र कामना की पूर्ति के लिए अपने जीवन को अर्पित कर बैठने के एक क्षण में संपूर्ण काल समा जाएगा—अपने आदि से अंत तक; कभी-कभी पूरी जिंदगी लक्ष्यहीन और उत्साहहीन रूप में भटकते ही बीत जाएगी, जिसकी ओर तेजी से गुजरता हुआ एक-एक मिनट, उसको तमाम जिंदगी-भर, हिकारत की निगाह से ताकता और उसकी खिल्ली उड़ाता रहेगा। मगर अब अपनी उस रोज वाली उस साधना की बात पर आ जाऊं। आठ मिनट बाद मैं वहीं आ पहुंचा था जहां से रवाना हुआ था। कमरे के बाहर, नीम के दरख्तों के नजदीक, कुछ खाटें पड़ी थीं; उन्हीं में से एक पर मैं जा बैठा।

कुछ ही देर बाद मेरे सहपाठी वापस लौटते दिखाई दिये—कोई एक-दूसरे की बाह-मे-बाह डाले, कोई आप-ही-आप गुनगुनाते हुए, कोई हसते हुए, और कोई खामोश। इसका मतलब यही होता था कि भोजनालय मे जाने, खाना खाने, और फिर वहा से लौट आने का यह सारा सिलसिला सिर्फ 9-10 मिनट मे पूरा हो चुका था। दूसरे मामलो मे न सही, लेकिन खाने वाली नित्यक्रिया मे एक फौजी पाबदी-सी जान पडी। ज्यादा देर तक खाते रहना तहजीब के खिलाफ समझा जाता था, और भोजनालय के प्रबधक भी खाने की मेज पर किसी के ज्यादा रुकने की गुजाइश नही छोडते थे।"

इसके बाद डा. जाकिर हुसैन ने एक तरह से अपने एक अदरूनी रहस्य का उद्घाटन किया जो रूपको, और सूक्ष्म सकेतो की एक शृखला के बीच ऐसी प्रच्छन्न शैली मे था जिसे कि बरसो की साधना के बाद उन्होने पाया था, एक ऐसी शैली जो इतनी सूक्ष्म और सक्षिप्त थी कि जो कुछ कहा जा रहा था उसका मतलब और उसके निहितार्थों को सिर्फ वे ही कुछ-एक लोग समझ सकते थे जिन्हें उनका यथार्थ आशय पहले से ही मालूम रहता था। बाकी लोग तो सिर्फ उनके शब्दो के ही मोहजाल से मुग्ध होकर रह जाते थे, और, अमेरिकी कवि एमिली डिकिसन के शब्दो मे, सिर्फ "विचारशून्य ढोलो" की ही श्रेणी मे आ सकते थे।

"क्या वजह है कि उस दिन जो कुछ हुआ था वह मुझे इतने विस्तार से याद है ? शायद इसकी वजह यही है कि उसी दिन मेरे इन चवालीस सालो की शुरूआत हुई थी जिनके दौरान मेरी जिंदगी मे बहुत-कुछ बदल गया है, हालाकि इस विश्वविद्यालय के साथ का मेरा रिश्ता नही बदला है, इसकी जडें तो मेरे दिल की गहराइयो मे हैं, और ऐसी कोई चीज नही जो इस बधन को तोड सके। यहा मैंने बहुत-कुछ सीखा, और जितना सीखा उससे ज्यादा न सीख पाने पर पछतावा करना भी सीखा। यही जगह थी जहा मेरे अदर बाद की जिंदगी मे उन कामो को करने की चाह पैदा हुई जो शुरू तो किये गए पर अभी अधूरे ही पड़े हैं। यही वह जगह थी जहा मैंने दूसरो के साथ मिलकर काम करना सीखा, यही मैंने मतभेदो और स्वभावगत विषमताओ के बावजूद सहयोग करते हुए चलने की कला सीखी, जिंदगी के कई तरीको के साथ प्रयोग किये और उनपर अपनी राय कायम की। यही रहते हुए मेरे सामने हमारे राष्ट्रीय जीवन और चरित्र के सारे दोष उभरकर सामने आए, और दिल मे वे दर्द महसूस किये जो आखो मे आसू

ले आते थे, और साथ ही तब अपने अंदर पहलेपहल अपने देशवासियों की कामनाओं और आकांक्षाओं के अंकुर उठते महसूस किये। यही रहते हुए मैंने अपरिपक्व मन की रोषपूर्ण अधीरता और जल्दबाजी में किये शक-शुबहों पर पछतावा करना सीखा। यही पर मेरे अंदर ऐसी आग भड़क उठी जैसी कि सूखे पत्तों मे किसी चिंगारी के पड़ जाने से भड़क उठती है, पर साथ ही उस आग को कोयले की तरह राख के अंदर-ही-अंदर सुलगाए रखना भी सीखा। यहा रहते हुए ही मेरे अंदर यह अक्ल पनपी कि वसंत की कोपलों की तरह जो प्रवृत्तियां मेरे अंदर झिझकती और शर्माती हुई-सी झाकने लगी थी उन्हे इस यत्न से धीरे-धीरे बढ़ाऊं कि तेज और जोरदार हवाए उन्हें उखाड़ न ले जाएं, और साथ ही यह जरूरत भी महसूस कर पाया कि अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए सामाजिक जीवन के तूफानो और थपेड़ो का मर्दानगी के साथ सामना करूं। एकांतवास और सहवास दोनों का ही हमारी शिक्षा और हमारे निर्माण मे कितना महत्त्व है यह भी यही मैंने जाना। यही मैंने आज्ञापालन करना सीखा और आज्ञाकारिता को स्वभाव मे परिणत कर डालना; यही मैंने सम्मान करने के तत्व को जाना: बुजुर्गों का, बराबरी वालो का, छोटों का, और अपना भी सम्मान करने का तत्व। यही वह जगह है जहा रहते हुए मैं अपनी नम्रता और वफादारी की भावना की वजह से ही यह महसूस कर सका कि विद्या के इस केंद्र मे जीवन का नियमन करने के लिए जिन विधि-विधानो को बनाया गया है उनका समझबूझ के साथ खुद-ब-खुद पालन करना ही सच्ची स्वाधीनता है, लेकिन जब इसके विधि-विधान अंतःकरण की मांग से विपरीत जान पड़े, तब जीवन के इस स्रोत ने ही मुझ में विद्रोह करने का साहस पैदा कर दिया। मैं विद्रोही बन बैठा, मुझे निकाल बाहर किया गया, और मैंने विद्या के एक-दूसरे ही केंद्र का निर्माण करने मे पच्चीस वर्ष अर्पित कर डाले, मगर मेरे दिल मे फिर भी अपने इस विद्यालय के प्रति कोई कटुता नही पैदा हुई···"

डा. ज़ाकिर हुसैन के विद्यार्थी जीवन के कई पहलू हैं, और किसी रत्न की दमक की ही भांति, उसे भी किसी संकीर्ण सीमा मे बाधकर पेश नही किया जा सकता। उनके एक घनिष्ठतम मित्र प्रो. रशीद अहमद सिद्दीकी ने जो-कुछ लिखा है उससे एक ऐसे नौजवान की तस्वीर उभरकर सामने आती है जो मौजी तबीयत का और गैरजिम्मेदार था, और जिसकी जबर्दस्त समझदारी एक आकर्षक

उसे उन्होंने पहले से रट रखा है, तो उन्होंने अपने भक्तों को भी निराश करते हुए सिर्फ उस प्रस्ताव को पेश भर कर दिया, और कहा कि पहले विरोधी पक्ष के वक्ता अपनी सारी दलीलें दे लें, उसके बाद ही वह उनके जवाब मे अपना भाषण देंगे। और अंत में जब वह बोले तो उन लोगों ने जितनी भी दलीलें दी थी उन सबका सफाया करके उन्होंने प्रचंड हर्षध्वनि के बीच अपना प्रस्ताव पास करवा लिया।

स्कूल की तीन परीक्षाओं में डा. जाकिर हुसैन अव्वल रहे। वह साहित्यकार बनना चाहते थे। 1915 मे उन्होंने 'बाब' मत पर 'अल नजीर' नामक उर्दू मासिक पत्र के लिए एक लेख लिखा जो प्रो. ब्राउन द्वारा लिखी गई पुस्तक 'ए इयर एमंग दि पर्शियंस' (ईरानियों के बीच एक वर्ष) के इस विषय सबंधी अध्यायों का आंशिक रूप मे सक्षिप्त रूप था और आशिक रूप में अनुवाद। 1917 में उन्हें 'भारत में मुस्लिम शिक्षा' विषय पर लिखे गए अपने एक निबंध के लिए 100 रुपये का पारितोषिक मिला था, और दो साल बाद 'इकबाल तगमा', और योग्यता सबधी एक सरकारी छात्रवृत्ति भी। इसी समय उन्होंने प्लेटो के 'रिपब्लिक' का अनुवाद करना शुरू कर दिया था। लेकिन मुझे तो इतना ही याद है कि स्कूल और कालेज वाले अपने काल की विद्या संबंधी अपनी रुचियों और उपलब्धियों के बारे मे वह हलकेपन के साथ ही बात करते थे। इम्तिहानों की चुनौती को वह शायद इसी तरह लेते थे मानों वह एक मामूली-सी बात है। उन्होंने मुझे बताया था कि स्कूल या कालेज मे इम्तिहान का वक्त जब नजदीक आ पहुंचता था तो वह अपने एक ऐसे दोस्त से, जो पढ़ाई-लिखाई के मामले मे बड़ा चुस्त था, उसके 'नोट' मांग कर पढ डालते थे, और आमतौर से अपने उस दोस्त से अच्छा ही नतीजा लाते थे।[1] जरा कल्पना तो कर देखिए, कि आप अपने उस दोस्त के पास पहुंचते हैं, एक मनमोहनी अदा के साथ उसके सामने अपनी लापरवाही की बात कबूलते हैं, अपने दोस्त की अध्ययनशीलता की तारीफों के पुल बांधते हैं और फिर उसमे मदद मागते हैं कि फेल होने की बेइज्जती मे वह

[1]प्रो. हबीबुर्रहमान मरहूम। देखिये, 'अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट'; खंड 6, संख्याएं 13-16, 1957, में उनका लेख। वह अलीगढ़ के 'टीचर्स कालेज' के प्रिंसिपल के रूप में सेवा-निवृत्त हुए।

उसे बचा ले। शायद वह उन नोटों को पढ़ने की जहमत मोल लिए बिना भी इम्तिहान पास कर सकते थे यदि सिर्फ उस दोस्त को राजी करके कुछ खास-खास विषयों पर उसी के मुंह से उसके लेक्चर सुन लेते। उनकी बुद्धिमता, मतलब की बातों की उनकी पकड, और अभिव्यक्ति की उनकी क्षमता संभवत: किसी भी परीक्षक को इस बात का कायल कर देती कि अपने विषय की उन्हें खासी जानकारी है।

'मैं एक शिक्षक बना' शीर्षक अपनी एक रेडियो वार्ता में उन्होंने, अपने ही ढंग से, यह बताया है कि वह जो कुछ बन पाए किस तरह बने। "आज जब मैं पीछे की ओर नजर घुमाकर देखता हूं तो मुझे याद आता है कि लडकपन से ही मेरे अंदर शिक्षक बनने की लालसा थी। यह मेरी पहली सीधीसादी मुहब्बत थी। किंतु छुटपन की ये सचेतन कामनाएं कोई हमेशा ही अपने दिल की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण नहीं हुआ करतीं। कितनी ही बार तो वे बाहरी परिस्थितियों के किसी न्यूनाधिक मात्रा में क्षणस्थायी रूप द्वारा प्रेरित होती है, और कुछ वक्त के लिये भले ही वे बड़ी प्रबल जान पड़ें, मगर अक्सर उन पर काबू पा लिया जाता है और फिर आसानी से वे दिल से निकल जाती है। मेरे एक बड़े भाई की पहले यह ख्वाहिश थी कि मैं इंजीनियर बनूं, और फिर यह कि डाक्टर बनूं, इसी तरह मेरे एक चाचा की ख्वाहिश यह थी कि मैं उनका और अपने पिता वाला वकालत का ही पेशा अख्तियार करूं। ये ख्वाहिशें यदि पूरी हो जातीं तो आज मैं बदसूरत इमारतों के निर्माण के निरीक्षण-कार्य में लगा होता और उनकी बदसूरती के अज्ञानसुख में डूबा रहता, या उन्हें बदसूरत न बताने का कौशल सीख कर अमीर बन रहा होता, या फिर डाक्टर बन, मरीजों और मरते हुए लोगों के कष्टों को दूर करने में जीजान से लगे रहकर भी शायद ही कुछ ज्यादा कर पाता—उनकी कराहें यों ही हर तरफ से आकर बेचैनी पैदा करती रहती हैं —और या बैंक के अपने खाते की रकम बढ़ाने के लिये उनके उन कष्टों का नाजायज फायदा उठा रहा होता, और या फिर वकील ही बन चुका होता और कम तर्कसंगत को अधिक तर्कसंगत सिद्ध करने वाले भारी भरकम काम में अपना पूरा वक्त लगा कर अमीर बन रहा होता, और बीच-बीच में राज-नीति के क्षेत्र में मन बहलाव का कोई रास्ता निकाल लेता और अपनी जबर्दस्त वकालत के बल पर एक ऐसी ढुलमुल अनुयायी-मंडली को खुश करने की कोशिश

करता जिसे मैं ग़ुश रखना कठिन काम ही है। यदि इनमें से कोई भी एक वारदात हो गई होती, जैसा कि मुमकिन भी था, तो शायद आज मैं आप लोगों से यही कहता कि शिक्षक बनने की मेरी छुटपन की कामना सिर्फ अपने उस प्रधानाध्यापक[1] के प्रति एक छात्र की भक्ति का प्रदर्शन-मात्र थी जो कि उस समय मेरे सामने मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ रूप थे। तब मैं शायद यह जान भी न पाता कि वह कामना मेरे अंतर की ही पुकार थी। जिंदगी की पुकार इतनी जोरदार या साफ नहीं हुआ करती कि वह कानों तक पहुंच ही जाए या उसकी ओर ध्यान जाए ही।"

इंटरमीडियेट की परीक्षा के लिये डा. जाकिर हुसैन ने विज्ञान का विषय लिया था ताकि डाक्टरी पढ़ने के लिये तैयार हो सकें। लेकिन लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में बी. एस. सी. में भरती होने के पहले ही वह बीमार पड़ गए और साल-भर के लिये उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। इसके बाद उन्होंने अलीगढ़ के एम. ए. ओ. कालेज में ही फिर से दाखिला ले लिया। अब उन्होंने 'आर्ट्स' के विषय लिये। किंतु एम. ए. में आकर उन्होंने अर्थशास्त्र का विषय लिया,[2] और बाद को इस में ही उन्होंने जर्मनी में डाक्टरेट किया। लेकिन उनकी प्रतिष्ठा अर्थशास्त्री के रूप में नहीं शिक्षाशास्त्री के रूप में ही स्थापित हुई। और-अधिक न पढ़ पाने का अनुताप तो उन्हें काफी बाद को हो हुआ, जो ज्ञानार्जन की लालसा से कभी भी संतुष्ट न रह सकने वाले किसी बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति के लिये अपरिहार्य ही है।

उनकी शिक्षा का एक पहलू और भी था जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता। छुट्टियों में जब वह घर जाते थे तब आमतौर पर हसन शाह को अपना इंतजार करते पाते थे। हसन शाह एक पर्यटक सूफी थे जिनकी ज्ञान की प्यास कभी बुझती ही नहीं थी। अपनी लौकिक संपत्ति और अपनी किताबों को अपने कंधे पर रखी बंहगी के दोनों छोरों पर लादे चलते थे। किताबें खरीदने के लिये उनके पास पैसे नहीं होते थे, और पढ़ने के लिये जो किताबें वह दूसरों से लेते थे उनमें से कितनी ही उन्हें ऐसी लगती थीं कि उन्हें अपने पास रखें। अपनी यात्रा

[1]मौलवी अल्ताफ़ हुसैन—इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल के हैडमास्टर।

[2]बी. ए. में उनके विषय थे—अंग्रेजी साहित्य, दर्शन और अर्थशास्त्र।

में वह यह हिसाब रखे रहतेथे कि कायमगज तभी पहुचें जब कि डा. जाकिर हुसैन भी घर लौटें, और, एक ऐसी नम्रता के साथ जिसकी उपेक्षा खुशमिजाज दिखाई देने वाला वह नौजवान कर ही न सके, उससे अनुरोध करते कि एक किताब की उनके लिये वह नकल कर दें। और डा जाकिर हुसैन इस काम पर बैठ जाते, और ईमानदारी के साथ और इतनी लगन से उस किताब की नकल कर डालते कि इससे उनकी लिखावट असाधारण रूप से सुदर हो गई। उन्होने फारसी के भी अपने ज्ञान मे वृद्धि की और सूफी मत के बारे में भी बहुत कुछ सीखा।

मेरी राय कहा तक न्यायपूर्ण या सही है यह तो मैं पक्के तौर पर नही कह सकता, लेकिन मेरा खयाल यही है कि डा जाकिर हुसैन की कालेज के जमाने की सभी दोस्तिया उनके लिये पूरी नियामत नही थी। उनके कुछ दोस्त ऐसे थे जो उनके वादविवाद और चुनाव-सघर्षों मे उनका साथ देते थे, कुछ ऐसे थे जिन्हे उनके सग-साथ, उनकी बातचीत और उनकी सनको मे मजा मिलता था, और कुछ ऐसे भी दोस्त थे जिनकी उनमें इतनी गहरी आस्था जान पड़ती थी कि उनके व्यक्तित्व को केंद्र बना कर उन्होने अगर समूचे देश के लिये नही तो मुस्लिम समाज के लिये तो जरूर ही एक नए भविष्य का निर्माण कर डाला। यदि इन दोस्तो ने इस बात का खयाल नही रखा कि उनकी शक्ति निरर्थक कामो मे बेकार खर्च न हो, कि मिलनसारी का आदर्श स्थापित करने और जिंदगी की अच्छी चीजो, खासतौर से खाने-पीने की चीजो की कद्र करने की खातिर वह अपनी तदुरुस्ती के साथ खिलवाड न करने पाए, और सबसे बडी बात यह, कि यदि उन दोस्तो ने इस बात पर भी ध्यान नही दिया कि कोई नेता अपने अनुयायियो से भी जिन योग्यताओ और भावनाओ के स्थायित्व की अपेक्षा रखता है उन्हे वे अपने अदर बढाए, तो इसका कारण यही रहा होगा कि अपनी इन खामियों को वे अपने नेता के व्यक्तित्व और उसकी योग्यताओ की तारीफ के पुल बाध कर पूरा कर रहे थे। डा. जाकिर हुसैन के अदर, अलीगढ मे पढते वक्त, जाहिलों, बोर करने वालो, पेटूओ और सनकी लोगो मे भी कुछ न कुछ दिलचस्पी की बात दिखाई देने की कला आ गई थी। और ऐसे लोगो मे से किसी ने यदि उनकी इस दिलचस्पी के कारण यह दावा करना शुरू कर दिया कि डा. जाकिर हुसैन उसके खास दोस्त हैं तो इस दावे के स्वरूप और गाभीर्य का निर्धारण तो वह कर ही सकता था?

विभिन्न प्रकार की मैत्रियों के इसी संदर्भ में हमें समावर्तन-अभिभाषण में कही गई उनकी इस बात की व्याख्या करनी होगी, कि अलीगढ मे उन्होंने मत-भेदों और स्वभावगत विषमताओं के बावजूद सहयोग करने की और जिंदगी के कई तरीकों के साथ प्रयोग करने और उन पर अपनी राय कायम करने की कला सीखी।

उसी अभिभाषण में उन्होंने आज्ञापालन और सच्ची स्वाधीनता की जो परि-भाषा दी है वह जर्मन दर्शन से ली गई है और संभव है कि आंशिक रूप में वह उन्ही बातो का आदर्शीकरण रहा हो जिन्हें कि उन्होंने घर पर अपनी मां और अपने बुजुर्गों से, इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल में सैयद अल्ताफ हुसैन जैसे व्यक्तियो के संपर्क से, और हसन शाह से सीखा। यह वह सांस्कृतिक संपत्ति थी जो अलीगढ़ के शैक्षिक तथा सामाजिक हाट में नही मिल सकती थी। "हमारे राष्ट्रीय जीवन और चरित्र के दोषो" की बात कहते वक्त उनके दिल में क्या था, इस बात पर भी अब हम विचार कर देखें, और यह भी देख लें कि विद्या के उस केंद्र के 'विधिविधान,' जिसे वह इतना प्यार करते थे, उन्हें अपने अंतःकरण के विपरीत क्यों लगे।

यह सही है कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन का संबंध इतना गहरा था कि वह कभी शिथिल नही हो सकता था। उसके मामलों मे उनकी दिलचस्पी बराबर बनी रही, और यह मानने के लिए वह किसी हालत मे भी तैयार नहीं होना चाहते थे कि उसके परंपरागत रूप को, उनके द्वारा, या किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह द्वारा, बदला ही नहीं जा सकता था। 1948 में जब उसके कुलपति बनने की बात उनके सामने एक चुनौती के रूप मे आई तब उसे स्वीकार करने के परिणाम क्या हुए उन पर हम बाद को आएंगे किंतु इस विश्वविद्यालय का उन्हें जिन-जिन बातों मे वास्तविक कल्याण दिखाई दिया उनमें उसकी सेवा करने के किसी भी मौके को उन्होंने हाथ से जाने नहीं दिया—तब भी जबकि वह उसके विरोधी दल में थे। लेकिन डा. जियाउद्दीन, जो विरोधी दल के प्रमुख लक्ष्य थे, उच्चवर्गीय मुसलमानों की मनोवृत्ति के इतने बड़े प्रतीक थे कि इस बात को विरोधी दल भी नही समझ सका, और उनके काम करने का तरीका और विरोधियों के कामों को बिगाड़ देने का तरीका कुछ ऐसा था कि विरोधियों का सारा विरोध, उत्तेजनापूर्ण होते हुए

भी, निष्फल ही सिद्ध होता रहा।

अलीगढ मे अब्दुर्रहमान सिंधी और अब्दुर्रहमान बिजनौरी जैसे कुछ आदर्श-वादी और स्वप्नद्रष्टा भी मौजूद थे जिन्हे पूरा यकीन था कि अलीगढ के मुहमडन ऐंग्लो-ओरियटल कालेज से दकियानूसी, सरकार-समर्थक, तत्वो को उखाड़ फेंकना नामुमकिन है। उन्होन उसी तरह का एक दूसरा कालेज और किसी जगह स्थापित करने की योजना बनाई। भोपाल की बेगम से आवश्यक धन मिल जाने की आशा दिखाई देने पर इस कालेज का नाम सुल्तानिया कालेज रखा गया। किंतु धन नही मिला और यह कालेज निरा सपना बनकर रह गया। अलीगढ के पुराने विद्यार्थियो मे मौलाना मुहम्मद अली जैसे युद्धप्रेमी भी थे जिन्होने एक अर्से से कालेज के प्रबधको के खिलाफ आदोलन छेड रखा था, और जब महायुद्ध और उसकी समाप्ति ने उनके आदोलन को राजनीतिक शक्ल दे दी, तो कालेज के प्रिंसिपल ने और अन्य अग्रेज प्राध्यापको ने इस्तीफा दे दिया। इससे विद्यार्थियो के कितने ही माता-पिता डर गए, और कालेज मे दाखिल होने वालो की सख्या, जो यो ही गिरती आ रही थी, 1919 की गरमी की छुट्टियो के लिये कालेज के बंद होते वक्त, सिर्फ 181 रह गई। डा जियाउद्दीन ने, जो उसी साल प्रिंसिपल हुए, स्थानीय और प्रातीय अग्रेज अफसरो को सतुष्ट करके रोकी जाने वाली सहायता की रकम को फिर से दिलाने के लिये राजी कर लिया, और मुसलमानो को आश्वस्त कर दिया कि कालेज पर सरकार की बुरी नजर अब नही रही। विरोधी दल भिड़ जाने के मौके की ताक मे था ही, और उसे यह मौका उस समय मिल ही गया जब मुहमडन ऐंग्लो-ओरियटल कालेज को कानूनी तौर पर एक विश्वविद्यालय मे तबदील करने की योजना पेश हुई। यह मानने के काफी कारण थे कि इस योजना के पीछे राजनीतिक उद्देश्य छिपा हुआ था। डा. जियाउद्दीन भले ही बराबर इकार करते रहे, मगर हकीकत यह है कि उच्चवर्गीय मुसलमानो का एक बडा वर्ग 1911 मे ट्रिपोली पर इटली के हमले से और उसके बाद के बालकन युद्धो से बेचैन और घबडाया हुआ था। 1912 मे बडे जोश-खरोश के साथ एक चिकित्सक-मडली को तुर्की भेजा गया। मगर तुर्की जब 1915 मे महायुद्ध मे शामिल हो गया और तुर्की को अरब देश, फिलस्तीन, सीरिया और इराक से निकाल बाहर किया गया, तो भारतीय मुसलमान कोई न कोई जवाबी कार्रवाई के लिये बेताब हो गये थे। उन्हे शात करने के लिए कुछ न कुछ करना जरूरी हो

उठा। सर हारकोर्ट बटलर, या 'बूटलेयर साहब' ने जैसा कि विलायत अली उर्फ बंबूक[1] ने उनका नाम रख छोडा था, अपना कदम उठाने के लिए शायद समझबूझ कर ही खिलाफत आदोलन वाला वक्त चुना। उनकी योजना जो भी रही हो, ठीक ऐसे वक्त पर वह मुसलमानो के बीच फूट पैदा करने मे सफल हो गए, जब कि खिलाफत आदोलन, रौलट कानूनो के खिलाफ छिड़ी हलचल, और असहयोग आदोलन, ये तीनों मिलकर आग मे तपाई हुई एक ऐसी फौलादी एकता तैयार करते जान पड़ रहे थे जो ब्रिटिश सरकार के लिए बड़ी अशुभ सिद्ध होती।

अपने वक्त के अधिकाश शिक्षित मुसलमानो की ही तरह डा. जाकिर हुसैन भी उन जोशीली कविताओं को पढ़ते थे जिनकी उस जमाने के उर्दू अखबारो और पत्र-पत्रिकाओ मे बाढ-सी आ गई थी, और इसके साथ ही वे मौलाना अबुल कलाम आजाद के 'अल हिलाल' और 'अल बलाग' के उच्चकोटि के गद्य को भी पढते। जरूर उनके अंदर यह तमन्ना और भी जबर्दस्त हो उठी होगी कि अपनी मजहबी और सास्कृतिक परंपरा के अनुरूप वह भी कुछ कर डालें। लेकिन 1920 मे उनकी उम्र सिर्फ तेइस साल की थी और वह एम. ए. में अर्थशास्त्र के विद्यार्थी थे, जिसके साथ-साथ वकालत भी पढ़ते थे। उन्हे अंशकालिक शिक्षक का भी काम मिला हुआ था जिसके कारण वह न तो विद्यार्थियों मे ही शुमार होते थे और न अध्यापकों मे ही। खिलाफत और असहयोग आदोलनो के प्रति उनका लगाव किस सीमा तक रहा यह साफ नही है। बाद को हम देखते हैं कि न तो कोई चरमपंथी कदम उठाना उन्हे पसंद था और न आसानी या किसी फायदे के खयाल से वह बहती धारा में ही बह सकते थे। उन दिनो के बारे मे बातचीत करते वक्त उन्होंने मुझे बताया था कि गाधी जी के बारे में अखबारों में वह पढते जरूर थे, पर न उन्होने उन्हे देखा था और न उनके पीछे-पीछे चलने के लिए सब-कुछ त्याग देने की भावना उनके अंदर पैदा हुई थी। फिर भी प्रतिद्वंद्वी छात्र-नेताओ से होनेवाली भिड़तो मे मिलने वाली सफलता, वादविवाद संबंधी प्रतिभा तथा व्यक्तिगत

---

[1] रफी अहमद किदवई के साला। व्यंग और कटाक्षपूर्ण शैली में लिखने मे उन्हें कमाल हासिल था। ज्यादातर वह 1911 मे शुरू होने वाले अंग्रेजी 'क्रानिकल' के लिये और उर्दू के 'अवध पंच' के लिए लिखते रहते थे।

प्रभावोत्पादकता के कारण उनकी राय को लोग काफी वजन देते थे। इसी के कारण कुछ छात्रों को तो यह शक भी हो गया था कि डा. जियाउद्दीन ने उन्हे अपनी ओर खीचने के लिए ही शिक्षण कार्य दिया था।

अंत मे विस्फोट की स्थिति आ ही गई। एम. ए ओ. कालेज को कानून के अनुसार विश्वविद्यालय बनाए जाने से रोकने के लिये व्यग्र एक जोशीले दल ने मौलाना मुहम्मद अली और गाधी जी को भाषण देने के लिए आमंत्रित कर डाला। गाधी जी तो पहले से ही सरकारी और सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलो और कालेजो के बहिष्कार का प्रचार करते आ रहे थे और मौलाना मुहम्मद अली एम. ए. ओ. कालेज को एक सरकारी विश्वविद्यालय मे परिणत किये जाने का प्रचड विरोध कर रहे थे। ऐसी हालत मे इन दोनो मे से किसी को भी इस आमंत्रण को स्वीकार करने मे भला क्या आपत्ति हो सकती थी। दूसरी ओर, सरकार समर्थक तत्वो ने भी उन नेताओ के आगमन को निष्फल बनाने के लिए सब कुछ कर डालने की ठान ली। डा. जाकिर हुसैन उस मौके पर मौजूद रहने के लिए छटपटा रहे थे, पर वह बीमार थे और दिल्ली मे डा असारी से अपने स्वास्थ्य की परीक्षा कराना चाहते थे। दुर्भाग्यवश दोनो कामो की तारीख एक ही पडती थी, और ज्यादा से ज्यादा वह छात्र संघ की कार्यकारिणी के अपने दोस्तों से यह हार्दिक अनुरोध ही कर सकते थे कि सभा का वक्त उस दिन ज्यादा से ज्यादा देर करके रखा जाए। ऐसा हो नही सका, और 21 अक्तूबर को जिस वक्त तक वह दिल्ली से वापस लौटे तब तक गाधी जी छात्रो के बीच अपना भाषण देकर चले जा चुके थे।

छात्रो के लिए रेलवे स्टेशन एक मनोरजन का स्थान बना हुआ था जहा के प्लेटफार्मों पर वे तीसरे पहर और शाम को टहलते रहते थे। डा. जाकिर हुसैन जब दिल्ली से लौटे तो स्टेशन पर उनके कुछ दोस्त उन्हे लेने आए हुए थे, और उस मौके पर भी हमेशा की तरह छात्रों की भीड़ वहां चहलकदमी कर रही थी। उसमे कुछ छात्र गाधी जी और मौलाना मुहम्मद अली की पूर्ण विफलता का जश्न सा मना रहे थे और उन लोगो के बारे मे भद्दे व्यग कर रहे थे और उनका मजाक उड़ा रहे थे। उनके अपने दोस्तो की भी प्रतिक्रिया वैसी ही दिखाई दे रही थी। एक बार उन्होंने मुझे बताया था कि गाधी जी के बारे मे उनके उस बर्बरतापूर्ण अश्रद्धा-प्रदर्शन से उनका सिर शर्म से बुरी तरह झुका जा रहा था। यह शिक्षा

और संस्कृति के, हर ऊंची और पवित्र भावना के खिलाफ जुर्म था, जिसका प्रायश्चित उन्हे करना ही था। जामिया मिल्लिया के लिए, भारतीय शिक्षा के लिए और इस राज्य की प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए उन्होने जो कुछ किया वही था यह प्रायश्चित।

इस घटना का अगला दिन, 13 अक्तूबर, व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्तर पर बहस-मुबाहसे का दिन बना रहा। न कोई समझदारी की बात सुनाई दे रही थी और न किसी की जबान पर कोई लगाम थी, परस्पर-विरोधी लोग एक-दूसरे को भद्दी से भद्दी गालिया दे रहे थे। लेकिन ये तौर-तरीके एक अजब ढग से और तेजी से बदल गए। छात्र सघ की बैठक के दौरान मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली अचानक आ पहुंचे। उन्होंने कोई भाषण नही दिये, बल्कि आंखो मे आसू भरे हुए बोले कि छात्रो से वे बिदा लेने आए हैं और अपने टूटे हुए दिल को लेकर अपनी हार मान वापस जा रहे हैं। उनका गम इतना सच्चा था कि कितने ही लड़के भी रो पड़े, जिनमे डा. ज़ाकिर हुसैन भी एक थे। उन्हे तेज बुखार था और वह खुद नही बोलना चाहते थे, लेकिन वह इतने उत्तेजित हो उठे थे कि रह न सके।

एक बार उन्हें भेदिया कहा गया, सिर्फ इसलिए कि उन्होंने एक सहपाठी की समझदारी की बातों का समर्थन किया; अब उन्होने यह घोषणा करके कि अपने शिक्षण कार्य से वह इस्तीफा देने जा रहे हैं और जो छात्रवृत्ति उन्हें मिल रही है उसे भी नही लेंगे, बहुमत को अपने पक्ष में कर लिया। उनके अदर का पठान जिस बात से अचानक जग उठा था वह यह चुनौती थी कि जो लोग वर्तमान शिक्षा सस्थाओं के बहिष्कार के पक्ष मे हैं उनमे एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा संस्था को स्थापित करने का साहस और साधन-सपन्नता होनी चाहिए जहा जाकर विद्यार्थी अपनी पढ़ाई जारी रख सकें। उस सभा मे तो उन्होंने अपने इरादे के बारे मे खुलकर कुछ नही कहा, लेकिन कुछ ही दिन बाद वह दिल्ली जा पहुंचे और वहा हकीम अजमल खां, डा. अंसारी, मौलाना मुहम्मद अली और अन्य प्रमुख लोगों से मिले। उन्होंने उन लोगो को भरोसा दिलाया कि यदि कोई राष्ट्रीय शिक्षा सस्था खोली जाए तो एम. ए. ओ. कालेज के बहुतेरे अध्यापक और विद्यार्थी उसे छोड़ वहा चले आएगे। नेताओं को इससे ज्यादा भला और क्या चाहिये था? 29 अक्तूबर 1920 को जामिया मिल्लिया इस्लामिया की

स्थापना हो गई, और देवबद के मौलाना महमूदुल हसन ने अपना अभिभाषण देते हुए उसके लक्ष्यो और आदर्शों पर प्रकाश डाला।[1]

[1] डा. ज़ाकिर हुसैन ने खुद जो बात मुझे सुनाई वह मोटे तौर पर यही है। इस घटना के बारे में एक दूसरा ब्योरा यह है कि समूची योजना के पीछे मौलाना मुहम्मद अली का ही बराबर हाथ रहा और 29 अक्तूबर 1920 को जामिया मिल्लिया इस्लामिया की स्थापना इसलिये की गई कि उन्होंने एम. ए ओ कालेज के अधिकारियो को यह आखिरी फैसला सुना दिया था कि अगर उस तारीख तक उसे राष्ट्रीय सस्था का रूप न दे डाला गया तो एक नई सस्था की स्थापना उस दिन कर दी जाएगी। अधिकांश विद्यार्थी मौलाना मुहम्मद अली के प्रभाव में थे और कालेज को राष्ट्रीय रूप दिये जाने के पक्ष में। उनकी सफलता का कारण यही माना जाता है।

2

तैयारी के वर्ष

जामिया मिल्लिया इस्लामिया कहलाने वाली जमात का काम कालेज की मस्जिद में शुरू हुआ और कुछ अर्से तक यह साफ नही था कि कौन लोग एम. ए. ओ. कालेज मे हैं, जो कि अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय का रूप लेने जा रहा था, और कौन जामिया मिल्लिया में आ गए हैं, क्योंकि सभी लोग एक ही इमारत मे रहते थे। डा. जियाउद्दीन और उनके समर्थकों ने पहले तो कालेज के वद कर दिये जाने का ऐलान कर दिया और छात्रो को घर लौट जाने के लिये राजी करने की कोशिश की। कुछ चले भी गए। जो बच गए थे उनसे भी छुटकारा पाने की नीयत से उन लोगों ने उनके माता-पिताओ को तार दिये कि जल्द आकर वे अपने लडकों को इस मुसीबत से उबारें। इसके वाद उन्होंने उन लोगों को फुसलाने की कोशिश की जो जामिया मिल्लिया मे आ गए थे, और डा. जाकिर हुसैन को नायब तहसीलदार का लालच दिया—यदि वह बागी लोगो का साथ छोड दें। मगर अंत में कालेज के अहाते से बागियों को निकाल बाहर करने के लिए पुलिस बुलवाई गई, जो मार्च करती हुई आ पहुची और जल्दी-जल्दी खड़े किये गए तंबुओ आदि में उन्हे ठहरा दिया गया। जब तक उन लोगों के ठहरने की व्यवस्था पक्की नही हो सकी तब तक अलीगढ शहर से उनके लिए पका-पकाया

खाना मंगवाया जाता था। ये तमाम बातें राष्ट्रीय अखबारों में छपती रहती थीं और आज भले ही ये अजीब-सी लगें, पर उन दिनों उन्हें काफी ज्यादा महत्त्व का समझा जाता था। राष्ट्रीय शिक्षा के इस उद्यम में भाग लेने के लिए समूचे देश से कितने ही जोशीले नौजवान त्याग की प्रचंड भावना और बहुत बड़ी आशा के साथ सम्मिलित हो गए।[1]

22 नवंबर, 1922 को जामिया मिल्लिया इस्लामिया को एक उपयुक्त शैक्षिक और प्रशासनिक रूप दे दिया गया। उसके लिए एक न्यासी-मंडल की, एक कार्य समिति की, जिसे 'सिंडिकेट' का नाम दिया गया, और एक एकेडेमिक कौंसिल (शैक्षिक समिति) की व्यवस्था की गई। उसका सर्वोच्च अधिकारी चांसलर (कुलपति) कहलाया, और उसके बाद के अधिकारी कहलाए वाइस चांसलर (उप-कुलपति), प्रो-वाइस चांसलर (सम-उपकुलपति), फिर कालेज के प्रिंसिपल (प्रधानाचार्य), सेक्रेटरी (सचिव) और रजिस्ट्रार (कुल-सचिव)। हकीम अजमल खां कुलाधिपति निर्वाचित हुए, मौलाना मुहम्मद अली कुलपति, और ए. एम. ख्वाजा, जो कैंब्रिज में जवाहरलाल नेहरू के समकालीन थे, प्रधानाचार्य चुने गए। सारे ही संगठन पर केंद्रीय खिलाफत समिति का आधिपत्य था और वही सारा खर्च उठाती थी। जामिया मिल्लिया के इतिहास में डा. ज़ाकिर हुसैन के नाम का पहले पहल उसकी अध्यापक-मंडली के बीच 4 नवंबर, 1921 को उल्लेख मिलता है, और 24 जनवरी, 1922 को उसकी कार्यसमिति के सदस्यों की सूची में नीचे की ओर दिखाई पड़ता है; प्रकाशनों के प्रधान अधिकारी के रूप में वह शैक्षिक समिति के भी सदस्य थे। विद्यार्थियों को नियमित कक्षाओं में विभाजित नहीं किया गया था। जो विद्यार्थी उच्च स्तर के थे वे निम्नतर स्तर के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, और वे स्वयं, जब भी मौका मिल पाता था, शैक्षिक समिति, कार्य समिति और केंद्रीय खिलाफत समिति के विशिष्ट सदस्यों के व्याख्यान सुनते थे। इन उच्चस्तरीय विद्यार्थियों को खिलाफत और असहयोग आंदोलनों के आदर्शों

[1] श्री इशादुल हक ने, जो उन दिनों विद्यार्थी ही थे, और जिन्होंने एम. ए. ओ. कालेज को छोड़ जामिया मिल्लिया में दाखिला लिया था, मुझे बताया है कि सुभाष चंद्र बोस ने भी, जो तब सी. आर. दास के सचिव थे, जामिया मिल्लिया में आने की इच्छा प्रकट की थी, लेकिन सी. आर. दास ने उन्हें नहीं छोड़ा।

का प्रचार करने के लिए जो कुछ सिखाना जरूरी समझा जाता था उसके लिए करीब एक साल तक छह हफ्ते वाले पाठ्यक्रम चलते थे। फिर वे लोग टोलियां बनाकर देश के भिन्न-भिन्न भागों मे चले जाते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन इस तरह के राजनीतिक कार्यों में शामिल नही होते थे। उन्होंने प्लेटो के 'रिपब्लिक' का जो उर्दू अनुवाद छात्रावस्था मे शुरू किया था उसे अब पूरा कर डाला, और फिर कैनन की 'एलिमेंटरी पोलिटिकल इकानमी' का अनुवाद किया। साधारणत. लिखने-लिखाने की रुचि का उनमे अभाव था, जिससे लगता है कि यह अनुवाद-कार्य उन्होने इसीलिए किया होगा कि और किसी काम में उनकी दिलचस्पी थी ही नही। मुझे याद नही पड़ता कि इस काल के कोई किस्से उन्होंने कभी सुनाए हों, सिवाय इस बात के कि ए. एम. ख्वाजा के भतीजे डा. के. ए. हमीद ने किस तरह उन्हें धकेल-धकाल कर विदेश भेज दिया। जामिया का भाग्य जिन 'लीडरो'[1] के हाथो मे था उनकी मनोवृत्ति और तौरतरीकों के खिलाफ अपनी मुखालफत दिखाने का उनका तरीका था उनके बारे में चुप्पी अख्तियार कर लेना। हकीम अजमल खां शायद इसी वजह से पृष्ठभूमि में चले गये।

इन लीडरो से कुछ साल बाद वास्ता पड़ने पर मैंने इनके बारे में जैसा कुछ जाना उससे यही लगा कि वे लोग, हठधर्मी की अपनी क्षमता के हिसाब से ही ज्यादा या कम मात्रा में, बुद्धि और कर्म के क्षेत्र पर अपना ही एकछत्र अधिकार मानकर चलते थे। यह मनोवृत्ति शायद अनिवार्य भी है, और सराहनीय भी मानी जा सकती है, बशर्ते कि नेतृत्व से अपेक्षित उच्चतम वृत्तियों को निभाने की आकांक्षा को उससे बढ़ावा मिले। लेकिन सचमुच ही वह समाज बड़ा अभागा है जिसके नेता खुद ही यह मान कर चलें कि लोगों की सारी उम्मीदों को वे पूरा

---

[1] 'लीडर' शब्द का इस्तेमाल इस सदी के पहले तीन दशकों मे उर्दू बोलने वाले उत्तर भारतीयों द्वारा ठीक 'नेता' के अर्थ में नहीं किया जाता था। 'लीडर' शब्द से किसी ऐसे नेता का बोध नहीं होता था जो लोगो को किसी लक्ष्य की ओर ले जाता है, बल्कि ऐसे व्यक्ति का जिसने सत्ता, प्रभाव और हैसियत वाले उच्च वर्ग में शामिल समझे जाने का हक हासिल कर लिया है। यह मतलब 'लीडर' से बने 'लीडरी' शब्द से बिल्कुल साफ हो जाता है। 'लीडर' नेतृत्व उतना नहीं करता था, जितना कि 'लीडर' होने की प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों का उपभोग करता था।

कर रहे हैं, और उनके अनुयायियों को उनकी पद-मर्यादा को प्रतिष्ठित रखने के लिए जो भी संभव है सब करना चाहिए। इस काल के अधिकाश मुस्लिम नेताओं को सबसे ज्यादा ध्यान इस बात का नही था, कि जो काम किये जाने को हैं वे हो रहे हैं, बल्कि इस बात का रहता था कि उस दिशा मे चलने मात्र के लिए उन्हे लोगो से कितनी वाहवाही मिलती है। मौलाना मुहम्मद अली जो कुछ सोचते, बोलते या लिखते थे वह मुख्यत अपने ही बारे मे, और खिलाफत आदोलन के जमाने मे उन्हें जो वाहवाही मिल रही थी उसके बीच उनकी उस आत्मश्लाघा की ओर शायद लोगों का ध्यान जा नही पाया। एक लीडर और थे जिनके अदर जरूरी और गैर जरूरी बातो के बीच तमीज करने की काबलियत ही नही थी और इसलिए उनके सारे काम बेतरतीब होते थे। जिन बातो पर फौरन ध्यान देने की जरूरत थी उनका नबर सबसे पीछे आता था, या उन पर विचार करने का मौका ही नही आता था। लीडरो के इस पदानुक्रम मे कुछ और नीचे के स्तर पर ऐसे लोग थे जो सिर्फ इस बुनियाद पर ऊची हैसियत और अधिकार का दावा करते थे कि प्रतिष्ठाप्राप्त नेताओ ने जिन उच्च भावनाओं को जाग्रत किया है उनसे प्रभावित होने की उदारता उन्होने भी दिखाई है। इसी की बिना पर अयोग्यता या अकर्मण्यता का कोई आरोप उनके खिलाफ लगाया ही नही जा सकता था, और अपनी स्थिति उन्होने इस बिना पर और भी मजबूत कर ली थी कि जो लीडर उन्हे इस रास्ते पर लाए थे उनकी ओर वफादार बने रहने के लिए अगर वे प्रचार नही करते रहेंगे तो लोग उनसे विमुख हो जाएगे और आंदोलन में फूट पड जाएगी।

जिन विद्यार्थियों को लेकर जामिया मिल्लिया तैयार हुआ था वह भी भानुमती के पिटारे जैसा ही था। ये लोग नए-नए जोश मे थे जिसे कायम रखने के लिए उनके लीडरो की गरमागरम तकरीरें जरूरी थीं। उनमे से अधिकाश धार्मिकता और इस्लामी जोश मे डूबे हुए थे, अथवा गैर-मुसलमान छात्र होने पर, देशभक्ति के जोश मे। लेकिन उनके दिलो मे जहा आग लगी थी, वहा दूसरी ओर दिमागों मे धुंध छाई हुई थी। चिंतनशीलता करीब-करीब बिल्कुल ही नही थी, और मानसिक सतुलन का भी अभाव था। ऐसा लगता था कि जोश मे आ जाने पर तो ये लोग कुछ भी कर डालने पर आमादा थे, लेकिन वैसे कुछ भी नहीं। फिर भी, उन लोगो के बीच भी, कुछ-एक ऐसे लोग मौजूद थे ही, जो अपने

उत्साह की खुराक अपने अंदर से ही लेते थे और सख्तियों और विफलताओं को झेलने की क्षमता रखते थे। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे शफीकुर्रहमान किदवई। 1920 मे वह बी. ए. के अंतिम वर्ष के विद्यार्थी थे; बड़े ही आराम-तलब मिजाज के, और पोशाक और खाने-पीने के मामलो मे बड़े शौकीन और तुनुकमिजाज। जब यह नई हवा आई तब उन्होंने अपने विदेशी कपड़े आग के हवाले कर दिये और मोटा खद्दर पहनने लगे। अब तक जो नौजवान झेंपू और चुप्पा-सा था, वह एकबारगी ही एक पक्का राजनीतिक वक्ता बन बैठा। उसके चरित्र की अंतर्जात उच्चता और धीरज, और अध्यवसाय के साथ काम मे लगे रहने की क्षमता का सहसा ही आविर्भाव दिखाई दिया। खिलाड़ी तो वह था ही; वह गा सकता था, हंस सकता था, दूसरो को प्रोत्साहित कर सकता था और उन्हें सांत्वना भी दे सकता था। उसका आचरण भरोसा पैदा करने वाला था, मुस्कान लुभाने वाली थी। शैक्षिक कार्यक्रम की नीरसता उसके लिए उबाने वाली थी और उसकी जोशीली प्रकृति और स्फूर्ति ने शीघ्र ही उसे राजनीति मे सक्रिय भाग लेकर जेल जाने के लिए मजबूर कर दिया। वह वेल्लोर मे राजाजी के साथ-साथ जेल मे था, और उसकी नम्रता, उसके आकर्षक स्वभाव और अपने बड़ो की सेवा करने की इच्छुकता ने राजाजी को उसका प्रशंसक बना दिया। एक दूसरा, और दूसरे ही ढंग का, उदाहरण हमे डा. के. ए. हमीद के रूप मे मिलता है। वह इलाहाबाद में विज्ञान के विद्यार्थी थे, और जोश में आकर अपने विश्वविद्यालय को छोड़ा उन्होंने जरूर इसीलिए था कि जामिया मिल्लिया में आकर पढ़ाई जारी रखें, पर उनके अंदर की जो ठोस यथार्थवादिता, कल्पनाशक्ति तथा संगठन-क्षमता बाद को उनके बड़े काम की सिद्ध हुई उसने उन्हे ज्यादा दिन यहां टिकने नही दिया, क्योंकि उनकी प्राकृतिक विभूतिया इस नए परिवेश मे कोई अभिव्यक्ति नही पा सकी। उन्होंने और भी आगे पढ़ाई जारी रखने के लिए विदेश जाने का निश्चय कर डाला, और अपने दोस्त डा. जाकिर हुसैन को भी न सिर्फ ऐसा करने के लिए, बल्कि उनसे भी पहले वहा चले जाने के लिए, मजबूर कर दिया।

दिसंबर 1968 मे डा. हमीद के 70वें जन्मदिन के अवसर पर उनको याद करते हुए डा. जाकिर हुसैन ने कहा था कि "वह थे ही ऐसे, कि उन्होंने मुझे अपने अधिकार मे ले लिया—मेरे वर्तमान को भी और भविष्य को भी। उन्होंने

फैसला किया कि आगे की पढ़ाई के लिए मुझे जर्मनी जाना चाहिए। मेरे एतराजों का, मेरी कठिनाई का, मेरे जज्बात का मानो कोई अस्तित्व ही नहीं था। फैसला उनका था, इसलिए मुझे जाना ही था। बच निकलने की कोई सूरत नहीं थी। उन्होंने मेरे सफर की सारी व्यवस्था की, और जहाज में ऐरिस्टन के साथ मैं चढ़ जाऊं इसकी खातिर बंबई तक मेरे साथ गए। और बंबई में कुछ दिन का जो साथ रहा उस बीच वह मुझे सभ्यतापूर्वक रहने की मूलभूत बातें सिखाते रहे—किस तरह कपड़े पहनना, किस तरह छुरी-काटे से खाना, और, आमतौर पर वे सारी ही बातें जो यूरोप में रहने के लिए जरूरी हैं। उन्होंने जो कुछ सिखाया वह मैं सिर्फ इसलिए नहीं भूल सका कि मेरे अंदर स्वस्थ प्रकार का यह भय बैठ गया था कि मैं उन्हें कहीं किसी तरह का सदमा न पहुंचा दूं, और मुझे यकीन है कि उन सारे इम्तिहानों को बिना किसी बड़ी गलती के पास कर गया।"

डा. जाकिर हुसैन का पासपोर्ट इंगलैंड की यात्रा के लिए ही था, पर उनकी योजना कुछ और ही थी। वह योजना कब बनी यह स्पष्ट नहीं है। ट्रियेस्टे में ही उन्होंने जहाज छोड़ दिया और आस्ट्रिया होते हुए जर्मनी जा पहुंचे, जहां उन्हें पर्यटकों वाला एक विजा मिल गया। सरोजिनी नायडू के बड़े भाई वीरेंद्रनाथ चटोपाध्याय की मध्यस्थता से, जिन्हें कि उनके दोस्त लोग चट्टो कहते थे, इस विजा का काल जर्मन परराष्ट्र विभाग द्वारा बढ़ा दिया गया। पासपोर्ट को भी बाद को उचित समर्थन प्राप्त हो गया, किंतु पंजीकरण के लिए पुलिस दफ्तर में उनकी यात्रा के प्रमाणस्वरूप जितनी भी मोहरें उस पर लगी हैं उनसे यही प्रकट होता है कि वे उनकी रिहाइश के अनुमति-पत्र नहीं थे।

डा. जाकिर हुसैन की पूरी तस्वीर मेरे सामने बर्लिन के निरट श्लास्तेंजे में श्वानर-परिवार के घर पर उभर कर आई जहां कि डा. आबिद हुसैन और मैं अपना खर्च देने वाले मेहमानों के तौर पर रह रहे थे। लंबा-चौड़ा पूरा कद, न ज्यादा हृष्ट-पुष्ट और न ही थलथले, बाल किसी हद तक घुंघराले और कटी-छंटी दुरुस्त दाढ़ी। किंतु इन बारीकियों की ओर तो बाद को ही ध्यान जा पाया था। सबसे ज्यादा ध्यान खींचने वाली तो उनकी आंखें थीं जिनके अंदर रहस्यभरी गहराइयां थीं और जिनकी अपनी एक अलग ही जबान थी जो चिंतन और भाव के उच्चतम स्तरों पर गुफ्तगू करने का न्योता देती थी। उनकी मुस्कुराहट उन लोगों को मानो माफी दे रही होती थी जो उनकी आंखों के संदेश को न तो पढ़

ही सकते थे और न समझ हो। जबान का नंबर अंत में आता था। दरअसल उसके पीछे यह बोध स्पष्ट था कि जबान खोलना इसीलिए जरूरी हो जाता है कि आमतौर पर लोग आंखों की भाषा पढ़ने में असमर्थ रह जाते हैं, पर यह बोध भी इतना अधिक स्वैच्छिक और आह्लादपूर्ण होता था कि उनके साथ होने वाला वार्तालाप अत्यंत आकर्षक हो उठता था और अक्सर वे कवि-श्रोता को मंत्रमुग्ध-सा कर लेते थे। उनकी बौद्धिक स्फूर्ति के सुस्पष्ट प्राचुर्य के साथ उनकी शारीरिक निश्चेष्टता का कोई मेल नहीं दिखाई देता था। थकाने वाली जिन छोटी-मोटी हरकतों के बिना काम चलाया जा सकता था उनसे अपने को बचाने का और दूसरों को अपनी मदद के लिए उकसाने का उनका एक कारगर तरीका था असहायता की मुद्रा बनाए रहना, जो उनके संपूर्ण व्यक्तित्व से इतनी बेमेल दिखाई देती थी कि वह मनोरंजन का स्रोत बन जाती थी; यह एक ऐसा जाल था जिसमें मेरे जैसे असावधान लोग बार-बार फंस जाते थे। मुझे लगता था कि अपने ऊंचे डीलडोल और मर्यादाबोध के बावजूद उन्हें सचमुच किसी ऐसे आदमी के सहारे की जरूरत रहती थी जो उनका हाथ पकड़े रहे और उनके साथ-साथ घूमता फिरे; यह तो मैं बाद को ही जान सका कि उनके अंदर मनुष्यों और परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए उन बहुतों के मुकाबले कहीं ज्यादा साहस, कहीं अधिक पहल और कहीं अधिक योग्यता थी जो खुद ही अपने अंदर इन गुणों का दावा करते रहते हैं।

डा. ज़ाकिर हुसैन कोई डायरी नहीं रखते थे। व्यवस्थित जीवन के प्रति उनके अंदर एक वितृष्णा थी जो संभवतः अलीगढ़ में पढ़ते समय उनके अंदर आ गई थी, और जिसे वह दूर नहीं कर सकते थे। यों दूसरों के अंदर व्यवस्था की भावना के वह प्रशंसक थे और अध्यापक रहते उसका गुणगान करते थकते नहीं थे, लेकिन जब अपना सवाल आता था तो ऐसा लगता है कि वह उन्हें अपनी स्वाधीनता पर एक कष्टप्रद बंधन जैसा ही जान पड़ता था। यह बात उनकी खामी बन कर ही लोगों के सामने आती—अगर पांच मिनट के लिए भी उनके साथ बातचीत होते ही वे यह न भांप लेते कि उनके लिए स्वाधीनता का अर्थ था बुद्धि और कल्पना का एक ही साथ सभी दिशाओं में किसी भी क्षितिज की ओर, उससे परे भी, निरंतर बढ़ते जाना। स्वभावतः डा. ज़ाकिर हुसैन न तो कोई डायरी ही रख सकते थे और न पूर्व योजना के अनुसार अपने कार्य ही निर्धारित

कर सकते थे। वह एक ही साथ इतनी दिशाओं में सफर करते रहते थे कि वह सिर्फ आगे की ही ओर देख सकते थे।

उनके कार्यकलाप का कालानुक्रम के हिसाब से कोई विवरण पेश करना भी निरर्थक ही होगा, क्योंकि प्रायः सभी मौकों से पूरा फायदा उठाने की प्रेरणा ही उन्हें आगे बढ़ाती थी। विदेशों में जाकर पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थी पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाते हैं अगर उनके अपने निबंध, शोध-प्रबंध अथवा थीसिस प्रकाशित हो जाए। डा. जाकिर हुसैन ने गालिब के 'दीवान' का एक संस्करण सिर्फ इसलिए प्रकाशित करा डाला कि बर्लिन में एक ईरानी छापाखाना था जिसमें फारसी के बड़े अच्छे टाइप थे। उन्होंने उसके मालिक और फोरमैन से परिचय प्राप्त किया, उन्हें इस काम के लिए तैयार किया, और छापेखाने में कम्पोजिटरों की कमी होने की वजह से कुछ-कुछ यह काम भी खुद किया। फिर उन्होंने जिल्द-साजों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठानों में से भी एक के मालिक से परिचय प्राप्त किया। आखिर 'दीवान' का एक ऐसा जेबी संस्करण प्रकाशित हो गया जो तब तक के ऐसे संस्करणों में करीब-करीब सर्वश्रेष्ठ था। इसका खर्च उठाने के लिए उनके पास जो भी नकद रकम थी उसका अधिकांश हिस्सा तो उसमें खपा ही दिया, साथ ही डा. आबिद हुसैन से और मुझसे भी जितना कर्ज पा सके लिया। हम सभी को इस बात के लिए राजी हो जाना पड़ा कि जामिया का प्रकाशन विभाग, मकतबा, जिसके फायदे के लिए ही यह काम हाथ में लिया गया था, धीरे-धीरे इस रकम को चुका ही देगा, और यह कोई बुरी व्यवस्था नहीं है। इस प्रयास के कारण उन्हें और उनके दोस्तों को जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनसे उनके कदम नहीं रुके, बल्कि एक-दूसरे मौके पर भी वैसा करने से वह नहीं चूकें। हेर श्वानर, जिनके साथ ही हम लोग रह रहे थे, प्रारंभिक पाठशालाओं के शिक्षकों के लिए एक पत्रिका प्रकाशित करते थे। उनके दामाद डा० एहरेन-ट्राइख अंग्रेजी अच्छी तरह जानते थे। डा. जाकिर हुसैन को लगा कि गांधी जी पर जर्मन भाषा में एक किताब प्रकाशित होनी चाहिए। उन्होंने और डा. एहरेन-ट्राइख ने मिल कर यह किताब लिख डाली और 'बोट्शाफ्ट देश महात्मा गांधी' प्रकाशित हो गई। इस बार भी उन्होंने अपने दोनों दोस्तों को अपनी सारी रकम इस उद्यम में लगा देने के लिए राजी कर लिया, लेकिन प्रकाशकों से उन्होंने इस रकम की वापसी के बारे में कोई बात नहीं की, क्योंकि वे लोग भी

दोस्त ही थे और मुद्रास्फीति ने उन्हें बड़ी चोट पहुंचाई थी। प्रकाशको का खयाल यह था कि उस प्रकाशन की मद मे जो रकम उन्हे दी गई थी वह उनकी ओर से दिया हुआ दान था जिसे लौटाना नही था, और डा. ज़ाकिर हुसैन शिष्टाचार वश उनकी उस गलतफहमी को दूर नही कर पाए। नतीजा जो हुआ उसका अंदाज आसानी से लगाया जा सकता है।

पुस्तक-प्रकाशन का कार्य विद्या-संबंधी कार्य है, न कि पशु-पालन व्यवसाय। लेकिन इसमे डा. ज़ाकिर हुसैन की दिलचस्पी पैदा करने वाले थे स्वीडेन निवासी एक पीटर्सन साहब जो श्वानर परिवार के कुछ काल तक अतिथि रहे थे और जिन्होने डेनमार्क और स्वीडेन मे होने वाले पशुपालन तथा दुग्ध-व्यवसाय के बारे मे बहुत कुछ बताया था। अक्तूबर 1924 मे डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनके साथ इन देशों का भ्रमण किया। इस शौक को पूरा करने के लिये कितना खर्च करना पड़ेगा इसका हिसाब लगाने की दोनों में से किसी मे भी न कोई इच्छा ही थी और न क्षमता ही, जिसका नतीजा यह हुआ कि स्टाकहोम में जब वे दोनो किसी होटल मे ठहरे हुए थे तब उसके बिलो का भुगतान करने के लिये उनकी जेबें खाली थीं। सौभाग्य से पीटर्सन यह जानते थे कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने महात्मा गाधी पर एक लेख लिखा था; संभव है, कोई अखबार उसे छापने के लिये राजी हो जाए। डा. ज़ाकिर हुसैन ने लेख तैयार किया, पीटर्सन ने उसका अनुवाद कर डाला, और एक अखबार ने उसे डा. ज़ाकिर हुसैन के फोटो के साथ छाप भी दिया। पारिश्रमिक की रकम काफी थी जिसकी बिना पर वह जर्मनी वापस लौट सके। उस अखबार की एक प्रति उन्होने मुझे दी थी जिसे मैंने बरसो तक रखा।

स्टाकहोम मे वह जिस तगी की हालत में थे वैसी ही जरूरत यदि जर्मनी मे भी पैदा हो गई होती तो शायद जर्मन अखबारो के लिये भी उन्होंने लेख लिख डाले होते। उन दिनों जर्मनो की भारत में गहरी दिलचस्पी थी, और डा. ज़ाकिर हुसैन के लेख अखबारी लेखो के मुकाबले कही ज्यादा महत्त्वपूर्ण होते, क्योंकि राज-नीति और सस्कृति के अधिक गभीर मसलों की उनकी पकड़ अच्छी थी। मुझे याद है कि एक मौके पर उन्होने अपने एक भाषण मे जर्मनो को चेतावनी दी थी कि उन नई ताकतो के सामने वे न झुकें जो कि उनकी संस्कृति को क्षति पहुंचा सकती हैं। इस भाषण का एक नतीजा यह हुआ कि एक जर्मन व्यवसायी का

उन्हें एक खत मिला जिसमें उसने उनकी उन बातों के लिये कृतज्ञता प्रकट की थी और यह जानना चाहा था कि क्या वह किसी रूप में उनके या उनके देश के काम आ सकते हैं। मुझे याद है कि मैंने वह खत पढ़ कर उनसे पूछा था कि इसका किस तरह का जवाब दिया जाए। जवाब में उन्होंने सिर्फ अपने कंधे उचका दिये, जिसका मतलब ही था कि इस बारे में और कुछ करने को नहीं है।

विदेश जाने में डा. जाकिर हुसैन का प्रधान उद्देश्य था अर्थशास्त्र में पी-एच. डी. की डिग्री लेना। वहां उनके शिक्षक थे जर्मनी के प्रमुख अर्थशास्त्री वेर्नर जोवार्ट और जेहरिंग। जोवार्ट के वह विशेष रूप से प्रशंसक थे, जो किसी दार्शनिक और किसी इतिहासकार की भांति लिखते और बोलते थे और विनोदपूर्ण शैली के उस्ताद थे। लेकिन ऐसी काबलियत वाले अध्यापक भी उन्हें सिर्फ एक ही विषय तक सीमित नहीं रख सके। किसी प्राचीन भाषा के नाते अरबी तो उन्हें पढ़नी ही पड़ती थी, साथ ही दर्शन और शिक्षाशास्त्र के विषय भी उन्होंने ले रखे थे। उनकी थीसिस का विषय था भारत में अंग्रेजों की भूमि संबंधी नीति, और इनसे संबद्ध मूल दस्तावेजों का इंडिया आफिस लाइब्रेरी और ब्रिटिश म्यूजियम में अध्ययन करने के लिये वह लंदन भी गए। वहां उन्होंने कितनी ही और भी किताबों को उलट-पलट डाला होगा। लेकिन यह सब कुछ तो शिक्षाशास्त्र के दर्शन में उनकी दिलचस्पी की वजह से मानो राह-चलते हाथ लग गया। मुझे नहीं मालूम कि केर्शेंस्टाइनर से उनका व्यक्तिगत रूप में परिचय हुआ था या नहीं, लेकिन उनकी कृतियों का उन्होंने गहन अध्ययन किया था, और साथ ही रिकेर्ट, डिल्थेई और श्लियरमाखर की भी कृतियों का, और उन्हें यह लगा कि उनके अंदर उसी शिक्षा-पद्धति का स्पष्टीकरण है जिसका प्रतिपादन इस्लाम और अन्य सभी वास्तविक संस्कृतियों में किया गया है और जिसमें अच्छे समाज का ही आदर्श निहित है। उन्होंने स्प्रेंगर का भी अध्ययन किया जो शिक्षाशास्त्र तथा मनोविज्ञान में उस मत का प्रमुख प्रतिपादक है जिसे बुद्धि का दर्शन कहा गया है। जर्मन विद्वत्ता ने उन पर बड़ी गहरी छाप डाली थी, लेकिन विद्वत्ता के क्षेत्र से बाहर जाकर उन्होंने उन विचारों और संस्थाओं का भी अध्ययन किया था जो महायुद्ध के बाद चिंतन तथा जीवन की संपूर्ण पद्धति को एक अधिक स्वस्थ दिशा देने की आकांक्षा से उत्पन्न हो गये थे। वह कई ऐसे शिक्षाविदों से भी मिले जिन्होंने प्रयोगात्मक विद्यालय खोल दिये थे, और ऐसे

कुछ विद्यालयों में गए भी। उनमें से अधिकांश तभी तक कायम रह सके जब तक कि उनके संस्थापक-शिक्षकों के बीच मतैक्य बना रहा, और जब उनके बीच मत-भेद उत्पन्न होने लगे तो धीरे-धीरे उनका लोप होने लग गया। केवल वाल्डोर्फ़ स्कूल ही ऐसे थे जो कायम रहे।

विश्वविद्यालय से पृथक बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों से संबद्ध कार्यों में डा. ज़ाकिर हुसैन का मार्ग सुगम करने में गेर्डा फिलिप्सबार्न से बड़ी मदद मिली थी। पहलेपहल उनसे हमारी मुलाकात चट्टो की सबसे छोटी बहन श्रीमती नंबियर द्वारा आयोजित होने वाली उन सांध्य गोष्ठियों में से एक में हुई थी जिनका उद्देश्य था सही किस्म के जर्मनों और भारतीयों को एक साथ एकत्र होने का अवसर देना। फिर श्रीमती नंबियर ने इन गोष्ठियों का आयोजन करना बंद कर दिया। और हमारे सामाजिक जीवन में शून्यता आ गई। मुझे याद है कि एक ऐसी ही शाम को मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के पास था जब कि अचानक ही वह अकेलापन महसूस करने लगे थे। उन्होंने श्रीमती नंबियर को फोन करके जानना चाहा कि उनकी अगली गोष्ठी कब होने वाली है, और उनका जवाब सुनकर इस कदर खीज उठे कि मुझसे यह बोले कि वह उन्हें यह दिखाकर रहेंगे कि कम-से-कम उनका काम उनके सगसाथ के बगैर जरूर चल सकता है। "तो फिर श्रीमती फिलिप्सबार्न को ही क्यों न फोन कर देखा जाय?"—उन्होंने मुझसे पूछा। "क्या आपका खयाल है कि उनके साथ हमारी जान-पहचान इस हद तक है?"—मैंने जवाब दिया। "देखा जाए—" वह बोले, और उसी दम उन्हें फोन कर बैठे। वह घर पर ही मौजूद थी और बोली कि उन्हें उनसे मिल कर खुशी होगी। यह एक ऐसी मित्रता की शुरुआत थी जिसकी गहराइयों का कोई भी अंदाज नहीं लगा सकता था और जो 1943 में गेर्डा फिलिप्सबार्न की जामिया मिल्लिया में ही मृत्यु होने तक कायम रही।

वह बर्लिन के एक संपन्न यहूदी परिवार की महिला थी। उनके शौक बड़े ही व्यापक थे और प्रमुख शिक्षाविदों, संगीतज्ञों, वाद्यवृंद-संचालकों, नाट्यकारों तथा चित्रकारों में से अनेक के साथ उनका व्यक्तिगत परिचय था। उन्होंने विवाह क्यों नहीं किया यह मैं कभी न जान सका, और न मैंने कभी यह पूछा ही। उनके अंदर भावुकतापूर्ण उल्लास का प्राचुर्य था, और साथ ही उनके पास धन और हैसियत थी। डा. ज़ाकिर हुसैन और उनकी दिलचस्पियों के बारे में जब से उनकी

जानकारी बढी थी तबसे तो वह उनके लिये सब कुछ करने के लिये तैयार रहती थी। उनके साथ डा. ज़ाकिर हुसैन ने उच्च-से-उच्च कोटि की चीजें देखी। सगीत-गोष्ठिया, गीति-नाट्य, नाटक, कला-प्रदर्शनिया, स्कूल लेकिन दोनो की ही जिदगिया यो बिलकुल अलग-अलग थी। डा ज़ाकिर हुसैन के अदर उनके प्रति कोई भावुकतापूर्ण आसक्ति नही जान पडती थी, और उनके साथ जब वह वार्त्तालाप मे मग्न रहते थे तब, जब भी उसमे शरीक होने का मुझे भी मौका मिला, मुझे यही लगा कि इस प्रकार की किसी आसक्तिके विरुद्ध उनकी आग्रहपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का ही यह एक उदात्त और बौद्धिक रूप था।

डा ज़ाकिर हुसैन से इस बारे मे कोई पूछताछ किये बिना ही मैं बरसो तक इस रोमानी दोस्तियो के बारे मे उनके दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करता रहा। मुझे लगता है कि इस मामले मे उनका आचरण इस्लाम की 'हया' वाली भावना से नियमित होता था। इसे सिर्फ शर्म नही कहना चाहिये, बल्कि इसके अदर अन्त करण के वे सभी आदेश समाविष्ट हैं जो आचरण को शालीनता और औचित्य के उच्चतम स्तर पर पहुचा देते हैं और किसी निम्नतर स्तर पर उतरने से रोक देते है। मुस्लिम परपरा के अनुसार हया का तकाजा यह है कि औरतो का सग-साथ तो दूर रहा, उनकी ओर नजर उठा कर देखना भी नामुनासिब है, और इस परपरा ने अगर असामाजिक नही तो अप्रिय प्रवृत्तियो के विकास मे तो मदद की ही है। डा. ज़ाकिर हुसैन का लालन-पालन हालाकि इसी परपरा मे हुआ था और यूरोप जाने से पहले तक स्त्री-पुरुषो के मिले-जुले समाज का अनुभव उन्हे नही हुआ था, फिर भी वह इस तरह के मिले-जुले समाज मे बिलकुल सहज रूप मे रह सकते थे। उन्होंने जल्द ही यह जरूर भाप लिया होगा कि उनका जैसा व्यक्तित्व सुसस्कृत यूरोपीय महिलाओ के लिये आकर्षक है। और केवल सुसस्कृत महिलाओ के लिये ही नही, 1924 के बर्लिन के मई दिवस की एक मजेदार घटना मुझे याद है। दरख्तो और झाड़ियो मे एक नई जिंदगी खिल उठी थी; प्रकृति की छटा लुभावनी थी और सभी को आनदोत्सव मनाने के लिये प्रेरित कर रही थी। नामुमकिन था कि रोजमर्रा के काम मे घर पर ही दिन गुजार दिया जाए। हममे से चार या पाच स्टाइटबान के स्टेशन आम्त्सा मे इकटठे थे। वसत ऋतु का प्रभाव सबसे ज्यादा डा. जाकिर हुसैन पर ही दिखाई दे रहा था। वह खुले गले वाली एक कमीज पहने थे, दाढी सलीके से कटी-छटी थी और

हवा को उन्होंने अपने सिर के बालों के साथ छेड़खानी करने की आजादी दे रखी थी; उनकी आंखों में एक रोमानी नूर था। हम सभी कहीं निकल जाना चाहते थे, और जब किसी जगह के बारे में फैसला नहीं हो पाया, तब हम लोग वर्जे के लिये ट्रेन में सवार हो गए जहां झीलें थी, और जंगल। ट्रेन में खड़े रहने भर की ही जगह मिल पाई, और डा. ज़ाकिर हुसैन दरवाजे पर थे। किसी उपनगर वाले स्टेशन पर कुछ श्रमजीवी लड़कियों की एक टोली दिखाई दी जो किसी रेलगाड़ी के या अपने दोस्तों के इंतजार में थी। उनकी नजर डा. ज़ाकिर हुसैन पर पड़ी, और अपनी आदत के मुताबिक उन्होंने अपनी खिलखिलाहट से उनका ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा। जवाब में जब वह मुस्कुराए तक नहीं, तब वे लड़कियां और भी जोर से खिलखिलाने लगीं। मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के नजदीक ही खड़ा था और उनके चेहरे पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है, देख रहा था। उनकी आंखों में समझदारी वाली एक चमक थी, और साथ ही झुंझलाहट और असहायता वाले भाव; और रेलगाड़ी जब उन लड़कियों के सामने से होकर गुजरी तो उन्होंने फ्रांसीसी रंगमंच की उत्कृष्टतम अदा में उन लड़कियों की ओर एक चुंबन उछाल दिया।

गेर्डा फिलिप्सबार्न के अलावा भी कई अन्य महिलाएं उनकी मित्र थीं। कभी-कभी मैं यह कह कर उन्हें चिढ़ाता था कि अपनी महिला-मित्रों की संख्या में वह गेटे की बराबरी करने लगे हैं, और जिनके बारे में मुझे जानकारी थी उन्हें गिनाना शुरू कर देता। अपने उस वक्त के मिजाज के हिसाब से कभी वह अपनी भौंहें चढ़ाकर इंकार करते, और कभी मेरी सूची में कोई नाम और जोड़ देते। उनकी अधिकांश मित्र-महिलाएं यहूदी थीं। उनमें से एक, फ्रालाइन हेल्न अनिश्चित उम्र वाली एक अविवाहिता महिला थी—तीस से ज्यादा चालीस के करीब। बड़ा सिर था, और उस पर ढेर सारे बाल। कुछ झुक कर चलती थी, शायद ज्यादा भारी होने की वजह से। उनकी आंखें भी बड़ी-बड़ी और काली थीं, जिनसे सदियों के भोगे हुए कष्ट और दुःख झलकते रहते थे, बल्कि और भी आगे आने वाले दुःख। उनकी ओर आंखें उठा कर ताकने के लिये मुझे हिम्मत करनी पड़ती थी, और मुझे याद नहीं कि उनसे मेरी कभी कोई बात हुई हो। किंतु डॉ. ज़ाकिर हुसैन के प्रति उनका आत्म-समर्पण इस सीमा तक था कि हर वक्त वह यही सोचती रहती थी कि उनके लिये वह और क्या कर सकती हैं। इनकी थीसिस

का उन्होंने ही अनुवाद किया और उसे खुद ही टाइप भी करके तैयार कर डाला; और इसके अलावा भी कितने ही फुटकर काम। इसके सिवा वह और कर भी क्या सकते थे, पर स्पष्ट ही उनकी निगाह में सिर्फ उतना काफी नहीं था। और यह सोच कर भी तो वह कोई सांत्वना नहीं पा सकते थे कि जिसके दिल के दर्द का कोई इलाज नहीं था उसमें बेचैनी नहीं तो नहीं थी।

जान पड़ता है कि जर्मनी में बिताए गए तीन साल, कई बातों में डा. ज़ाकिर हुसैन की जिंदगी के सबसे ज्यादा खुशी के साल थे। कोई जिम्मेदारियां नहीं थीं सिर पर; किसी नियमित दिनचर्या का बंधन नहीं था। उन्हें यही महसूस होता था कि वह ऐसे लोगों के बीच रह रहे हैं जो लड़ाई में अपना सबकुछ गंवा देने के बाद सारी कमियों को पूरा कर डालने के लिये संघर्ष कर रहे हैं। अपनी समस्याओं का उन्हें भान था, दूसरों के विचारों को सुनने का आग्रह था, और नए-नए आविष्कार करने, नया सृजन करने, के लिये तो वे जैसे दीवाने हो उठे थे। छोटी-से-छोटी बातों पर ध्यान देने के प्रति वे अत्यंत सतर्क थे, और इसी बुनियाद पर उन्होंने पूर्णता की अपनी परिकल्पना को गढ़ा लिया था। कड़ी मेहनत करते वे थकते नहीं थे, कर्तव्यनिष्ठा के साथ अपना काम करना उन्हें आत्मानुभूति का सर्वोच्च रूप दिखाई देता था। उन वर्गों के बीच जिन लोगों ने जर्मन जीवन का अध्ययन किया था उन्होंने उनके इन्हीं पहलुओं को प्रधानता जरूर नहीं दी होगी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि जर्मन लोगों के अंदर अपने पूर्वमान्य मूल्यों के प्रति संदेह उत्पन्न हो गए थे और अपने विचारों को दूसरों पर लादने की जगह वे अपने ही मानव-क्षितिज को व्यापक बनाने के लिये अधिक आतुर हो उठे थे। गांधी जी पर लिखी रोमां रोलां की किताब की बिक्री अभूतपूर्व संख्या में हुई थी, और दुरुस्त दिमाग वाले करीब-करीब हर भारतीय छात्र ने उन दिनों जर्मनों के अंदर भारत के बारे में और भी ज्यादा जानकारी हासिल करने की लालसा पाई, दरअसल यह लालसा आत्मान्वेषण के लिये भी थी और उच्चतर मूल्यों की खोज के लिये भी थी डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे सूक्ष्मग्राही भारतीय के लिये यह असंभव था कि वह उस बौद्धिक उत्तेजना से और अविराम गति से चलने वाले उस बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियाकलाप से प्रभावित हुए बिना रह जाते। गालिब की तरह उन्होंने भी महसूस किया होगा :

हजारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पे दम निकले,
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।

उन्होंने एक नया ही दृष्टिकोण प्राप्त किया; अपनी कल्पना को पूरी छूट देना सीखा; उनके अंदर भी यह लालसा जगी कि अपनी दुनिया को भी एक बेहतर नमूने पर गढ़ें, मानव व्यक्तित्व को महज नकलची और गुलाम बनने देने की जगह उसे अपनी नई दुनिया गढ़ने वाला बनाए, जो सांस्कृतिक साधन अब तक उपेक्षित ही पड़े रहे हैं उनका उपयोग अपने जीवन को अधिक समृद्ध करने में करें। उन्हें उस असंतोष और अधीरता की भी छूत लग गई जिनके बीच ही आमतौर पर नया कुछ गढ़ने की प्रवृत्ति पैदा होती है, लेकिन उस वक्त पड़े बीजों में से कई तो बाद को ही अंकुरित हुए जबकि उन्होंने अपने ही देश में शिक्षा संबंधी अपनी धारणा का प्रचार करना शुरू किया।

लेकिन आकाश में चिंता के भी बादल उठते दिखाई दे रहे थे। लग रहा था कि जामिया मिल्लिया का विघटन शुरू हो गया है। राष्ट्रवादियों के खिलाफ सरकार ने जब कार्रवाई शुरू की, तो मौलाना मुहम्मद अली और कई अध्यापक और छात्र जेल में बंद कर दिये गए। यदि इतने तक ही रहता तो यह धक्का अल्पस्थायी ही होता। लेकिन फरवरी, 1922 में असहयोग आंदोलन भी स्थगित कर दिया गया; उसी साल सितंबर, में तुर्कों ने अनातोलिया से यूनानियों को खदेड़ दिया और सेव्रे की संधि महज कागज का एक टुकड़ा बन कर रह गई। फिर, तुर्की राष्ट्रीय सभा ने खलीफा के अधिकारों को सीमित करना शुरू कर दिया, और अंत में, 1924 में, खिलाफत का ही खात्मा कर दिया। मौलाना मुहम्मद अली को इतनी ज्यादा तकलीफ हुई कि खिलाफत के सवाल पर भारतीय मुसलमानों के एक प्रतिनिधि-मंडल से मिलने की इजाजत के लिए उन्होंने कमाल अता-तुर्क को तार भेजा, मगर उन्हें कोई जवाब तक नहीं मिला, और ख़िलाफत कमेटी ने तुर्की को जो धन भेजा था उसका इस्तेमाल, जैसा कि मुझे बाद को हालिदा अदीब हानूम से मालूम हुआ था, अता-तुर्क ने अपनी पार्टी को तैयार करने पर खर्च कर डाला। अब न तो खिलाफत कमेटी के कायम रहने की और न ही लोगों को इसके लिए चंदा देने की कोई वजह बाकी बची थी। खिलाफत कमेटी से मिलती रहने वाली रकम ही जामिया मिल्लिया की आमदनी का एकमात्र जरिया था, और यह रकम पूरी तरह बंद होने से पहले भी घटती चली आ रही थी। आखिर जामिया

मिल्लिया दिवालिया हो गया। मौलाना मुहम्मद अली अपनी साफ राय जाहिर कर ही चुके थे कि अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय पर उनका कब्जा जब नही हो सका तो उसकी जरूरत तभी खत्म हो गई, दूसरे लीडर भी देश मे फैली हुई कुंठा और निराशा के रोग से ग्रस्त हो गए। लेकिन अधिकारियों मे से हकीम अजमल खां और ए. एम. ख्वाजा, और अध्यापको और ऊचे दरजो मे के छात्रो में से जो कट्टर लोग थे वे जामिया मिल्लिया के प्रति अपनी निष्ठा में अडिग रहे आए और खिलाफती लीडरो के निराशावाद के शिकार नही हुए। 29 जनवरी, 1925 को जामिया मिल्लिया की संस्थापना समिति की जो बैठक हुई उसमे गाधी जी मौजूद थे, और उनसे समर्थन प्राप्त होने की बात से प्रोत्साहित हो हकीम अजमल खा उसे अलीगढ से दिल्ली ले आए जहा करौल बाग मे, जो कि उस जमाने मे पुराने शहर का एक उपेक्षित-सा उपनगर ही था, उसके लिए जगह मिल गई।

जामिया मिल्लिया के बिगड़ते हुए हालात के बारे मे डा जाकिर हुसैन को जरूर ही खबर दी गई होगी। मेरे साथ, या मेरी मौजूदगी मे औरो के साथ, उनकी जो बातचीत हुई उससे यह जाहिर नही हुआ कि उसकी सेवा के लिए वह वचनबद्ध थे। राजनीतिक मामलो पर वह ज्यादा बात नही करते थे, सिवा शायद चट्टो के साथ, जो जर्मनी स्थित अन्य सभी भारतीयो की ही तरह उन्हे भी कम्युनिज्म का हामी बना लेना चाहते थे। इन सारी बातचीतो के दौरान हमेशा ही ऐसा लगा कि वह गाधी जी के अहिंसात्मक तरीको के ही हामी थे, जैसा कि मुझे ऐसी बातचीतो मे अक्सर शामिल रहने वाले एन जी. गनपुले से मालूम हुआ है। लेकिन 1925 के शुरू-शुरू मे एक दिन जामिया मिल्लिया को लेकर उनके और डा. आबिद हुसैन के बीच एक गभीर बातचीत हुई, जो मैं भी सुन रहा था। डा. जाकिर हुसैन बोले कि चाहे जो भी हो, वह तो जामिया मिल्लिया मे ही काम करने का फैसला किए बैठे हैं। डा. आबिद हुसैन भी उनका साथ देने के लिए तैयार थे। मैंने भी कहा कि मैं भी जामिया मिल्लिया मे काम करने को तैयार हू। डा. जाकिर हुसैन ने मेरी ओर शक की निगाह से देखते हुए कहा, "नही, तुम्हारे लिए यह फैसला करना ठीक नही होगा।" मैंने पूछा, क्यो? उन्होने जवाब दिया कि जामिया मिल्लिया मेरे लिए उपयुक्त स्थान नही है। मैंने फिर भी जानना चाहा कि आखिर क्यो; अगर उनके लिए वह स्थान उपयुक्त है, तो मेरे लिए क्यो नही? वह बोले, कि उनकी बात अलग है; वह पहले से ही

वचनबद्ध हूं। जब मैं इस बात पर अड़ा ही रहा कि मैं भी वहीं काम करूंगा, तो जरा तीखी आवाज में बोले, "देखो, दिल्ली स्टेशन पर एक गाड़ी में बिठाकर अगर मैं तुम्हें किसी खुले मैदान में ले जाऊं, और कहूं कि 'यही जामिया मिल्लिया है,' तो तुम क्या करोगे ?" मैंने जवाब दिया कि अगर वह उस खुले मैदान को ही जामिया मिल्लिया बताएंगे तो मैं भी उसी को जामिया मिल्लिया मान लूंगा। इस बीच बराबर हम लोग कमरे के बीचोंबीच खड़े हुए थे। मेरी आखिरी बात के जवाब में उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझे अपनी छाती से लगा लिया और बोले, "बहुत ठीक, तो तुम भी हम लोगों के साथ चलो।"

कुछ ही वक्त बाद हम लोग हकीम अजमल खा और डा. अंसारी से मिले, और एक तार भेज दिया गया कि हम तीनों जामिया मिल्लिया की सेवा करेंगे, और जब तक हम लोग वहां वापस न पहुंचें तब तक इस बारे में कोई फैसला न किया जाए।

फरवरी 1926 के शुरू में हम लोग नार्डायटशर लायड स्टीमर एस. एस. डेक्फिगर से वापस रवाना हुए और कोलंबो में जा उतरे। वहां से हम लोग रेल से आए। डा. जाकिर हुसैन सीधे जामिया मिल्लिया गए और उसके बाद कुछ ही वक्त के लिए कायमगंज। मैं करीब छह दिन के लिए घर पर रहा। इसके बाद मुझे डा. अंसारी का दिल्ली आने का तार मिला।

नहीं, कोई खुला मैदान नही था जामिया मिल्लिया। सड़क के एक किनारे, लतीफ मंजिल कहलाने वाली एक लंबी इमारत के दूसरे मंजिल पर थे उसके छात्रावास, स्टाफ के निवास स्थान और नमाज व भोजनशाला वाला कमरा। सडक के दूसरे किनारे चार मकान थे, जिनमे से दो में पढने की क्लासें थी, एक में पुस्तकालय और एक मे दफ्तर। मगर सिर्फ इतना ही था।

जामिया की समूची जमात ने डा. जाकिर हुसैन को करीब-करीब एक ऐसे व्यक्ति के रूप में अपने बीच ग्रहण किया जिसकी फांसी की सजा माफ कर दी गई हो। उन्हें शैखुल जामिया के दफ्तर से लगे हुए कमरे में ठहराया गया, और, बिना किसी रस्म-अदायगी के, उन्हें एक ऐसे पद पर बिठा दिया गया जिसके कामों को न सभाल सकने की वजह से एक के बाद एक कई 'लीडर' उसे छोड चुके थे। लेकिन डा. जाकिर हुसैन जिस वक्त आए उस वक्त उस पद पर ताहिर एस. मुहम्मदी थे। उन्होंने ईमानदारी के साथ अपने कामों को किया था और अध्यापक

मंडली को, जिसके अदर काफी ढीलापन आ चुका था, मेहनत के साथ काम करने की जरूरत महसूस करा दी थी। लेकिन डा जाकिर हुसैन के आते ही उन्हे और उनके काम को पूरी तरह भुला दिया गया, जिससे उन्हे इतनी तकलीफ हुई कि जामिया के ही सामाजिक जीवन से वह बिलकुल ही अलग हो गए, और *अध्यापन-कार्य को छोड बाकी सभी कामो से उन्होने अपना हाथ खीच लिया।* डा ज़ाकिर हुसैन ने उन्हे सतुष्ट करने के लिए जो कोशिशें की भी होगी उनका कोई नतीजा नही निकला।

जामिया वाली जमात को अव्यवस्थित हालात मे रहने की आदत थी। अलीगढ से जामिया मिल्लिया का दिल्ली लाया जाना सही भी था और जरूरी भी, मगर कई अध्यापको और छात्रो को कई वजहों से यह अच्छा नही लगा, और अगस्त, 1925 मे जब दिल्ली मे फिर से जामिया खुला, तो उसमे अध्यापको और छात्रो को मिला कर कुल-जमा अस्सी लोग थे। ये ऐसे लोग थे जो गुजरे हुई बातों को भूल जाने के लिए और भविष्य पर विचार करने के लिए राजी थे, और शिक्षा-कार्यक्रम का पालन करने पर ताहिर एस मुहम्मदी का जोर देते रहना ही एक ऐसी बात थी जो पीछे से आने वाले क्रम को चालू रखने की जरूरत की याद दिलाती थी। डा. जाकिर हुसैन को जामिया को बचाने की खातिर फौरन कोई कार्रवाई कर दिखाने के लिए कितने ही भयो और आशाओ का मुकाबला करना पड़ा, कितनो की ही उमगो, उछाहो और बडी-बड़ी बातो का सामना करना पडा। किसी इमारत को बनाने वाले ठेकेदार की तरह उन्हे कितने ही कुशल या अकुशल कारीगरो की बडी-बडी जोशीली बातें सुननी पडती थी जो उसी दम नक्शो की और इमारती सामान की माग कर रहे थे, और जो यह दलील दे रहे थे कि अगर एक बार काम शुरू भर हो जाए तो वे बहुत कम या बगैर मजदूरी लिए ही काम करने को तैयार है। उनसे न सिर्फ एक साहसपूर्ण नेतृत्व देने की माग की जा रही थी बल्कि एक ऐसी आत्म-विस्मृति की भी, जिसके बीच शरीर-रक्षा भी प्रकृति के किसी जादू के जोर से ही सभव है। उनसे यह उम्मीद की जाती थी कि उनकी अपनी जरूरतें तो कुछ होंगी ही नहीं, बल्कि हर वक्त वह हर किसी के लिए उपलब्ध रहेंगे, सिर्फ दूसरो की ही इच्छाओ और आवश्यकताओं को देखेंगे, सभी मामलो मे सान्त्वना या परामर्श देने के लिए तैयार रहेंगे, फालतू मे फालतू बातचीत को भी तब तक जारी रखेंगे जब तक कि दूसरा

पक्ष ही थक न जाए। फिर भी उनके सहयोगियों में से जो भी अपनी परेशानियां लेकर उनके पास गए उनमें से अधिकांश ने ही यह महसूस किया होगा कि उनके इलाज में सचमुच ही जादू की छड़ी का असर था।

डा. जाकिर हुसैन के सहयोगियों की उनके संबंध में कितनी भी ऊंची धारणा क्यों न रही हो, वह खुद यही महसूस करते थे कि मुस्लिम समाज में उनकी तब तक कोई भी हैसियत नहीं बनी थी। उन्हें करीब-करीब पूरी तरह मुस्लिम समाज के बारे में ही सोचना पड़ता था, क्योंकि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की दरार इतनी चौड़ी हो गई थी कि यह आशा करना कि दोनों ही समाजों का समर्थन जामिया को मिल सकेगा, वास्तविकता की उपेक्षा करना था। मुस्लिम समाज से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्हें हकीम अजमल खां और डा. एस. ए. अंसारी पर निर्भर करना पड़ता था। वे दोनों ही ज्यादा से ज्यादा करने के लिए सचमुच व्यग्र रहते थे, पर वे दोनों सिर्फ पेशेवर हकीम-डाक्टर ही नहीं राजनीतिक नेता और ऊंची सामाजिक हैसियत वाले लोग थे, और मुश्किल से ही अपनी उन तमाम जिम्मेदारियों को निभाने का वक्त निकाल पाते थे। हकीम अजमल खां अमीर-जामिया (कुलाधिपति) होने के नाते अपनी जिम्मेदारी ज्यादा महसूस करते थे; लेकिन अपने स्वभाववश और अपनी संस्कृति के भी कारण वह इतने ध्यान और धैर्य के साथ बातें सुनते थे कि उन पर एक नजर डालते ही मुलाकाती को वक्त बचाने की, ओर सीधे अपनी बात पर पहुंच जाने की, प्रवृत्ति का दमन करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता था। जब वह किसी को मुलाकात का मौका देते थे तो मुलाकाती को एक ऐसे दरबारी की तरह पेश आना होता था जो शिष्टाचार की सारी बारीकियों से बखूबी वाकिफ है, और जब कभी उम्र या हैसियत में अपने से कम किसी मुलाकाती को वक्त देते थे, तब तो पहले से ही यह मान कर चला जाता था कि उसकी पाबंदी करना उनके लिए निहायत जरूरी नहीं है। करोलबाग से बल्लीमारान तक के, जो कि शहर के बीचोंबीच है और जहां कि हकीम अजमल खां रहते थे, डा. जाकिर हुसैन को न जाने कितनी बार चक्कर लगा कर बिना मुलाकात हुए लौट आना पड़ता था, जब कि सवारी के लिए पैसे खर्च करने में भी तंगी का सामना करना होता था। पर वह जानते थे कि इस तरह के विफल प्रयत्न अनिवार्य थे। वह यह भी जानते थे कि उनकी ईमानदारी, उनकी हिम्मत और उनके कौशल के बारे में हकीम अजमल खां की राय बहुत

ऊंची थी, और मुलाकात के लिए वक्त देने के बाद उनके न हो पाने जैसी दुर्घटनाओं से कोई बड़ी चोट उन्हें भी इसलिए नहीं महसूस होती थी कि अपने बुजुर्ग के लिए उनके मन में भी श्रद्धा थी। डा. अंसारी के सांस्कृतिक विचार आधुनिक थे। वह साफ बात करते थे और दिल के खुले थे, और उनके लिए उनकी मोहब्बत भी साफ थी। लेकिन राजनीतिक कामों में बहुत ज्यादा वक्त देने से उनकी आमदनी पर जो बुरा असर पड़ता था उसकी वजह से, और अपनी उदारता के परिणामों के फलस्वरूप भी वह अक्सर मुश्किल में पड़ जाते थे।

लीडरों पर ही, जिनके पास जामिया के लिये कुछ भी कर सकने के लिए कभी भी काफी वक्त नहीं रहता था, निर्भर करने की इस मजबूरी के पीछे मुझे यही वजह दिखाई देती थी कि अमीरों से सहायता प्राप्त करने के माध्यम एकमात्र वे लोग ही थे, और अमीरों से मतलब था मुख्यतः नवाबों और ताल्लुकेदारों से। इन लोगों से मिलने के लिए उनकी कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, और अगर मुलाकात का वक्त ठीक हो गया, या किसी सौभाग्य से उनसे यों भी मुलाकात हो गई, तो यह देखकर चलना पड़ता था कि मुस्लिम समाज की अवस्था के बारे में और उसकी उचित शिक्षा की आवश्यकता के बारे में बातचीत शुरू करने पर उनकी क्या प्रतिक्रिया होती है। अगर बातचीत के दौरान जामिया का कोई जिक्र आ गया तो इस बात का भी खयाल रखना पड़ता था कि कोई ऐसी बात मुंह से न निकल जाए जिसकी वजह से जामिया की ओर ब्रिटिश सरकार के रुख के बारे में कोई सवाल पूछ लिया जाए। ऐसे ही एक मौके की बात मुझे याद है, जब कि नवाब रामपुर के एक दरबारी ने यह सवाल कर दिया था। इसका जवाब देने की जगह, हकीम अजमल खां ने, मौजूदा लोगों में से किसी से कहा कि वह जरा पर्दा खींचकर हटा दें क्योंकि रोशनी कम आ रही है। इस तरह ध्यान बटा दिये जाने से बातचीत का ढर्रा बदल गया था।

रईसों से मदद मांगने के लिए जाना धीरज की पूरी परीक्षा कराना था, और डा. ज़ाकिर हुसैन यह अच्छी तरह जानते थे। दूसरा रास्ता सिर्फ यह था कि संगठित रूप से प्रचार करके मुस्लिम समाज का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की जाए, जिसका संतोषजनक परिणाम तभी निकल सकता था जब कि चंदा इकट्ठा करने का काम लगातार होता रहे। किंतु शिक्षण के कार्य के साथ-साथ धन-संग्रह का यह काम नियमित रूप से किया नहीं जा सकता था, क्योंकि शिक्षकों

की संख्या भी बहुत ही कम थी। फिर भी, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि मुस्लिम जनता, जहां इस विचार को तो नापसंद नही करती थी कि उचित शिक्षा सामयिक आवश्यकताओं के और साथ ही इस्लाम की परपराओं के अनुरूप हो, वहां राष्ट्रीयता के सिद्धात या कार्यों के साथ शिक्षा का मेल बिठाना भी पसंद नही करती थी। सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने के लिये जरूरी था कि उसके रख के बदलने का इंतजार किया जाए।

डा. जाकिर हुसैन हकीम अजमल खा के साथ, या अकेले भी, धन-संग्रह के लिए जाते जरूर थे। लेकिन उनके लिये यह दिखाना भी जरूरी था कि धन मिले या न मिले, काम तो चलता ही रहना चाहिए। दिन पर दिन सफेद खद्दर की चादर से ढकी दरी पर पालथी लगाए बैठे-बैठे वह लोगों से बातें करने में, या दफ्तर के कागजों को निपटाने मे, या चिट्ठियां लिखने में लगे रहते थे, और कभी-कभी एक सख्त सफेद मसनद के सहारे पीठ टिका लेते, या दफ्तर की नीची मेज पर झुके रहते। दफ्तर के काम के लिए उन्हें कोई सहायक नही मिला हुआ था और उनसे मुलाकात करने वालों को पहले से वक्त नही लेना होता था। काम पूरा करने के लिए उन्हे सवेरे आठ बजे से लेकर तीसरे पहर चार बजे तक, करीब-करीब लगातार ही, बैठे रहना पड़ता था—यहां तक कि शौचादि की हाजत को भी रोके रहना पड़ता। और जो लोग यह चाहते थे कि वे चलते-फिरते नजर आएं, उन्हे तो वह शारीरिक अकर्मण्यता की मूर्ति ही लगने लगे थे। वह खुद कभी कोई सख्त बात मुंह से नही निकालते थे, लेकिन किसी दूसरे के मुंह से निकली कोई कड़ी, या शक-शुबहे की, या निराशा की बात सुनते ही ऐसा कस कर जवाब देते थे कि सुनने वाले की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती थी। जो कोई भी अपने काम के सबंध में कोई सुझाव लेकर उनके सामने आता था उसकी मूल योजना में वह इतनी होशियारी के साथ सशोधन और सुधार स्वीकार करा लेते थे कि आने वाला यही समझ कर लौटता था कि डा. जाकिर हुसैन ने उसे कोई सलाह नही दी, बल्कि उलटे वही उन्हे कोई ऐसी बात बता आया है जो उन्हें पसंद आ गई है। जब किसी सभा या स्वागत-समारोह या किसी नुमाइश का आयोजन करना होता था—अक्सर तो ये तीनो ही एक साथ हुआ करते थे—तो डा. जाकिर हुसैन अपने विचारों और सुझावो को इतनी बडी संख्या में अपने सहयोगियो के सामने पेश करते फिरते थे कि उनमे से जो सबसे अधिक परिश्रमी और उद्यमी थे

वे भी उन्हे ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाते थे। जो लोग काम करने के लिये तैयार रहते थे तो काम कराते-कराते वह पागल ही बना डालते थे। मगर उनका बहुत-सा वक्त बेकार की, हालाकि बड़ी जानदार, बातचीत मे खर्च होता था, क्योकि अपनी सस्कृति को जैसा उन्होने समझा था उसका तकाजा था कि बेवकूफो की बात भी खुशी-खुशी सुनी जाय।

जून 1926 मे डा जाकिर हुसैन, डा. आबिद हुसैन, शफीकुर्रहमान किदवई और मैं साबरमती आश्रम मे गाधी जी से मिलने के लिये गए। हम लोगों के वहा पहुचने की तारीख और वक्त की उन्हे सूचना देने वाला तार किसी वजह से मेरे नाम से भेजा गया था। गलती से उसे 'मुजे' पढ लिया गया, जिनके साथ ठीक उसी समय गांधी जी का रिश्ता टूट चुका था। साफ है कि आश्रम के दफ्तर मे उस तार पर कोई खास ध्यान नही दिया गया होगा, और हम लोग अप्रत्याशित अतिथियो के रूप मे ही वहां पहुचे। मगर हमे ठहराने के लिये जगह दी गई, और अगली सुबह तक गलती उन लोगो की पकड मे आ गई और हमे हरजाना मिल गया। सवेरे के नाश्ते के लिये हमे गाधी जी की कुटिया मे आने का न्यौता मिला, जहा हम लोग एक पक्ति मे बिठा दिये गए, और बा ने, जैसा कि कस्तूरबा गाधी को स्नेहपूर्वक कहा जाता था, खाना परोसा। तभी पीछे से कोई कह उठा, "वाह, क्या बढिया नजारा है," और पीछे मुडकर हम देखते क्या हैं, कि लबे-लबे कदम बढाते गाधीजी हम लोगो की ओर बढे आ रहे हैं। नजदीक ही वह एक खाट पर बैठ गए, और मुझे याद है कि उनके चेहरे पर खुशी की मुस्कुराहट थी, और सबेरे की प्रार्थना वाला वह स्तोत्र भी, जो

यं ब्रह्मः वरुणेंद्र रुद्र मरुतः···

से शुरू होता है।

गाधी जी और डा जाकिर हुसैन की यह पहली मुलाकात थी, और दोनो उसी क्षण एक-दूसरे पर फिदा हो गए। जामिया के बारे मे उनके बीच लबी बात-चीत हुई और धन-संग्रह के सभव उपायो पर भी विचार हुआ। गाधी जी बोले कि वह भिक्षा की झोली लेकर निकलने को तैयार हैं, पर उन्हे डर है कि इससे कही मुस्लिम लोकमत जामिया के खिलाफ न हो जाए, और वह यही चाहते हैं कि जामिया एक बिलकुल ही मुस्लिम सस्था बनी रहे। डा जाकिर हुसैन इससे सह-मत थे। वह भी यह जरूरी मानते थे कि जामिया को आर्थिक सहायता मुसलमानो

से ही मिलनी चाहिये। जान पड़ता है कि अपने रचनात्मक कार्यों के धन-संग्रह के निमित्त गांधी जी ने बर्मा जाने की योजना बना रखी थी, और मुसलमानों के एक प्रतिनिधि-मंडल के भी वहां चले चलने की संभावना पर दिल्ली में विचार किया गया था। कोई खास बात तो तय हो नहीं पाई थी, मगर उस बातचीत के नतीजे स्थायी सिद्ध हुए। गांधी जी को विश्वास हो गया कि जामिया अब एक अच्छे मुसलमान के हाथों में है जिसकी हिंदू-मुस्लिम एकता में पूरी आस्था है। और डा. जाकिर हुसैन ने भी महसूस किया कि उन्हें गांधी जी का पूरा समर्थन प्राप्त है और अब वह राष्ट्रीय जीवन के तूफानी समुद्र में अपनी किश्ती को सही दिशा की ओर ले जाने के लिए अपनी समझ के हिसाब से निश्चित होकर चल सकते हैं। वक्त के साथ-साथ यह आपसी समझदारी और भरोसा बढ़ते ही चले गए।

अहमदाबाद से डा. जाकिर हुसैन हैदराबाद चले गए। वहां कुछ धन इकट्ठा हुआ, लेकिन एक ऐसे 'लीडर' की सलाह पर चलने के लिए बाध्य होने की वजह से, जिनका दावा यह था कि निजाम के साथ उनके निजी ताल्लुकात हैं, उनके रास्ते में बड़ी रुकावटें आईं। फिर भी उन्होंने वहां कुछ संपर्क कायम किये जो बाद को बड़े काम के साबित हुए। अब लगता है कि अगर उन्होंने अपने ही भरोसे वहां काम किया होता तो शायद वह ज्यादा कामयाब होते, लेकिन उन्होंने यही ज्यादा सही समझा कि उनके बुजुर्ग जितनी मदद करना चाहते हैं उसकी उपेक्षा न करें। उल्टे तब उन्हें यही शिकायत हो सकती थी कि वह अपने ऊपर जरूरत से ज्यादा भरोसा करने लगे हैं और महत्त्वाकांक्षी हो उठे हैं, और ऐसा होने पर वह उनका सहारा भी पूरी तरह खो बैठते। हकीम अजमल खां की मृत्यु के बाद ही, और जब कि प्रायः सभी प्रमुख मुसलमान और काफी हिन्दू नेताओं[1] द्वारा समर्थित और प्रवर्तित 'अजमल जामिया फंड' के लिए धन-संग्रह की योजना भी

[1]हकीम अजमल खां की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए फरवरी 1928 में होने वाली सभा में, जिसमें ही अजमल जामिया फंड के लिए धन-संग्रह करने का फैसला किया गया था, बहुत बड़े-बड़े लोग शामिल थे : पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित मदनमोहन मालवीय, मौलाना मुहम्मद अली, श्री श्रीनिवास ऐयंगर, पंडित जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद, डा. एम. ए. अंसारी, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री विजयराघवाचार्य, महाराजा महमूदाबाद, लाला शंकर लाल, श्री टी. प्रकाशम, सरदार शार्दूलसिंह, आदि।

बेकार हो गई, डा. जाकिर हुसैन ने डा. असारी को इस बात के लिए राजी किया कि ट्रस्टियो की पुरानी सस्था को भग करने के लिए जरूरी कदम उठाए जाएं ताकि एक नई ही समिति, अजुमन तालीमे-मिल्ली,[1] जामिया का काम चलाने की जिम्मेदारी ले सके। डा असारी इस अजुमन (समिति) के अध्यक्ष चुने गए, डा. जाकिर हुसैन सचिव, और सेठ जमनालाल बजाज कोषाध्यक्ष। समिति के सदस्य दो प्रकार के थे, सह-सदस्य, और वे सदस्य जिन्होने यह वचन दिया हो या देने को तैयार हो कि वे बीस साल तक 150 रुपये मासिक से अधिक वेतन न लेते हुए उसकी सेवा करेंगे। सभी सदस्य जामिया के स्टाफ मे थे, और इस समिति के गठन के बाद जामिया एक स्वायत्त सस्था बन गई जो राजनीतिक नेताओं की मौज पर निर्भर नही थी। अब से डा. जाकिर हुसैन को अपेक्षाकृत कही ज्यादा आजादी मिल गई।

[1]राष्ट्रीय शिक्षा समिति।

3

जामिया मिल्लिया इस्लामिया का निर्माण

1928 में डा. जाकिर हुसैन अध्यापक समुदाय के अध्यक्ष हो गए जिसकी वजह से उन पर नेतृत्व संबंधी सभी दायित्व आ गए, लेकिन व्यवहार में उन्होंने उन सुविधाओं में से भी किसी का उपभोग नहीं किया जिन पर उनका हक था, बल्कि अपने लिए किसी भी प्रकार की विशिष्टता की अपेक्षा नही की। इस तरह का हक उन्हें मिले, यह उन्होंने चाहा तक नहीं। अपनी वापसी पर जब डा. जाकिर हुसैन फिर से जामिया में आ गए थे तब उन्हें सिर्फ 100 रुपया मासिक वेतन मिलता था, जब कि यूरोपीय शिक्षा-प्राप्त उनके अन्य दोनों सहयोगियों में से प्रत्येक को 300 रुपये मासिक दिया जाता था। लेकिन इतना वेतन देना जामिया के बूते का था भी नही, बल्कि नियमित रूप से तो निर्धारित वेतन भी नही मिल पाता था। उनसे ज्यादा वेतन पाने वाले उनके सहयोगी भी शीघ्र ही 100 रुपया मासिक लेने पर राजी हो गए; मगर डा. जाकिर हुसैन ने तब अपना वेतन घटा कर 80 रुपये मासिक कर दिया। कायदा यह था कि जिन कर्मचारियों का वेतन सबसे कम है उनके वेतन की अदायगी सबसे पहले हो; इस कायदे के हिसाब से डा. जाकिर हुसैन उन लोगों में थे जिन्हें सबसे अंत में वेतन मिल पाता था। बाद को, वेतन की अदायगी में कुछ नियमितता लाने की दृष्टि से यह तय किया

गया कि 60 रुपया या इससे अधिक पाने वालों को उनके वेतन का आधा हिस्सा तो नकद दिया जाए और बाकी आधा उनके खाते मे जमा होता जाए। इस तरह डा ज़ाकिर हुसैन को नकद मिलने वाला वेतन अब घट कर 40 रुपया मासिक ही रह गया, और यह सिलसिला 1944 तक चलता रहा जब कि पूरे वेतन दिये जाने लगे और अध्यापकों के ऋण भी चुका दिये गए। 1948 मे अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति चुने जाने तक उनका वेतन 80 रुपये मासिक ही रहा।

जामिया से उन्हे जो मिलता था उससे उनका गुजर नही हो सकता था, यह तो साफ ही है। कायमगंज मे उनकी कुछ जमीन-जायदाद थी जिसकी देखभाल उनके एक रिश्तेदार के सुपुर्द थी जो उसे पूरी तरह अपने इस्तेमाल मे ला रहे थे, और उसकी आमदनी में से कुछ भी बचा कर भेजने के लिए यह उन्हे तैयार नही कर सके। हिसाब-किताब इस तरह तैयार किया जाता था कि सारी आमदनी उसकी देखभाल पर ही खर्च हो जाती थी। रुपये की तगी डा. ज़ाकिर हुसैन को हमेशा ही बनी रहती,[1] लेकिन किसी को इसका पता तक नही लगने दिया—जामिया के लेखापाल (एकौंटेंट) तक को नही, क्योंकि वह अपना वेतन कभी मागते नही थे। जब भी जरूरत पडती थी, वह दीन भाव से अपनी पत्नी के सामने जा खड़े होते और कहते कि कुछ रुपयों की जरूरत आ गई है। वह या तो प्रतिवाद करती या सिर्फ एक आह खीच कर रह जाती, जब जैसा मिजाज रहता उसके मुताबिक, और फिर नौकर लडके को सुब्बा[2] के पास भेजतीं, जो एक बनिया था और नजदीक ही जिसकी दूकान थी, या एक ठेकेदार मन्नू या की स्त्री के पास, जिनका मकान बगल मे ही था, और उनसे उतना रुपया कर्ज लेती। बेगम ज़ाकिर हुसैन को अपने दादा की जायदाद से होने वाली आमदनी के अपने हिस्से के तौर पर 10 रुपये माहवार मिला करते थे। अपनी

[1] अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए उन्होंने जो ज़रिये अपनाए उनमे से एक था फ्रीड्रिख लिस्ट के 'नश्नोनाल्स इकनमी' का 'अञ्जुमन तरक्किए-उर्दू' के लिए अनुवाद करना।

[2] यह लिखते वक्त सुब्बा जीवित है, हालांकि अधे हो गए है। डा ज़ाकिर हुसैन जब उप-राष्ट्रपति और राष्ट्रपति थे तब उन्हें इस बात का बड़ा फख था कि वह उनको खासमखास करो थे और उनके ऊपर मेहरबान थे।

गृहस्थी को चलाने के लिए पूरे भरोसे की आमदनी बस यही थी।

मगर इन दिनों भी डा. ज़ाकिर हुसैन हाथ-कती और हाथ-बुनी खादी की ज्यादा-से-ज्यादा साफ-सुथरी पोशाक में रहते थे, और अपनी सहज-स्वाभाविक गरिमा के कारण ऊंचे घराने के किसी ऐसे व्यक्ति की ही छाप छोड़ते थे जो ज्यादा-से-ज्यादा सादगी के साथ रहना ही पसंद करता है। कोई उनसे कर्ज मांगता था तो वह इंकार नहीं कर सकते थे, क्योंकि कर्ज लेने वाला यह विश्वास ही नहीं कर सकता था कि उनके पास रुपये नहीं हैं। कायमगंज से अपने परिवार को लाने के पहले उन्होंने जिस मकान को किराए पर लेना चाहा था उसके लिए कुछ फर्नीचर खरीदा था। लेकिन शाह साहब ने, जो स्टाफ के ही एक सदस्य के पिता और डाक विभाग के एक छोटे-मोटे निवृत्त कर्मचारी थे, पहली बार की बेंत की कुरसियां उनसे उधार मांग लीं, और पड़ोसियों और मिलने आने वालों को यही बताते रहे कि डा. ज़ाकिर हुसैन उनका खास खयाल रखते हैं और ये कुरसियां उन्होंने उपहारस्वरूप दी हैं। अगले महीने डा. ज़ाकिर हुसैन ने कुछ और कुरसियां खरीदीं। मैं तब उनके कमरे से लगे हुए कमरे में ही रहता था, और मुझे उनसे मालूम हो चुका था कि पिछली कुरसियों का क्या हाल हुआ था। एक सुबह डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि शाह साहब इन कुरसियों को भी उधार के तौर पर ले जाना चाहते हैं, और कुछ ही देर बाद देखता क्या हूं, कि दो मजदूरों के साथ शाह साहब उन्हें लेने के लिए हाजिर हैं। मुझे गुस्सा आ गया और उनसे पूछ बैठा कि क्या वह डा. ज़ाकिर हुसैन का सभी-कुछ ले जाने पर तुले हुए हैं ? शाह साहब मानो आसमान से गिरे, और अपना-सा मुंह लिये, अपमानित-सा महसूस करते हुए, लौट गए। डा. ज़ाकिर हुसैन को इससे बड़ी तकलीफ हुई। 'यह आपने किया क्या, मुजीब साहब ?' पर मुझे कोई पछतावा नहीं था, और उसके बाद उनका फर्नीचर फिर कभी 'उधार' नहीं मांगा गया।

1927 की शरद ऋतु से लेकर तब तक जब कि ओखला में जामिया के अहाते में ही रहने के लिये वह चले आए, अपने परिवार के साथ एक किराए के मकान में ही बने रहे। सड़क से लगा हुआ एक बरामदा था उसमें, और छोटे-बड़े तीन कमरे। इन कमरों के पिछले दरवाजे अंदर वाले बरामदे में खुलते थे, जिसके बाद एक आंगन था जिसमें एक ओर रसोईघर और शौचालय था और दूसरी ओर दो

कोठरिया; इनके बीच का दरवाजा एक गली मे खुलता था। करौलबाग, जहां कि तब जामिया था, दिल्ली से बिलकुल अलग पड़ता था, और न वहा बिजली थी और न पानी का नल ही। मल-सफाई व्यवस्था भी गई-गुजरी थी, और जो लोग जरा सफाई और आराम मे रहना पसद करते थे उनके लिये सिवा बेहतर वक्त का इतजार करने के सिवा कोई चारा नही था।

डा. जाकिर हुसैन की और उनकी बेगम की दिनचर्या अलग-अलग थी। "वह तो सबेरे चार ही बजे उठ जाती हैं," उन्होने अपने ही खास तरीके से मुझे बतलाया था, "बकरी का मिमियाना शुरू होते ही। पहले वह बकरी को खिलाती हैं, फिर खुद खाती है। मेरी बारी काफी बाद को आती है। वह अपनी मर्जी के मुताबिक खाती-पीती हैं, जिसे वह सिर्फ अपने ही लिये फायदेमद बताती हैं। मैं जब अपने काम के लिये तैयार हो जाता हू तब एक औंधी टोकरी के नीचे से अपना नाश्ता निकाल लेता हू, जहा कि वह बिल्लियो से बचाने के लिए रख दिया जाता है।"

बेगम जाकिर हुसैन कुदरतन कायदे से काम करना पसंद करती थी। उनके घर पर मैं दो बार काफी लबे अरसे तक रहा हूं, और एक बार भी खाने के वक्त मे जरा भी देर नही हुई। वक्त हो जाने पर नौकर लडका, बिना मेरे बुलाए ही, आकर देख जाता कि मैं मौजूद हू या नही, और फिर फौरन ही मेरा खाना आ जाता। पठानो के यहा कायदा यह था कि पुरुष और स्त्रिया एक साथ खाने के लिये न बैठें, और हो सकता है कि बेगम जाकिर हुसैन इस रिवाज के खिलाफ जाना न पसद करती हो। फिर भी, डा जाकिर हुसैन जब कभी भी वक्त की पाबदी बरतते थे तब उन्हे पुरस्कार स्वरूप ताजा गरम खाना मिल जाता था। मगर बेगम जाकिर हुसैन भी दब्बू किस्म की महिला नही थी, और उनकी दिन-चर्या अलग ही रहती थी। वैसे भी दोनो के लिये ही यह फायदेमद था। मिया को वक्त का पाबद न पाकर बीबी को कोई शिकायत नही थी, और मिया भी अपने वक्त को अपने ढग से बिताने के लिए आजाद थे। बेगम जाकिर हुसैन ने जब मेरे सामने पर्दा करना छोड दिया, तब उन दोनो के बीच जो बातचीत मुझे सुनने को मिलती थी उसमे भी आजादी का इजहार होता था। ज्यादातर तो वे दोनो एक-दूसरे से नही एक-दूसरे को सुना कर ही कुछ कहते थे।

डा. जाकिर हुसैन का सबेरे का नाश्ता, जो वह करीब आठ बजे करते थे,

आमतौर पर खिचड़ी का होता था—एक, या दो भी, बड़ी-बड़ी तश्तरिया भर कर। अगला खाना साढ़े चार या पाच बजे होता था, जिसे वह टोकरी के अंदर से निकाल लेते थे। फिर कुछ देर आराम करने के बाद वह या तो दूसरो से मिलने के लिए बाहर निकल जाते थे, और या उन लोगो के साथ टहलने के लिये चल देते थे जो खुद उनके यहा आ पहुंचते थे। बातचीत गभीर विषयो पर भी हो सकती थी और बिलकुल फालतू बातो पर भी, और कही भी हो सकती थी—कमरे के किसी भी हिस्से मे या सड़क के ही किनारे। उनके सहयोगी इस तरह की बातचीत के लिये बराबर उत्सुक रहा करते थे। जहा तक उनका खुद का सवाल था, वह आमतौर पर बातो को कुछ टेढ़े ढंग से ही पेश करने मे मजा लेते थे; मामूली बातो को मामूली ही ढंग से कह डालना उन्हें कतई पसंद नही था, और बिलकुल साफ और सीधी बात मजबूरी मे ही करते थे। सबसे ज्यादा मजा उन्हें ऐसी बातचीत मे आता था, जब किसी ऐसे मसले पर जिस पर दूसरे लोग एकमत हो या जो बात साफ तौर पर ही सही दिखाई दे रही हो, वह उलटा ही रुख लेने का मौका पा सकें, और तब वह इस तरह दलील पर दलील देते चले जाते थे कि हर एक की अक्लमंदी और सूझबूझ की परीक्षा हो जाती थी। इस तरह की बातचीत सिर्फ लुत्फ के लिये होती थी, और जो जानकार नही होते थे वह यही समझ बैठते थे कि डा. ज़ाकिर हुसैन जो कुछ फरमा रहे हैं वही उनके दिमाग और दिल में है। उन्हें अगर पहले या बाद को कही उनकी कोई बात याद पड़ती तो वे उलझन मे पड़ जाते। लेकिन यह उनसे भी छिपा नही रहता था कि बहस के दौरान वह इस या उस पक्ष मे जो कुछ कह डालते थे उसका उनके अमल के साथ कोई ताल्लुक नही होता था, और इसलिये उनके बारे मे और उनके द्वारा व्यक्त विचारो के बारे मे पक्ष-निर्धारण करना उन्होने छोड दिया था। उनके लिए वह कितनी भी बड़ी पहेली क्यो न बने रहे, वे जानते थे कि वह उन्ही के साथ हैं और वे खुद भी उनके साथ।

1930 में डा. सलीमुज्जमन सिद्दीकी जब तिब्बिया कालेज[1] मे एक रासायनिक

---

[1]भारतीय चिकित्सा प्रणाली को पुनर्जीवन प्रदान करने और उसे आधुनिक रूप देने के इरादे से खोली गई एक सस्था। इसकी स्थापना 1926 मे हकीम अजमल खा ने की थी; लेकिन दरअसल वह काफी पहले स्थापित एक चिकित्सा विद्यालय का ही विकास था

अनुसंधानशाला के डाइरेक्टर होकर चले गए, तब से डा. जाकिर हुसैन के शाम के कार्यक्रम में एक तबदीली आ गई। वह एक प्रतिभाशाली रसायनज्ञ, चित्रकार, संगीतज्ञ और बातचीत में बड़े ही पटु थे। साथ ही उनकी तबियत में कुछ ऐसी अलमस्ती थी जो दूसरों को लुभा लेती थी और उन्हें भी कुछ देर के लिये अलमस्त बना देती थी। यूरोप में कई साल तक अध्ययन करने के बावजूद उनकी कुछ आदतों में, जो एक प्रकार से उनके स्वभाव में ही शामिल हो चुकी थी, कोई तबदीली नहीं आई थी। अपने कामकाज में वह अत्यंत कर्तव्यनिष्ठ थे; रसायनज्ञ के नाते उनकी उपलब्धियां असाधारण थी जिनके कारण विज्ञान जगत में उन्हें एक ऊंचा स्थान मिला हुआ है। ग्यारह बजे से लेकर साढ़े छह-सात बजे तक वह अपनी प्रयोगशाला में काम करते रहते थे, लेकिन काम का वक्त पूरा हो चुकने पर वह फिर एक ऐसे तबीयतदार आदमी बन जाते थे जिसके पास फुरसत ही फुरसत हो और जो उन सभी कायदे-कानूनों को ठुकरा दे जिन्हें कि संजीदा किस्म के लोग अपने ऊपर थोप लेते हैं। उनका नाश्ता आठ बजे होता था, और दिन का खाना साढ़े दस और एक के बीच कभी भी। लगता था कि उनके शरीर की बनावट ही कुछ ऐसी है कि इस तरह की बेतरतीब जिंदगी पर ही वह पनपता है। उनकी जर्मन पत्नी टिली, जिनका हर समस्या के प्रति वही तर्कपूर्ण दृष्टिकोण था जिसके लिये उनकी जाति विख्यात है, सभी बातों में उनसे असहमत रहती थी, लेकिन फिर भी लगता था जैसे पति की तर्क-असंगत दिनचर्या से वह कुछ ज्यादा परेशान नहीं थी। उन्हें साहित्य और दर्शन संबंधी उच्चकोटि के वार्तालाप का शौक था, और उनके वैज्ञानिक कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं थी। जब ये दंपति भी करोलबाग में ही आकर रहने लगे थे तब डा. जाकिर हुसैन की सोहबत उनके लिये एक नियामत हो उठी। डा. जाकिर हुसैन को खुद भी जामिया मिल्लिया की फिक्रों और एक ही ढर्रे की बातचीत के बाद उन लोगों के साथ अपनी शाम बिता कर चैन मिलता था। लेकिन कभी-कभी उन्हें जिस तरह की चीजें खाने का शौक हो जाता था, खासतौर से जामा मस्जिद वाले गरम मसालेदार कबाबों का, उनसे उनके हाजमे पर असर पड़ता रहा और संभव है कि बाद को उन्हें जो बीमारियां भुगतनी पड़ीं उनका एक कारण यह भी रहा हो। मगर उनसे कहा जाता, तो वह यही जवाब देते कि पुराने वक्तों से चले आने वाले कबाबों का जो जायका है उसे देखते यह खतरा मोल लेना भी कुछ बुरा नहीं।

दिसंबर 1932 मे, गेर्डा फिलिप्सबार्न भी आ पहुची---आने के खिलाफ दी गई सलाह, चेतावनियो और फटकारो के बावजूद। उनके सामने और कोई चारा था भी नही। जर्मनी मे घटना-चक्र जिस तरह घूमा था उससे यहूदियो का भविष्य अंधकारमय हो उठा था, उनके परिवार को अपना स्थान छोड़ना पडा था और देश निकाले का डर उनके सामने था। पहले वह फिलस्तीन गईं, और कुछ अर्से तक वहा काम करने के बाद उन्होंने डा. जाकिर हुसैन को खबर भेजी कि वह भारत आ रही हैं। उनके राह-खर्च का इंतजाम किया गया; और बबई मे जब वह जहाज से उतरी तो डा. जाकिर हुसैन उन्हे लिवा लाने के लिए वहां मौजूद थे। 1933 के नए वर्ष के दिन वह भी जामिया मिल्लिया के स्टाफ मे औपचारिक रूप मे नियुक्ति पा गईं।

आ तो वह गईं, पर उन्हें काम क्या दिया जाए ? प्राक्-प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने के क्षेत्र मे उनका कुछ दखल था, लेकिन उसके लिए जामिया मे तब तक कोई समुचित व्यवस्था नही की जा सकती थी। इसलिये उन्हे प्राइमरी स्कूल और सबसे छोटे बच्चो वाले छात्रावास के साथ सलग्न कर दिया गया। प्राइमरी स्कूल के हैडमास्टर अब्दुल गफ्फार मुधोली यो तो नम्र प्रकृति के थे, करीब-करीब अपने को मिटा देने वाले, लेकिन अनुशासन के मामले में वह जरा भी ढील देने को तैयार नही थे और वक्त की पाबंदी और नियमितता उनके लिये अध-श्रद्धा का रूप ले चुकी थी। डा. जाकिर हुसैन उनकी याद यह कह कर करते थे कि उन्होने उन्हे वक्त की पाबदी की तालीम दी थी। एक बार स्कूल की बैठक का सभापतित्व करने के लिये डा. जाकिर हुसैन को आमत्रित किया गया था और वह दो या तीन मिनट देर से पहुंचे थे। उन्होने देखा कि बैठक शुरू हो चुकी है और सभापतित्व कोई दूसरा ही कर रहा है।[1] अब्दुल गफ्फार मुधोली किसी के लिये भी कोई छूट देने वाले शख्स नही थे, डा. जाकिर हुसैन तक के लिये नही। गेर्डा फिलिप्सबार्न के स्त्री होने या डा. जाकिर हुसैन की दोस्त होने की वजह से उनका खास खयाल करने की बात तो उनके लिये मुमकिन ही नही थी। दूसरी ओर वह यह महसूस करती थी कि उनके सुपुर्द जो काम किया गया है वह एक औपचारिकता मात्र है; उनका वास्तविक कार्य था डा. जाकिर हुसैन का साथ,

[1] मेरे साथ भी एक बार ऐसा ही हुआ, और मैंने भी यही सबक सीखा।

उनकी देखभाल, उनके साथ शिक्षा-नीति पर विचार-विमर्श, और दिल को यह तसल्ली दे पाना कि वह उनकी सेवा मे अपने को समर्पित किये हुए हैं, उनकी सहचरी है और उनके लिये प्रेरणा की स्रोत हैं। मुझे याद है कि अब्दुल गफ्फार मुघोली से मिस फिलिप्सबार्न के खिलाफ इस तरह की लिखित शिकायतें पाने पर कि वह देर से काम पर आई, या उन्होंने अपनी क्लास नही ली, डा. ज़ाकिर हुसैन क्षुब्ध हो उठते थे, जब कि वह जानते थे कि उनकी देरी की वजह यह थी कि वह उनके साथ कोई विचार-विमर्श कर रही थी या किसी योजना पर बात कर रही थी, जो मिस फिलिप्सबार्न की निगाह मे अपनी क्लास लेने से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण काम था।

तनाव की एक दूसरी वजह थी गेर्डा फिलिप्सबार्न का इस बात पर अड़े रहना कि डा ज़ाकिर हुसैन के खाली वक्त मे उनके साथ जामिया से बाहर का कोई भी शख्स हिस्सा नही बटा सकता। सिद्दीकी दपति को इस बात से बेहद खीज होती थी, और सच पूछा जाय तो उनका संग-साथ डा ज़ाकिर हुसैन को भी अधिक प्रिय था और उससे उन्हे वह आराम मिल जाता था जिसकी उन्हें इच्छा भी थी और जरूरत भी। मगर उनके वक्त पर और उन पर गेर्डा फिलिप्सबार्न ने जो कब्जा कर रखा था उसे ढीला करने की दिशा में वह कुछ भी कर सकने मे असमर्थ थे। गेर्डा फिलिप्सबार्न उनके लिये या जामिया मिल्लिया के लिये अपनी निष्ठा का जो दावा करती थी उसकी बराबरी ये लोग नही कर सकते थे और न आखो मे आसू भरकर प्रतिवाद के हथियार का ही इस्तेमाल कर सकते थे। मगर इसमे भी कोई शक नही कि डा. ज़ाकिर हुसैन की कल्याण-कामना और जामिया मिल्लिया के प्रति उनकी सच्ची लगन बहुत गहरी थी।[1]

---

[1]गेर्डा फिलिप्सबार्न की 1943 मे कैंसर से मृत्यु हो गई। उनके पेट मे बेहद दर्द हुआ करता था लेकिन उन्होंने तब तक कोई इलाज नहीं करवाया जब तक वह ला-इलाज नहीं हो गया। जब उनके रोग की पहचान हुई और उन्हें पता चला कि अब वह ज्यादा दिनों की मेहमान नहीं हैं, तो उन्होने डा ज़ाकिर हुसैन से कहा कि जब भी उन्हें वक्त मिले वह उनको कुरान पढ़ कर सुनाया करें। उन्होंने यह भी उनसे कहा कि वह मुसलमानों की ही तरह दफनाए जाना चाहेंगी। उनकी यह ख्वाहिश पूरी भी की गई।

इस जीवनचरित को लिखते वक्त मैंने बेगम ज़ाकिर हुसैन से जानना चाहा कि उन

जिन अध्यापकों ने जामिया के अलीगढ से दिल्ली लाए जाने पर भी उसे न छोड़कर अपने भविष्य को खतरे मे डाला था उनमें से कुछ-एक चिड़चिड़े स्वभाव के और अस्थिर चित्त वाले थे, और कुछ एक ऐसे भी, जिनकी बुद्धि और अपने काम में दिलचस्पी, संदिग्ध थी। लेकिन जो लोग सचमुच ही अत्यत उपयोगी थे उनमे न सिर्फ जोश था बल्कि नव-निर्माण के लिये एक व्याकुलता भी थी। डा. ज़ाकिर हुसैन के आ जाने पर इस दबी हुई अकुलाहट को बाहर आ जाने का मौका मिल गया। जामिया के ही अहाते में एक रात्रि-स्कूल खोला गया जिसमें आकर पढ़ने वालों की सख्या काफी तेजी से बढ़ गई। फिर शहर के अदर भी, बाड़ा हिंदू राव में उस स्कूल की एक शाखा खोली गई जिसके लिये एक लोकोपकारक व्यवसायी ने आर्थिक सहायता दी। अब्दुल मजीद ख्वाजा 'पयामे-तालीम' नाम की एक शिक्षा-पत्रिका प्रकाशित करने के लिये बहुत व्यग्र थे, जो मुख्यतः बच्चों के लिये हो, और शुरुआत का खर्च वह उठाने को तैयार थे। यह पत्रिका एक पाक्षिक वृत्तपत्र के रूप मे शुरू हो गई जिसमे स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-सामग्री रहती थी। 'जामिया' के नाम से एक साहित्यिक पत्रिका 1923 से ही निकलती आ रही थी। अब उसमें भी सुधार करने और उसकी ग्राहक-संख्या बढ़ाने का फैसला हुआ। प्रसार-व्याख्यानों और विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये विविध विषयों पर उर्दू में किताबें तैयार करने की दृष्टि से एक उर्दू अकादमी की भी स्थापना की गई जिसके सचिव डा. आबिद हुसैन थे। जामिया कालेज में विद्यार्थियों की संख्या बहुत ही कम थी, और यह देखा गया कि विश्वविद्यालय कहलाने के अपने दावे को साबित करने का जामिया मिल्लिया के सामने एक ही तरीका है, कि वह ज्ञान का प्रसार करे और आम लोगों में उसके प्रति आकर्षण बढाए। आर्थिक अभाव एक भारी रुकावट थी, लेकिन कुछ ही बरसों के अंदर

दोनों के संबधों के बारे में उनका खयाल क्या था। उन्होंने मुझे बताया कि गेर्दा फ़िलिप्स-बार्न जब दिल्ली आने को थी तब डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें बताया था कि उन दोनों की जान-पहचान किस तरह हुई थी, और किस तरह उसने एक दोस्ती की शक्ल अख्तियार कर ली थी। उस स्त्री के दिल में उनके लिये जो मुहब्बत थी उसका खयाल रखना उनके लिये लाज़िमी था। मगर इससे ज्यादा इस मामले मे और कुछ भी नहीं था।

जामिया मिल्लिया को यह ख्याति मिलने लग गई कि ज्ञान-प्रसार का कार्य करने और शिक्षा का परंपरागत संस्कृति के साथ मेल बिठाने में दूसरे विश्वविद्यालयों के मुकाबले उसकी कहीं ज्यादा दिलचस्पी है।

डा. जाकिर हुसैन के सुपुर्द जन-संपर्क, प्रशासन और अपने सहयोगियों के बीच सामंजस्य और सहयोग बनाए रखने के काम थे, और निश्चय ही, साथ-साथ शिक्षा संबंधी प्रयोगों को शुरू कराना और उनके लिये मार्ग-दर्शन देना। उन्हें उन जिम्मेदारियों को भी लेना पड़ जाता था जिन्हें उनका कोई सहयोगी लेना नहीं चाहता था, जैसा कि मासिक पत्र 'जामिया' के संपादन के बारे में हुआ था, जिसे उन्हें सिर्फ इसलिए लेना पड़ा कि और कोई उसके लिये तैयार नहीं था। कई महीने तक करीब-करीब सारे ही लेख अलग-अलग नामों से उन्होंने ही लिखे थे। मगर फिर भी वह विशुद्ध रूप से शिक्षण कार्यों को आगे बढ़ाने के लिये वक्त निकाल लेते थे। यह उन्हीं का फैसला था, जिसे सभी ने खुशी-खुशी मंजूर किया था, कि जामिया मिल्लिया पहले प्राइमरी स्कूल के निर्माण पर अपनी शक्ति को केंद्रीभूत करे। उन्हें एक योग्य सहायक के रूप में अब्दुल गफ्फार मुधोली भी मिल गए, जो कि मोगा में 'प्रयोजना-प्रणाली' (प्रोजेक्ट मैथड) का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद उसके हैडमास्टर नियुक्त हुए। इस पद्धति का उन्होंने सराहनीय सूक्ष्मता के साथ उपयोग किया और साधनों तथा पद्धतियों के निर्धारण में भी अपनी ही ओर से कदम उठाते रहे। जल्द ही इस स्कूल ने शिक्षा क्षेत्र में एक आदर्श स्थापित कर दिया, और उसके बच्चों के अंदर आत्मविश्वास, स्वत: प्रवृत्ति और सहयोग भावना विलक्षण रूप में दिखाई देने लगी। 'नवीन शिक्षा फैलोशिप' का एक प्रतिनिधिमंडल जब अपनी विश्व-यात्रा के सिलसिले में भारत आया था तो उसके कुछ सदस्यों ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की थी। इस स्कूल के काम के साथ-साथ बाल-साहित्य की भी रचना का काम होता था। मकतबा, यानी जामिया का प्रकाशन विभाग, एक बड़े ही सक्रिय व्यक्ति हमीद अली खां के सुपुर्द था। डा. जाकिर हुसैन अपने उन सभी सहयोगियों पर जिनमें कि बालोपयोगी पुस्तकें लिखने की साहित्यिक प्रतिभा थी, इस तरह की पुस्तकें लिखने के लिए जोर डालते रहे, और खुद भी ऐसा करके उन्होंने उनके सामने उदाहरण रखा।[1]

---

[1] उन्होंने अपनी दूसरी बेटी रुकैया रेहाना के छद्मनाम से ये लेख लिखे।

एक जानदार शैली में, बातचीत के तौर पर, लिखी हुई उनकी कहानिया शीघ्र ही प्रमाणरूप मानी जाने लगी। इस क्षेत्र मे जामिया को जो सफलता मिली उसे देख कर अन्य उद्यमशील प्रकाशको ने भी बच्चो के लिये किताबें छापनी शुरू कर दी।

लेकिन न तो अपने जानदार और सफल प्राइमरी स्कूल के बल जामिया अपना अस्तित्व कायम रख सकता था, और न अपने प्रकाशनो तथा सुव्यवस्थित सभा द्वारा होने वाले आदर्शों के प्रचार से; न्यूनतम आवश्यक धन की व्यवस्था करना अनिवार्य था। डा. जाकिर हुसैन इस स्थिति को बखूबी समझते थे, लेकिन अधीर हो उठने वालो की वजह से उनके अंदर कोई हड़बड़ी नही पैदा हो पाती थी। सही वक्त आने का वह इंतजार करते थे। हकीम अजमल खां की मृत्यु के करीब छह हफ्ते बाद, फरवरी, 1928 मे होने वाली सभा मे, वह कुछ भी नही बोले थे। अजमल जामिया फंड के लिए, जिस नाम से ही फरवरी वाली उस सभा में उपस्थित नेताओ ने जामिया के लिए धन-संग्रह की व्यवस्था की थी, जब एक ऐसे मुसलमान धन-कुबेर ने, जो हकीम अजमल खां की ही कृपा की बदौलत धनी हुए थे, सिर्फ 250 रुपये जैसी क्षुद्र रकम चदे में दी, तभी उन्हे लगा होगा कि इस फड मे कुछ ज्यादा रकम शायद ही आए। हुआ भी वैसा ही, और उस फड के लिए सिर्फ 15,000 रुपये इकट्ठे हो सके। अगले साल, समुचित तैयारी के बाद, वह सिर्फ एक ही जगह, मद्रास के सेठ जमाल मुहम्मद और उनके घर वालो, से करीब-करीब इसकी दुगनी रकम पाने में कामयाब हो गए। 1930 के अत की ओर, कुछ महीनो के प्रचारकार्य के बाद, उन्हें 50,000 नगद दान-स्वरूप मिले, और निजाम सरकार से 1,000 रुपये माहवार की मदद का वायदा भी मिल गया। इस कामयाबी की वजह यह नही थी कि निजाम सरकार मे जो प्रभावशाली लोग थे वे जामिया मिल्लिया और उसके आदर्शों से किसी हद तक प्रभावित हो गए थे, बल्कि इसका कारण था व्यक्तियों को परखने की डा. जाकिर हुसैन की विलक्षण क्षमता, उनका कौशल और उनका लुभावना व्यक्तित्व। दरअसल उन्हें अकबर यार जंग से मदद मिली, जो कायमगज के ही थे और उनके रिश्तेदार भी, लेकिन अकबर यार जंग ने सिर्फ बिना खर्च उनके ठहरने और खाने-पीने का इंतजाम कर दिया था और काम के कुछ लोगों से उन्हे मिलवा दिया था। निजाम सरकार की कौंसिल से इस मदद को मंजूर करा लेने के लिए बड़े ही दांवपेचों और हिकमत

की जरूरत थी। फिर भी इस मदद के मामले मे, ठीक आखिरी वक्त पर, कौंसिल के एक बड़े ही दकियानूस और राजभक्त सदस्य, निजामत जग के कहने से, एक बड़ी ही भद्दी शर्त लगा दी गई थी, कि इस रकम की अदायगी दिल्ली के चीफ कमिश्नर की माहवारी मजूरी पर ही हुआ करेगी।

अगर हम उस सदर्भ को ध्यान मे रखें जिसमे यह हुआ, तो हमे डा जाकिर हुसैन के आत्मविश्वास और उनकी व्यवहार-कुशलता का कुछ अदाज हो सकेगा। नमक सत्याग्रह और उसके बाद का सत्याग्रह आदोलन मार्च, 1930 मे शुरू हुआ था। जामिया मिल्लिया के अध्यापक और विद्यार्थी राजनीतिक घटनाओ के प्रवाह से कभी भी अपने को अलग नही रखते थे, और उनमे से जो लोग ज्यादा जोशीले और प्रभावशाली थे वे पूरे दिल और उत्साह के साथ गाधी जी और काग्रेसी राजनीति के पक्ष मे थे। गाधी जी के स्वराज फड को पहला चंदा जामिया के ही विद्यार्थियो और अध्यापको से मिला था। हर साल 'राष्ट्रीय सप्ताह' (7 से 13 अप्रैल तक) पर सभाए होती आई थी जिनमे जोशीले भाषण दिए जाते थे; सप्ताह के आखिरी दिन, 13 अप्रैल को, छात्रावास के नौकरों का, चपरासियो का, रसोइयो का, भगियो का सारा काम अध्यापक और छात्र खुद करते थे, और एक सहभोज के साथ उस दिन का कार्यक्रम पूरा होता था। तीन-चार साल तक तो करौलबाग की एक समूची बस्ती मे सफाई का काम किया जाता रहा, जिसमे उस बस्ती के रहने वालो को भी शामिल करने की कोशिश होती थी। नमक सत्याग्रह ने एक कठिन समस्या पैदा कर दी। शफीकुर्रहमान किदवई और हाफिज फैयाज अहमद सत्याग्रह आदोलन मे सक्रिय रूप से भाग लेने का अपना इरादा पहले ही बतला चुके थे, और ऐसा ही देवदास गाधी ने भी किया था, जो तब जामिया के स्टाफ पर थे। सी कृष्णन नायर, के सी डेगा और हमीन हस्सन उन विद्यार्थियों मे थे जिन्होने भी उसमे भाग लेने का फैसला किया। यह तय किया जाना था कि जामिया का इस प्रश्न पर क्या रुख रहे ?

यह बात तो सभी मानते थे, शफीकुर्रहमान किदवई भी, कि राष्ट्रीय आदोलन मे हिस्सा लेने के लिए गुजरात विद्यापीठ या काशी विद्यापीठ की तरह जामिया मिल्लिया भी अगर अपनी पढाई का काम रोक देता है तो उसके बाद वह फिर चालू हो सकेगा या नहीं, यह उस राजनीतिक सघर्ष के परिणाम पर निर्भर करेगा। अगर आजादी हासिल हो जाती है तो जामिया मिल्लिया सबसे ज्यादा लोकप्रिय

मुस्लिम संस्थाओं में गिनी जायगी; अगर नही, तो अधिक से अधिक लगन वाले भी राष्ट्रवादी मुसलमान जामिया मिल्लिया को फिर आगे नहीं चला सकेंगे। भारतीय मुसलमान के अंदर वह लगन है ही नही जो किसी बड़ी जरूरत के वक्त छोड़ दिए जाने वाले काम को फिर से शुरू करा सके। डा. जाकिर हुसैन को अब यह फैसला करना था कि जामिया मिल्लिया का काम चलता रहे या वह बंद कर दिया जाए, और उन्होंने पक्का फैसला कर लिया कि उसका काम चलता रहेगा—यह जानते हुए भी कि इससे गलतफहमियां पैदा हुए बिना नही रहेंगी। जैसा कि उन दिनो के अपने एक भाषण में उन्होंने कहा भी था, जामिया का काम है नौजवानों को प्रशिक्षित करके ऐसे नागरिक बनाना जो आजादी की लड़ाई को जारी रख सकें और जब आज़ादी मिल जाए तब उसे सार्थक बना सकें और उसे मूर्त रूप दे सकें। अपने इस काम में कोई रद्दोबदल करने की बात उसके सामने आती ही नही है। लेकिन जो लोग सत्याग्रह आंदोलन मे हिस्सा लेना अपना कर्त्तव्य मानते हैं उन्हें जरूर ऐसा करना चाहिए। वे लोग पहले से इसकी सूचना दे दें, ताकि जामिया का शैक्षिक कार्य न रुकने पाए। 13 अप्रैल, 1930 की सभा में शफीकुर्रहमान किदवई ने सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लेने के अपने इरादे का ऐलान किया; डा. जाकिर हुसैन ने उन्हें बधाई दी और अपना यह विश्वास प्रकट किया कि उन्होंने अपनी कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही यह फैसला किया है जिसकी सभी को कद्र करनी चाहिए। और इस तरह, जहां एक ओर जामिया मिल्लिया पहले की ही तरह अपने काम मे लगा रहा, वहां दूसरी ओर शफीकुर्रहमान किदवई, हाफिज फैयाज अहमद और सी. के. नायर ने सरकार-विरोधी कार्रवाइयो मे प्रमुख हिस्सा लिया। सितंबर में डा. जाकिर हुसैन उसी संस्था के लिए धन-संग्रह करने हैदराबाद जा पहुंचे, जिसने इन विद्रोहियो को पैदा किया था, और पूरी तन्मयता और लगन के साथ अपने काम मे लगे रहे।

20 मार्च, 1931 को होने वाली कार्यकारिणी समिति की बैठक में उन्होंने निजाम सरकार से तदर्थ सहायता की प्राप्ति और एक माहवारी रकम के वायदे की विधिवत घोषणा की। रुपये की कीमत मे गिरावट आ गई थी, और उस समय से अनुदानों और दानों के रूप मे मिलने वाली रकमो से जामिया निवासियो को कितनी बड़ी राहत मिली थी इसका अंदाज कर सकना मुश्किल है। लेकिन

तदर्थ अनुदान एक इमारत के लिए था, और मासिक अनुदान वाली रकम को ही वेतनो या दूसरे रोजमर्रा के खर्चों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था, जिन मदो मे ही भारी कठिनाई का सामना करना पड रहा था। जब यह बात मालूम हुई थी कि चीफ कमिश्नर सर जान थामसन ने इस बिना पर उसकी अदायगी रुकवा दी थी कि जामिया मिल्लिया ने सत्याग्रह आदोलन मे हिस्सा लिया है, तब जबर्दस्त मायूसी पैदा हो गई थी। मगर सही तौर पर इसे साबित नही किया जा सकता था। इसके अलावा, चीफ कमिश्नर ने जब निजाम सरकार के पास अपनी नामजूरी की खबर भेजी तब तक वाइसराय लार्ड इर्विन गाधी जी के साथ समझौते की बात चलाने के लिए उन्हें जेल से रिहा करके अपना पहला कदम उठा चुके थे, और 5 मार्च को गाधी-इर्विन समझौता हो चुका था। फिर भी, चीफ कमिश्नर का भारत-विरोधी रुख जाना हुआ था, और इसमे संदेह नही कि उनका यह मानना बिलकुल ही निराधार नही था कि जामिया के लोग सरकार के भक्त नही हैं। इसलिए वह अनुदान दिया जाना वह भला कैसे मजूर कर लेते। डा. ज़ाकिर हुसैन उनसे मुलाकात करने के लिए जब रवाना हुए तब मेरे सामने घोर निराशा ही थी। मैं उन दिनो उन्ही के घर रहता था, और मेरी आखो के सामने आज भी वह तस्वीर साफ है जब वह अपनी सफेद-बुर्राक पोशाक मे चेहरे पर एक तनाव लिए, तागे पर जा सवार हुए थे, और मुझे यही लगा था कि वह एक ऐसे काम पर जा रहे हैं जहां से उन्हे खाली हाथ ही लौटना पड़ेगा, और जो ध्येय उनके सामने है उसकी पूर्ति की आशा अगर किसी को रह गई है तो अकेले उन्ही को।

अपनी उस मुलाकात के बारे मे उन्होने न वहा से लौटने के बाद ही तफसील के साथ बताया, न कभी बाद को ही लेकिन बार-बार पूछे जाने पर उनसे मैंने इतनी जानकारी जरूर हासिल कर ली कि थामसन यों जरूर कठोर प्रशासक दिखाई देते हैं, लेकिन बातचीत के दौरान वह सफाई पर सफाई देते रहने के लिए ही मजबूर कर दिये गए, और वह भी समझ गए कि जामिया के खिलाफ उन्होने जो कार्रवाई की है उसे उचित ठहराने के लिए कोई ठीक दलील उनके पास नहीं है जो भी हो, डा. ज़ाकिर हुसैन उन्हे अपना फैसला वापस लेने के लिए राजी नही कर सके। लेकिन सद्भावपूर्ण वातावरण मे दोनों की मुलाकात इस जगह आकर, खत्म हुई, कि इस मामले पर फिर दोनों के बीच बातचीत होगी। लेकिन थामसन फिर

सेवा-निवृत्त हो गए, और उनके उत्तराधिकारी जानसन यों तो काफी खेद प्रकट करते जाने पड़े, लेकिन डा जाकिर हुसैन से उन्होंने अभी रुकने के लिए ही कहा। आखिर चार साल बाद ही कहीं जाकर उस अनुदान को मंजूरी मिली, और साथ-साथ बकाए की पिछली रकम भी वसूल हो गई।

डा. ज़ाकिर हुसैन की ही यह खूबी थी कि भारी आर्थिक तंगी वाले दिनों में भी उन्होंने विदेशी अतिथि-प्राध्यापकों को आमंत्रित करने की योजना बनाई। डा. अंसारी को यह खयाल पसंद आया, और उन प्राध्यापकों को अपना अतिथि बनाने की बात उन्होंने अपनी ओर से रखी। 1933 में हुसैन रऊफ बे आए, 1934 में काहिरा के डा. वहज्जत वाह्वी, और 1935 में हालिदा अदीब हानूम। हुसैन रऊफ बे प्रथम महायुद्ध में 'हमीदिया' नाम ध्वंसक युद्धपोत के कप्तान थे, और उन के कारनामे 'एमडेन' जैसे ही थे, हालांकि उससे कहीं ज्यादा छोटी परिधि में। उन्होंने ही अपने देश की ओर से मुद्रोस की विराम-संधि पर हस्ताक्षर किए थे, और तुर्की के राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के प्रमुख नेताओं में थे। कमाल अतातुर्क के साथ मतभेद हो जाने की वजह से उन्होंने अपना देश छोड दिया था, और भारत की इस यात्रा पर आने से पहले कई साल से पेरिस में रह रहे थे। हलीदा अदीब ने एक लेखिका तथा समाज-सुधारक के रूप में न केवल तुर्की मे ख्याति पाई थी बल्कि पश्चिमी जगत मे भी। लेकिन भारतीय नेताओं का न उन्ही की ओर ज्यादा ध्यान जा सका और न हुसैन रऊफ बे की ओर ही, क्योंकि वे लोग अपने ही मसलों मे उलझे हुए थे। मगर इस तरह जामिया के बारे में जानने वालो का दायरा बढा। हलीदा अदीब की व्याख्यानमाला बाद को 'कनफ्लिक्ट आफ ईस्ट एंड वेस्ट इन टर्की' (तुर्की में पूरब और पश्चिम का संघर्ष) के नाम से प्रकाशित हुई।

1935 के आरंभ मे दी गई इस व्याख्यानमाला के प्रकाशन के लिए तभी इसके संपादन का भार मुझ पर डाला गया था, और चूकि डा. जाकिर हुसैन ने महसूस किया कि मेरे ऊपर यों ही काफी भार है, इसलिए उन्होंने मेरी मदद करना जरूरी समझा। शाम हो गई, और कुछ देर बाद उन्होंने आंखो में तकलीफ बताई। देखते ही देखते वह दर्द इतना ज्यादा बढ गया कि लिखने का काम उन्हें बंद कर देना पडा 'शायद यह उस बीमारी का ही पहला लक्षण था जिसका निदान बाद को

ग्लाकोमा' के रूप मे किया गया। लेकिन उस दर्द के दौरे के गुजर जाने के बाद जब कभी भी कोई उन्हे उसकी याद दिलाता था और इलाज कराने का सुझाव पेश करता था तो वह खीज उठते थे। बल्कि उलटे वह अपने ऊपर और भी ज्यादती करते चले गए। यह कोई नई बात नही थी। 1932 मे उन्हें इलाहाबाद की हिंदुस्तानी अकादमी मे एक व्याख्यानमाला के लिए आमंत्रित किया गया था। व्याख्यान उर्दू मे होने थे, और विषय था: 'अर्थशास्त्र : उद्देश्य और पद्धतियां।' हमेशा की तरह, अपने दोस्तो के साथ उन्होने सलाह-मशविरा किया, कि विषय का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाए और लिखने की योजना का रूप क्या हो। लेकिन कागज पर उन्होने एक लाइन भी नही लिखी, और सिर्फ तीन दिन बाकी रह गए। तब जाकर वह लिखने के लिए बैठे, और अड़तालीस घटे तक करीब-करीब लगातार ही, सिर्फ खाने और नीद ले लेने के थोड़े-थोड़े वक्त को छोड, लिखते चले गए, और इलाहाबाद वाली आखिरी गाडी के वक्त तक उसे पूरा कर डाला। यह एक तरह की अति थी, पर तंदुरुस्ती के लिए यह इतनी नुकसानदेह नही जितनी कि एक दूसरी अति, जिसकी उन्हे कुछ ज्यादा आदत पड गई थी। 1936 की शरद ऋतु मे एक दिन वह दफ्तर से सवेरे ग्यारह बजे घर आए; उन्हे भूख लगी हुई थी। जल्दी-जल्दी उनके लिए कुछ खाने के तैयार किया गया और उन्होने जी भर कर खाया। करीब बारह बजे अलीगढ से एक दोस्त आ पहुंचे। उनके लिए खाना बनाया गया और डा जाकिर हुसैन भी बदस्तूर खाने मे शामिल हुए, मगर रस्म-अदाई की खातिर नही, बल्कि पूरी तरह से। मुश्किल से उनका वह दूसरा खाना खत्म हुआ था कि नई दिल्ली के एक दोस्त, जो उन्हे दोपहर के खाने की दावत दिए हुए थे, अपनी मोटर से उन्हे लिवा जाने के लिए आ गए। डा जाकिर हुसैन इस दावत की बात बिलकुल ही भूल गए थे और उन्होने माफी चाही, मगर उन दोस्त की स्त्री ने उनकी जानी हुई पसद की चीजें तैयार करने मे बडी मेहनत की थी, इसलिए वह किसी तरह भी उन्हे छोड़ने को तैयार नही हुए। लाचार डा जाकिर हुसैन को उनके साथ जाना पडा, और चूकि वह इस सिद्धात के मानने वाले थे कि अगर कोई काम किया जाए तो पूरी लगन के साथ किया जाए, इसलिए उन्होने सिर्फ खाया नही, बल्कि पूरा स्वाद ले-ले कर, और दोस्त की स्त्री द्वारा अपनी खातिर बनाए गए हर खाने की तारीफ करते गए।

अगले ही दिन ग्लाकोमा का जबर्दस्त दौरा हुआ और वह घंटों एक ऐसी यंत्रणा भोगते रहे जैसी पहले कभी नही भोगी थी।[1]

जो कुछ उन्होने किया था वह गलत था, इसमे शक नही। लेकिन प्रकृति और बुद्धिमानी के विपरीत उन्होने जो कुछ किया था उसे हम उनसे अलग करके नही देख सकते। मुस्लिम सस्कृति मे अच्छे खाने को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और आदमी के लिए उसे खुदा की एक नियामत माना गया है जिसके लिए उसका शुक्रगुजार होना जरूरी है। मुसलमान जब किसी की खातिरदारी करे तब वह मेहमानो की पूरी आवभगत ही न करे बल्कि उन्हे उनकी पसंद का ही खाना खिलाए। ठीक इसी तरह मेहमान के लिए भी लाजिमी है कि उसके सामने जो आए उसे स्वाद के साथ ही नही इतनी ज्यादा मात्रा मे खाए कि मेजबान संतुष्ट हो जाए। कम खाना या यह न दिखलाना कि खाना उन्हें बड़ा अच्छा लग रहा है, मेजबान के दिल को ठेस पहुचा सकता है, और ऐसा हर्गिज नही होना चाहिए। इस तरह, मुस्लिम संस्कृति के अनुसार सामाजिकता का सर्वमान्य आधार आपसी बातचीत,और खाने-पीने की इच्छा तथा उसकी तारीफ करना ही है। डा. जाकिर हुसैन अगर खाने-पीने के शौकीन न होते तब भी जो सामाजिकता उनकी प्रकृति में ही थी, और जो उनकी सस्कृति द्वारा भी सराहनीय थी, केवल उसी के कारण उन्हे यह दिखाने के लिए बाध्य होना पड़ता कि वह अच्छे खाने के शौकीन हैं, और इसे साबित करने के लिए उसी तरह खाना भी पड़ता था। जो लोग उनके प्रशंसक थे और उनकी सोहबत चाहते थे उन्हें भी, उसी प्रकार, अच्छे से अच्छे खाने की उन्हे दावत देनी होती थी और यही मान कर चलना होता था कि परोसी हुई हर चीज वह खूब डट कर खाएंगे। यहा तक कि जब यह बात प्रकट

---

[1]दिल्ली में कुछ प्रारंभिक चिकित्सा कराने के बाद डा. जाकिर हुसैन आखो वाले एक जर्मन सर्जन से अपनी खराब आख के शल्योपचार के लिए बबई चले गए। मगर खासी-जुकाम की वजह से शल्योपचार को स्थगित करना पड़ा। तब आप हसी-खुशी धनसग्रह के एक दौरे पर निकल पड़े और अपनी खासी और भी बढ़ा कर लौटे। तब शल्योपचार के लायक बनाने के लिए उन्हें कड़ी दवाइया देनी पड़ी।

इस चिकित्सा और शल्योपचार के वक्त वह डा. के. ए हमीद के घर पर ठहरे थे। डा. और श्रीमती हमीद ने जिस स्नेह और हार्दिकता के साथ उनकी देखभाल की थी उसकी वह गहरी कृतज्ञता के साथ याद करते थे।

थी कि वह मधुमेह रोग से ग्रस्त है और चावल और मिठाइयां और गरिष्ट भोजन करना उनके लिए मना है तब भी मैं जामिया के अपने सहयोगियों को इस बात के लिए तैयार नहीं कर पाया कि उन्हें जब वे दावत दें तो दावतों वाला खाना न खिला कर ऐसा सादा भोजन कराएं जो उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकर न हो। यह बात नहीं कि उनके स्वास्थ्य की चिंता उन्हें मुझसे कुछ कम थी; मगर उनके लिए यह बात अकल्पनीय थी कि उस तरह के मेहमान को बिलकुल मामूली और बेलज्जत खाना खिलाया जाए।

मगर डा. जाकिर हुसैन को भी मैं निर्दोष नहीं सिद्ध करना चाहता। बढ़िया खाना खाने से अपने को वह रोक ही नहीं पाते थे।[1] लेकिन अगर हम आचार-व्यवहार के उनके उस समूचे स्वरूप पर भी ध्यान दें जिसके कि वह खुद भी कायल थे, तो हम देखेंगे कि वह भी अपने हर दिन की खुराक लेते वक्त शुक्रगुजार

---

[1]खानेपीने का जब उनका सख्त परहेज चल रहा था उन्हीं दिनों एक बार मैंने उनके साथ हैदराबाद की यात्रा की थी। रवाना होने से पहले मैंने उनसे कहा कि रेस्तोरां-कार से जो खाना मैं मंगा कर दूं वही वह खाएंगे, और कुछ भी नहीं। "जो ठीक समझो, करो। मैं तो अब तुम्हारी ही मेहरबानी पर हूं," उन्होंने जवाब दिया। चौबीस घंटे तक तो मेरी ही चली। वर्धा स्टेशन पर रेवड़ी बेचने वाला एक लड़का आकर हमारे डब्बे के दरवाजे के सामने खड़ा हो गया और रेवड़ी खरीदने के लिए खुशामद करने लगा। मैंने उसे भाग जाने के लिए कहा। मगर डा. जाकिर हुसैन बिगड़ खड़े हुए, "तुम्हें किसी का कोई ख्याल नहीं, किसी पर रहम नहीं है? यह गरीब लड़का कुछ बेचना चाहता है और तुम इतने सख्तदिल हो कि उससे दो पैसे की चीज भी नहीं खरीद सकते।" आखिर मुझे झुकना पड़ा, और दो पैसे की रेवड़ियां खरीद लेनी पड़ीं। लेकिन रेवड़ियों वाली पुड़िया को मैं अपनी बंद मुट्ठी में कस कर पकड़े रहा। जब उन्होंने देखा कि मैं उन्हें रेवड़ी देने वाला नहीं हूं तो बोले, "यह अच्छा तमाशा है। रेवड़ी नहीं खरीदनी थी तो न खरीदते लेकिन जब खरीद ही लीं तो इन्हें न खाने का क्या मतलब?" मैंने सबसे छोटी दो रेवड़ियां चुन कर निकालीं और उन्हें दे दीं। फिर मैं मौके की ताक में रहा कि बाकी को अपने बिस्तरे के नीचे छिपा दूं। कोई घंटे भर बाद मुझे फिर उन रेवड़ियों का खयाल आया और देखने की इच्छा हुई कि आखिर वह अपनी जगह पर हैं तो। मगर वहां तो पुड़िया वाला वह कागज ही बाकी था। मैं जब गुसलखाने में था, रेवड़ियां तभी गायब हो चुकी थीं। मैंने शक की निगाह से डा. जाकिर हुसैन की ओर ताका। मगर हज़रत के चेहरे पर सिवा एक भोली अदा के और कुछ नहीं था।

महसूस करते थे, हालांकि जैसा खाना उन्हे मिलता था वह उनकी मुख्तसर-सी आमदनी के हिसाब से ही हो सकता था। गेर्डा फिलिप्सबार्न ने एक बार उनके शाम के खाने के लिए जर्मन तरीके से कलेजी और प्याज का एक खाना बनाया। वह आ नही सके, तो उन्होंने अगले दिन के भोजन के लिए उसे उठा कर रख दिया। मौसम गरमी का था और अगले दिन तक गोश्त खराब हो चुका था। डा. जाकिर हुसैन जब आए तो अपने साथ अपने सहयोगी हमीद अली खा को भी लेते आए। कलेजी को चखने के बाद डा. जाकिर हुसैन ने हमीद अली खा को उसे न खाने की सलाह दी। नतीजा यह हुआ कि गेर्डा फिलिप्सबार्न और हामिद अली खा ने तो ताजी पकाई हुई सब्जिया खाईं और डा. जाकिर हुसैन ने पूरी की पूरी कलेजी खुद खा डाली। बाद को जब उन्हे यकीन हो गया कि वह बच जाएगे तब कही जाकर उन्होंने हमीद अली खा को उस गोश्त के खराब हो जाने वाली बात बताई और इस बात की सफाई पेश की कि सिर्फ उन्होंने ही उसे क्यो खा डाला।

आचार-व्यवहार के इस रूप को पूरी तरह निभाने वाले मुसलमान पर इस बात की भी पाबंदी है कि आए हुए किसी मेहमान को वह लौटा न दे, क्योकि वह जरूरतमद हो सकता है। डा. जाकिर हुसैन जब नयाचार (प्रोटोकोल) के बंधन मे बंध गए उसके बाद भले ही कभी ऐसे मौके आए हो कि उसकी वजह से वह लोगों से न मिल पाए, लेकिन बिहार के राज्यपाल बनने से पहले तक कोई भी उनसे मिलने के लिए पहुंच सकता था और वह इंकार नही कर सकते थे। फिर उनके अपने लिए उसका चाहे जो नतीजा भी हो।

एक बार काफी तेज बुखार लिए वह अपने बिस्तरे पर घर में अकेले ही पड़े रहे। बेगम ज़ाकिर हुसैन कायमगंज गई हुई थी; नौकर लड़का भी कही गया हुआ था। उनके सेक्रेटरी को, जो अलग ही रहते थे, उनकी हालत के बारे मे कुछ पता नही था। किसी आगंतुक ने दरवाजे पर दस्तक दी, और जब कोई बाहर नही निकला, तो सीधे अंदर चला आया और डा. ज़ाकिर हुसैन के बिस्तर के नजदीक बैठ गया। वह एक अपरिचित आदमी था जिसने अपने हालात और जरूरतों के बारे मे एक बड़ी भूमिका पेश करने के बाद कुछ रुपये मांगे। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसे बताया कि वह बीमार हैं, उनकी स्त्री बाहर गई हुई हैं,

और इस वक्त देने के लिए उनके पास कुछ भी रुपये नही हैं। "आप जो कह रहे हैं वह ठीक ही है। मैं देख ही रहा हू कि आप बीमार हैं, और जब आप कहते हैं तो यह भी सही ही होगा कि आपकी बेगम साहेबा भी यहा नही हैं। यह भी सही हो सकता है कि आपके पास रुपया नही है। लेकिन जब मैंने एक माग पेश की है, तब आप उसे ठुकरा कैसे सकते हैं ?" डा. ज़ाकिर हुसैन के पास इसका कोई जवाब नही था। उस अजनबी को उन्होने अपने सेक्रेटरी का नाम बताया और यह भी कि वह उस वक्त कहा होगे। वह व्यक्ति भी उसी दम जाकर सेक्रेटरी को लिवा लाया। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनसे कहा कि वह कही से कर्ज लेकर इस व्यक्ति ने जितना रुपया मांगा है दिला दें।

इस तरह की सबसे जबर्दस्त मिसाल मुझे उन दिनो देखने को मिली जबकि उन पर ग्लाकोमा का पहला दौरा पडा था। वह बिस्तर पर पडे दर्द से छटपटा रहे थे, कमरे के दरवाजे बद थे और उनके कुछ दोस्त पहरे पर थे, ताकि कोई उन्हे परेशान न करे। लेकिन किस्मत की बात, कि तभी पजाब के किसी स्थान से एक मुसलमान सज्जन आ पहुचे और उनसे मिलना चाहा। उन्हे बताया गया कि डा. जाकिर हुसैन सख्त बीमार हैं और किसी से मिल नही सकते। लेकिन आगतुक टस से मस न हुए, और बोले कि वह इतना रास्ता तय करके पजाब से आए हैं, डा. जाकिर हुसैन से मिले बिना हर्गिज वापस नही जाएगे। यह देखकर कि हम भी उन्हे अदर न जाने देने पर तुले हुए हैं वह और भी जोर-जोर से चिल्लाने लगे। आखिरकार हम लोगो के झगड़े की आवाज डा. जाकिर हुसैन तक भी पहुच गई और उन्होने जानना चाहा कि बात क्या है। उन्हे उस जिद्दी आदमी के बारे मे बताया गया और यह भी कि उसे कितना समझाया-बुझाया गया है कि वह जरा आपकी तकलीफ का खयाल करे। डा जाकिर हुसैन ने उस व्यक्ति को अदर ले आने के लिए कहा। जब उनके दोस्तो ने इकार कर दिया तो वह बहुत ही बेचैन हो उठे और यह धमकी तक दे डाली कि अगर उस व्यक्ति को अंदर नही आने दिया गया तो वह खुद उठकर बाहर जाएगे। उनके दोस्तो को तब मजबूर हो जाना पडा।

उनके इस तरह के व्यवहार का ही एक दूसरा पहलू तब देखने को मिला जब कि 1933 मे उनकी शिशु कन्या रिहाना चल बसी। बडी प्यारी बच्ची थी—गुलाबी गाल, भूरे बाल और बडी-बड़ी गभीर आखें। डा. जाकिर हुसैन उसे

बहुत प्यार करते थे। इम्तिहान मे पास होने वाले प्राइमरी स्कूल के लडको को वह मिठाइया बाट रहे थे जब एक चपरासी ने आकर उनके कान में कुछ कहा। वह उसी तरह मिठाई बाटते रहे। कुछ देर बाद फिर वह चपरासी आया और फिर उनके कान मे कुछ कहा। डा. जाकिर हुसैन का चेहरा एकदम पीला पड़ गया, मगर मिठाई बाटने का काम उन्होने नही रोका। इसी बीच जोर-जोर से घंटा बजना शुरू हुआ और बजता ही चला गया। लोगो के बीच खलबली मच गई, कि बात क्या है। पता चला कि बिलकुल अचानक ही रिहाना चल बसी।[1] सारा कामधाम बंद हो गया और जामिया के लोग डा. जाकिर हुसैन के घर पर इकट्ठे होने लगे। वह खुद सबसे आखिर मे पहुंचे। देर की वजह पूछे जाने पर बोले कि यह बुरी खबर उन्हें मिल तो गई थी, मगर वह स्कूल के एक समारोह मे शरीक थे और बच्चे इतने खुश दिखाई दे रहे थे कि वह उन्हें बीच में ही छोड़कर नही आ सकते थे। कुछ गुमसुम से जरूर नजर आए, मगर वैसे उनमे कोई खास फर्क नही दिखाई पड़ रहा था; उन्होंने यह जाहिर नही होने दिया कि वह अपनी एक बहुत ही प्यारी बच्ची का अतिम सस्कार कर रहे हैं। बाद को मैंने बेगम जाकिर हुसैन की जबानी सुना कि कई दिन तक रोज सवेरे उनका तकिया गीला पाया गया; तभी वह भी जान पाई कि वह सारी रात रोते रहे थे।

मुसीबत और तकलीफ के वक्त वह कहां से सहारा लेते थे? अगर उनसे यह सवाल किया जाता तो यह इसका जवाब देते ही नहीं। अपने सहयोगियों से वह कहा करते थे कि हर बीते हुए दिन के लिए हमें शुक्रगुजार होना चाहिए। या कभी-कभी वह उनसे यह भी कहा करते थे कि अगर किसी लक्ष्य को सामने रखकर हम चल रहे हैं तो इतना ही काफी है: सारी बातों को देखा जाए, तो किसी आदमी की जिंदगी की कीमत ही क्या है? उनके अदर एक ऐसी विनोदशीलता थी कि जिन लोगों के बीच वह जिस वक्त होते थे सिर्फ उन्ही के बीच जान नही डाल देते थे बल्कि खुद भी रोजमर्रा की चिंता से इतने ऊंचे उठ जाते थे कि हास-परिहास के वक्त अपने को भी नही बख्शते थे। उनकी जिंदगी को गढ़ने मे गांधी जी के व्यक्तित्व का जबर्दस्त असर था, मगर उन्होने एक बार नही कई बार यह बात कही थी कि गांधीजी की जिस बात ने उन्हें सबसे ज्यादा लुभाया

[1] उनकी मृत्यु हृदय की किसी क्रिया की गड़बड़ी से हुई।

मया मिल्लिया की रजत जयंती के अवसर पर भारतीय नेताओं को संबोधित
ो हुए उन्होंने जो कुछ कहा था उसमे हम काफी स्पष्टता के साथ उनके चिंतन
:उनकी भावना की उस पूरी गहराई को देख पाते हैं जो उनकी पसंद
ेरो के ही इर्द गिर्द उनकी विचार प्रणाली को स्पष्ट करती है। उनके चिंतन
ढाचा और वे शेर जो उस पूरे खाके की मूलभूत इकाइयों के रूप में थे, इस
तक एक-दूसरे मे गूथे हुए हैं कि उनका विकास उनके दिमाग मे जरूर ही एक
अरसे से साथ-साथ होता आया होगा। इस संयोग को हम किसी तरह की
या साहित्यिक कारसाजी नही मान सकते, विचार और उसकी अभिव्यक्ति
ीच जो आभ्यतरिक सामजस्य है वह बहुत ही साफ तौर पर एक गहन और
ड सच्चाई की उपज है।

हले वह अपनी धर्मनिष्ठा की घोषणा करते हैं। "सार्वजनिक सेवा का कोई
। अगर हम ऊचे इरादो से अपने हाथो मे लेते हैं—अल्लाह ताला की खिदमत
लए, तो चाहे जितनी भी सख्तिया झेलनी पडें और कड़े-से-कड़े इम्तिहानो मे
ुजरना पडे, वह भी मदद करने के लिए अपना हाथ बढ़ाता है जिसकी
ुमत मे हमने वह काम सभाला है और लड़खड़ाते कदमो को वह मजबूती
है, दिल के टूट-टूट जाने पर भी वह उसे फिर पुख्ता बना देता है।" इसके
शायर नजीरी का एक शेर सुनाया .

दिल शकस्तः दरां कूए मी कुनंद दुरुस्त
चुनांके खुद नशनासी के अज कुजा बशकस्त

ो—उस गली मे तेरे चुटीले दिल का ऐसा इलाज हो जाएगा, कि तुझे लगेगा,
कभी कोई दर्द था ही नहीं।

और, कुरान की भी दो आयतें—प्रभावशाली बनाने के लिए दो बार कही
। वाली एक स्वीकारात्मक उक्ति :

'दरअसल हर सख्ती के बाद आराम भी आता है। हर सख्ती के बाद आराम
आता है।"[1]

जामिया मिल्लिया की स्थापना जिस आदर्शवाद के कारण हुई थी और अपने
तत्व को कायम रखने के लिए उसे जो संघर्ष करना पड़ा था उनकी भूरि-भूरि

---

[1]कुरान—94, 5-6।

सराहना करने के बाद उन्होंने उससे हमदर्दी रखनेवाले उन लोगो को, जो उसकी अभावग्रस्तता पर तरस खाते हैं, सुनाते हुए एक शेर कहा :

व सादगीए तो रहम आमदम दरीं बाजार
के तंग दस्तीओ उम्मीदवार भी गुजरी

यानी—तेरे भोलेपन पर मुझे तरस आता है; इस बाजार मे आकर तू खाली हाथ और चेहरे पर उम्मीद लिए लौट जाता है ! और फिर उन लोगों का, जो अपने आदर्श की खातिर गरीबी को गले लगाने को तैयार हैं, यह मुहतोड़ जवाब :

उर्फी दिले आबाद बयक जौ न खुरद इश्क
मन हम दिले वीरां ब दो आलम न फरोशम

यानी—ऐ उर्फी,[1] जौ के एक दाने से प्रेम किसी प्रसन्न और संतुष्ट हृदय को नही खरीद सकता; और मैं भी अपने टूटे हुए दिल के बदले मे सारी पृथ्वी और आकाश को भी नही लूंगा।

आदर्श की ओर, सच्ची शिक्षा के आदर्श की ओर, दृढतापूर्वक बढते जाने के दृढ़ सकल्प की परीक्षा इस बात मे है कि वह कितने लंबे वक्त तक अडिग रहता है। राजनीति जहा तीव्र गति की माग करती है, वहा शिक्षा अध्यवसाय की। राजनीतिक कार्यक्रम जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं; लेकिन शिक्षा का तो सर्वप्रथम ध्येय ही इतना व्यापक है कि उसकी उपलब्धि की प्रक्रिया कभी भी पूरी नही होती। यह कोई ऐसी मजिल नही है जहा हम जाकर ठहर जाएं, बल्कि एक दिशा है जिसकी ओर हम बढ़ते रहते हैं :

मसाले आलमियां दम ब दम दिगर गूनस्त
मनम के मुद्दते उम्रम ब यक मलाल गुजिश्त

यानी—नई-नई इच्छाओं और क्षणिक स्वप्नो के पीछे दौड़नेवालों को दुख ही दुख मिलता है और इधर मैं हूं कि सिर्फ एक दुख दिल मे लिये मैंने सारी उम्र गुजार दी।

शिक्षा के ध्येय भले ही सदा के लिए एक साथ उपलब्ध न हो पाए, लेकिन शिक्षक की एक प्राकृतिक अवधि है। जब उसके अंदर ताकत नही रह जाती और वह आगे नही बढ़ पाता तब वह किस तरह अपने को तसल्ली दे ? इसका जवाब गालिब देता है :

---

[1]शायर का तखल्लुस।

आमुख्ताएम हर सरे खारे ब खूने दिल
कानूने बागबानीए सहरा नविश्ता एम

यानी—रेगिस्तानो मे बाग लगाने के कानून हमने अपनी जिंदगी के ही खून में डुबा-डुबाकर काटो से लिखे हैं।

जामिया मिल्लिया की आकांक्षा यह थी कि शिक्षा की एक ऐसी पद्धति का वह विकास करे जो ईश्वर-निष्ठा और ज्ञान के बीच एक सहज समन्वय स्थापित करे। उनकी अभिधारणा ने जो रूप ग्रहण किया था कि आधुनिक विश्वविद्यालयों और ईश्वरपरक शिक्षणालयो के बीच मेल बिठाया जा सकता है, और राष्ट्रवादी 'उलमा' की मूलभूत धारणा भी यही थी। उन सभी अच्छे मुसलमानो को जिन्होंने इनमें से एक भी प्रकार की संस्था पर गभीरतापूर्वक विचार नही किया था, यह विचार बडा आकर्षक लगा था। किंतु यह दावा आसानी से किया जा सकता था कि यह विचार वस्तुत. ईश्वर-निष्ठापरक नही था बल्कि ज्ञान की रहस्यवादी धारणा के अनुरूप था, और डा. जाकिर हुसैन अक्सर रूमी का यह शेर सुनाया करते थे :

इल्म रा बर तन जनी मारे बुवद
इल्म रा बर दिल जनी यारे बुवद

यानी—अगर बदन पर चोट कर, तो ज्ञान एक सांप है; उसके दिल पर चोट कर, तो वह तेरा दोस्त है, दोस्त।

रूमी मे उन्हे उन लोगो के लिए भी जवाब मिल गया था जो यह जानना चाहते थे कि इस तरह के ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है :

तिश्नगां जूयन्द आब अंदर जहां
आब हम जूयद ब आलम तिश्नगां
आब कम जू तिश्नगी आवर बदस्त
ता बजोशद आब अज बालाओ पस्त

यानी—प्यासा सभी जगह पानी ही ढूढता फिरता है : यह जान ले, कि पानी को भी प्यासे की ही तलाश रहती है। पानी न माग कर पहले प्यास जगा, फिर देख कि हर तरफ पानी ही पानी उछल रहा है या नही।

किंतु यदि हमे बिलकुल अकेले ही आगे बढ़ना पडे तो ये रहस्यवादी प्रेरणाए हमें ध्यान अथवा मनन, साधना और उपलब्धि के जिस जगत मे ले जाती हैं वह

शून्य मे ही परिणत हो जाता है। उन दिनो मुझे कभी पूरी तरह इतमीनान नही हो पाया कि डा. जाकिर हुसैन किसी शून्य की ओर ही नही बढ़े जा रहे हैं, और अपने सहयोगियो द्वारा परेशान किये जाने पर उन लोगों के चिढ़ जाने पर जब वह मेरी ओर ताकने लगते थे और रूमी का एक और शेर सुनाने लगते थे :

मनज तरीक म गोयम रफीक मी जोयम
के गुफ्ता अंद नखुस्तों रफीक बादे तरीक

यानी—मैं रास्ते की बात नही कह रहा हूं, मैं तो उसकी तलाश में हूं जो उस रास्ने पर मेरे साथ चले : कहा गया है कि रास्ते का साथी पहले, फिर रास्ता—तो मैं समझ नही पाता था कि मैं कहां पनाह लू।

उनके दिल की सबसे बड़ी तमन्ना तो यह थी, और जिन मौकों से फायदा उठाया जा सकता था वे जब-जब सामने दिखाई देते थे तो यह और भी बढ जाती थी, कि उन्हें कोई ऐसा साथी मिले जिसके अंदर भी हाथ में आए काम को पूर्णता के साथ आयोजित और संपन्न करने की वही तड़प हो जो कि उनके अंदर है। इस तरह की तमन्ना किसी ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसकी कल्पना का प्रवाह कभी रुकता नही था, और भी ज्यादा हतोत्साह कर देने वाली थी। हम देख ही चुके हैं कि जिस तेजी के साथ वह नए-नए विचारो को पेश करते रहते थे उनसे जामिया मिल्लिया के उनके सहयोगी प्रभावित भी होते थे, और उनकी हिम्मत भी टूट जाती थी। बाद को तो जो लोग उनके सपर्क मे आए वे और भी ज्यादा प्रभावित हुए, लेकिन बिना किसी परेशानी के वे अपने ही रास्ते पर बढते रहे। झेलना जो कुछ पड़ा वह सिर्फ डा. जाकिर हुसैन को, क्योंकि पूर्णता से कम मे संतुष्ट न होने वाला उनका अंत.करण अत्यंत सवेदनशील था, और उन्होंने अपनी व्यथा बिलकुल अकेले ही झेली।

जामिया मिल्लिया को गढकर तैयार करने वाले इस खास काम में डा. जाकिर हुसैन की उपलब्धियों के बारे मे हमारा मूल्यांकन किस रूप मे किया जाए—क्या इस रूप मे, कि उन्होंने रेगिस्तान में बाग लगाना चाहा ?

उनके सहयोगी जब मायूस हो जाते थे और भला-बुरा सुनाने लगते थे तो अक्सर वह यही कहते थे कि हमे कदम बढाए चलना है; हमारे धीरज का इनाम हमे आखिर मे मिल कर ही रहेगा। अपने अडे को तोड़ एक चूजा किस तरह बाहर निकल आया इसे लेकर उन्होने जो एक कहानी लिखी थी उसका एक वाक्य

सुनाते हुए वह कहते : 'चोच मारते रहो; कुछ-न-कुछ होकर ही रहेगा।' इस प्रकार, लाभ के खाते मे जो पहली बात दर्ज की जाएगी यह यह कि अपने सहयोगियो को उन्होने बिखरने नही दिया। यह एक ऐसे दृढ संकल्प का उदाहरण है जो मुसलमानो के बीच शायद ही कभी देखने को मिलता है, और ऐसी आकांक्षाओ का भी, जिन्हे दिल मे महसूस तो बहुतेरे करते हैं पर जिन्हे पूरा करने के लिए प्रयत्न करने का साहस नही होता। उनकी दूसरी सफलता इस बात मे है कि एक बहुत छोटी सस्था को, जिसे चलाना ही इतना कठिन हो रहा था, उन्होंने वह इज्जत दिला दी जो उसे सामान्यत नही मिलनी चाहिए थी। डा. जाकिर हुसैन के रहते, जामिया मिल्लिया सिर्फ अपनी इमारतो तक महदूद नही रहा, बल्कि वह आसमान छूता रहा। साथ ही उसकी भौतिक सपत्ति भी बढ़ी। 1938 तक उसने ओखला मे जमीन खरीद ली और अपने प्राइमरी स्कूल के लिए एक शानदार इमारत खडी कर ली। धन-संग्रह के लिए शफीकुर्रहमान द्वारा स्थापित 'हमदर्दाने जामिया' नामक उसका एक विभाग उसके उद्देश्यो का प्रचार करने के साथ-साथ धन-सग्रह का भी एक प्रभावशाली माध्यम बन गया था। 1938 के बाद से हमदर्दाने जामिया को मिलने वाले धन मे कमी होती गई, और डा. जाकिर हुसैन के सहयोगियो तक मे कुछ ऐसे थे जिनका खयाल था कि यदि उन्होने बुनियादी तालीम के प्रचार का काम हाथ मे न लिया होता तो यह कमी न हो पाती। एक हद तक यह सही भी था। लेकिन 1939 मे अपनी चिकित्सा कराने के लिए जर्मनी जाने से पहले डा. जाकिर हुसैन हैदराबाद से एक लाख की मदद दिलाने मे सफलता पा गए थे, और हमदर्दाने जामिया का काम भले ही एक सीमा से आगे न बढाया जा सका हो, डा जाकिर हुसैन की जिन अगणित बातो में दिलचस्पी थी उनकी बदौलत होने वाले उसके लाभो की भी कोई सीमा नही थी।

1942 मे किसी वक्त उनकी मुलाकात तबलीगी जमात के संस्थापक मौलाना इल्यास से हुई, और मौलाना उनके व्यक्तित्व से, और विचारो को भली-भांति समझने और उनका प्रतिपादन करने की उनकी क्षमता से, उनकी ओर अत्यत आकर्षित हुए। तबलीगी जमात का उद्देश्य यह था कि जिन मुसलमानो मे अपने मजहब की जानकारी भी है और उनके प्रति सजगता भी, वे उसकी हिदायतो पर खुद भी अमल करें और दल बना कर उन लोगों के बीच जाएं जो केवल

नाम के लिए मुसलमान हैं मगर इस्लाम की शिक्षाओं को जानते तक नहीं; उन्ही के बीच वे रहें और मजहब के बुनियादी सिद्धातो और आचरण पर चलने के लिए उन्हे तैयार करें; और इस तरह मुसलमानों के बीच मजहबी एकता बढ़ायी जाए। मौलाना इल्यास ने इस कार्य के प्रति अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया था, और मेवाती मुसलमानो के बीच जो धार्मिक और सांस्कृतिक जागृति पैदा हो पाई उसका प्राय: पूरा का पूरा श्रेय उन्ही के शिक्षा-प्रयत्नों को है। लेकिन अपने कार्य का विस्तार करने के लिए उन्हें शिक्षित मुसलमानो की सहायता की जरूरत थी, जिसकी वजह से ही वह दिल्ली के उच्चवर्गीय मुसलमानों के संपर्क मे आए। वक्ता के रूप मे अपनी योग्यता यहा उन्हें बहुत ही हल्की दिखाई दी, और इसलिए डा. जाकिर हुसैन से परिचय होना खुदा से की गई अपनी प्रार्थना के जवाब जैसा ही नजर आया। इधर डा. जाकिर हुसैन भी मौलना इल्यास की लगन से, और उससे भी ज्यादा, धार्मिक और सामाजिक चेतना को बढाने के उनके आदर्श और तरीके से, बहुत अधिक प्रभावित हुए। कुछ वक्त के लिए तो वह भी इस आंदोलन में पूरी तरह कूद पड़े, और मौलाना ने भी उन्हे अपना सबसे जबर्दस्त समर्थक माना। डा. जाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि जब कभी किसी समूह में वे दोनों एक साथ होते, मौलाना उनसे कहते, "भाई जाकिर, मैं तो एक सीधा-सादा आदमी हूं। मैं तो अपने खयालात को समझा तक नही सकता। तुम उन्हें मुझसे भी ज्यादा अच्छी तरह समझते हो। भाई, तुम्ही मेरी ओर से बोलो।"[1] इस संपर्क का एक अप्रत्यक्ष फल यह हुआ कि जो लोग यह समझ बैठे थे कि डा. जाकिर हुसैन पक्के मुसलमान नही हैं क्योंकि वह वर्धा योजना मे शामिल हैं, उनकी भी आखे खुल गईं। 1943 मे डा. जाकिर हुसैन धन-संग्रह के लिए जब *जामिया को मेरे ऊपर छोड़ हैदराबाद गए तब रोज की जरूरतो को* पूरा करने के लिए भी हमारे पास रुपया नही था। वह जिस दिन गए थे उसी सुबह को उनके चले जाने के बाद मुझे अपनी मेज पर एक बड़ा लिफाफा मिला। उसके अंदर 10,000 रुपयों के नोट थे, जो पिछली शाम को कोई गुमनाम

[1]लेकिन मौलाना इलियास के उपदेशों पर अमल करने की डा. जाकिर हुसैन की कोशिशें बहुत ज्यादा कामयाब नहीं हुईं। जब कभी भी वह किसी दल के साथ इस प्रकार के प्रचारकार्य के लिए बाहर गए, बीमार पड़ गए और उन्हें वापस लाना पड़ा।

सुनाते हुए वह कहते · 'चोच मारते रहो; कुछ-न-कुछ होकर ही रहेगा।' इस प्रकार, लाभ के खाते में जो पहली बात दर्ज की जाएगी वह यह कि अपने सहयोगियो को उन्होंने बिखरने नही दिया। यह एक ऐसे दृढ संकल्प का उदाहरण है जो मुसलमानो के बीच शायद ही कभी देखने को मिलता है, और ऐसी आकाक्षाओ का भी, जिन्हें दिल मे महसूस तो बहुतेरे करते हैं पर जिन्हे पूरा करने के लिए प्रयत्न करने का साहस नही होता। उनकी दूसरी सफलता इस बात में है कि एक बहुत छोटी सस्था को, जिसे चलाना ही इतना कठिन हो रहा था, उन्होंने वह इज्जत दिला दी जो उसे सामान्यतः नही मिलनी चाहिए थी। डा जाकिर हुसैन के रहते, जामिया मिल्लिया सिर्फ अपनी इमारतो तक महदूद नही रहा, बल्कि वह आसमान छूता रहा। साथ ही उसकी भौतिक सपत्ति भी बढी। 1938 तक उसने ओखला मे जमीन खरीद ली और अपने प्राइमरी स्कूल के लिए एक शानदार इमारत खडी कर ली। धन-संग्रह के लिए शफीकुर्रहमान द्वारा स्थापित 'हमदर्दाने जामिया' नामक उसका एक विभाग उसके उद्देश्यो का प्रचार करने के साथ-साथ धन-संग्रह का भी एक प्रभावशाली माध्यम बन गया था। 1938 के बाद से हमदर्दाने जामिया को मिलने वाले धन मे कमी होती गई, और डा जाकिर हुसैन के सहयोगियो तक मे कुछ ऐसे थे जिनका खयाल था कि यदि उन्होंने बुनियादी तालीम के प्रचार का काम हाथ मे न लिया होता तो यह कमी न हो पाती। एक हद तक यह सही भी था। लेकिन 1939 मे अपनी चिकित्सा कराने के लिए जर्मनी जाने से पहले डा जाकिर हुसैन हैदराबाद से एक लाख की मदद दिलाने मे सफलता पा गए थे, और हमदर्दाने जामिया का काम भले ही एक सीमा से आगे न बढाया जा सका हो, डा जाकिर हुसैन की जिन अगणित बातो मे दिलचस्पी थी उनकी बदौलत होने वाले उसके लाभो की भी कोई सीमा नही थी।

1942 मे किसी वक्त उनकी मुलाकात तबलीगी जमात के सस्थापक मौलाना इल्यास से हुई, और मौलाना उनके व्यक्तित्व से, और विचारो को भली-भाति समझने और उनका प्रतिपादन करने की उनकी क्षमता से, उनकी ओर अत्यत आकर्षित हुए। तबलीगी जमात का उद्देश्य यह था कि जिन मुसलमानो मे अपने मजहब की जानकारी भी है और उनके प्रति सजगता भी, वे उसकी हिदायतो पर खुद भी अमल करें और दल बना कर उन लोगो के बीच जाएं जो केवल

नाम के लिए मुसलमान हैं मगर इस्लाम की शिक्षाओं को जानते तक नहीं; उन्हीं के बीच वे रहें और मजहब के बुनियादी सिद्धांतों और आचरण पर चलने के लिए उन्हें तैयार करें; और इस तरह मुसलमानों के बीच मजहबी एकता बढ़ायी जाए। मौलाना इल्यास ने इस कार्य के प्रति अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया था, और मेवाती मुसलमानों के बीच जो धार्मिक और सांस्कृतिक जागृति पैदा हो पाई उसका प्रायः पूरा का पूरा श्रेय उन्हीं के शिक्षा-प्रयत्नों को है। लेकिन अपने कार्य का विस्तार करने के लिए उन्हें शिक्षित मुसलमानों की सहायता की जरूरत थी, जिसकी वजह से ही वह दिल्ली के उच्चवर्गीय मुसलमानों के संपर्क में आए। वक्ता के रूप में अपनी योग्यता यहां उन्हें बहुत ही हल्की दिखाई दी, और इसलिए डा. जाकिर हुसैन से परिचय होना खुदा से की गई अपनी प्रार्थना के जवाब जैसा ही नजर आया। इधर डा. जाकिर हुसैन भी मौलना इल्यास की लगन से, और उससे भी ज्यादा, धार्मिक और सामाजिक चेतना को बढ़ाने के उनके आदर्श और तरीके से, बहुत अधिक प्रभावित हुए। कुछ वक्त के लिए तो वह भी इस आंदोलन में पूरी तरह कूद पड़े, और मौलाना ने भी उन्हें अपना सबसे जबर्दस्त समर्थक माना। डा. जाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि जब कभी किसी समूह में वे दोनों एक साथ होते, मौलाना उनसे कहते, "भाई जाकिर, मैं तो एक सीधा-सादा आदमी हूं। मैं तो अपने खयालात को समझा तक नहीं सकता। तुम उन्हें मुझसे भी ज्यादा अच्छी तरह समझते हो। भाई, तुम्हीं मेरी ओर से बोलो।"[1] इस संपर्क का एक अप्रत्यक्ष फल यह हुआ कि जो लोग यह समझ बैठे थे कि डा. जाकिर हुसैन पक्के मुसलमान नहीं हैं क्योंकि वह वर्धा योजना में शामिल हैं, उनकी भी आंखें खुल गईं। 1943 में डा. जाकिर हुसैन धन-संग्रह के लिए जब जामिया को मेरे ऊपर छोड़ हैदराबाद गए तब रोज की जरूरतों को पूरा करने के लिए भी हमारे पास रुपया नहीं था। वह जिस दिन गए थे उसी सुबह को उनके चले जाने के बाद मुझे अपनी मेज पर एक बड़ा लिफाफा मिला। उसके अंदर 10,000 रुपयों के नोट थे, जो पिछली शाम को कोई गुमनाम

---

[1]लेकिन मौलाना इलियास के उपदेशों पर अमल करने की डा. जाकिर हुसैन की कोशिशें बहुत ज्यादा कामयाब नहीं हुईं। जब कभी भी वह किसी दल के साथ इस प्रकार के प्रचारकार्य के लिए बाहर गए, बीमार पड़ गए और उन्हें वापस आना पड़ा।

आदमी वहां छोड़ गया था। बाद को पता लगा कि वह गुमनाम दाता एक ऐसे व्यक्ति के व्यापार में उसका साझीदार था जिसने, तीन साल पहले, इन्होंने जामिया को 10 रुपया माहवार का अपना चंदा देना बंद कर दिया था।

1943 वाली हैदराबाद-यात्रा के फलस्वरूप डा. जाकिर हुसैन को उस रियासत से मिलने वाली 1,000 रुपये मासिक की सहायता को बढ़ा कर 3,000 रुपये मासिक करा लेने में सफलता मिल गई। 1944 धीरे-धीरे जामिया की रजत जयंती के लिए धन-संग्रह का काम शुरू हो गया। यह 1945 में पड़ती थी। 'टाटा ट्रस्ट्स' जैसे कुछ दाताओं ने बड़ी शालीनता के साथ दान दिया। डा. जाकिर हुसैन श्री चोकसी से मिले, जिन्होंने डायरेक्टरों के साथ दोपहर का खाना खाने के लिए उन्हें दावत दी, और उसके बाद उन लोगों ने जामिया की तकनीकी शिक्षा के लिए सहायता की एक रकम मंजूर कर दी। लेकिन डा. जाकिर हुसैन और उनके दो सहयोगियों, शफीकुर्रहमान किदवई और मुईनुद्दीन हैरिस, को 'दर-दर' घूमना भी पड़ा, और जिस धीरज और अध्यवसाय का उन्होंने परिचय दिया वह कुछ ही लोगों के बस की चीज है। इससे उनकी सेहत पर बहुत बुरा असर पड़ा। वह फिर हैदराबाद गए, जब कि सर मिर्जा इस्माइल वहां के दीवान थे। यह एक ऐसा मौका देखने को मिला जब एक भद्र पुरुष दूसरे भद्र पुरुष के साथ उस शिष्टाचार और आदर के साथ पेश आया जिसका कि वह हकदार था। डा. जाकिर हुसैन को खुद कुछ भी नहीं कहना पड़ा। उन्हें दोपहर खाने पर दावत दी गई और 5 लाख रुपये का एक चैक उनके हवाले कर दिया गया।

जामिया को दूसरे रूपों में भी मान्यता मिलने लगी। दिल्ली के चीफ कमिश्नर सर ईवान जेनकिंस ने, 1939 के आरंभ में, डा. जाकिर हुसैन को उस स्कूल में बुनियादी तालीम का प्रयोग करने के लिए आमंत्रित किया जिसे वह ओखला में खोलने जा रहे थे। 1943 में भारत सरकार के शिक्षा आयुक्त सर जान सार्जेंट ने जानना चाहा कि अगर कोई सरकारी समिति जामिया मिल्लिया के सर्टिफिकेटों और डिगरियों को मान्यता देने की दृष्टि से उसके काम का निरीक्षण करे तो इसमें उन्हें कोई एतराज तो नहीं है।[1] एक समिति गठित की गई जिसने

[1]इसकी नौबत इसलिए आई थी कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कोर्ट में जो लोग डा. जाकिर हुसैन के समर्थक थे उनकी मांग थी कि जामिया मिल्लिया की मैट्रिक परीक्षा

जामिया मिल्लिया की सभी डिग्रियों को मान्यता देने की सिफारिश कीं। लेकिन सरकार ने सिर्फ उसके मैट्रिकुलेशन (प्रवेशिका) और शिक्षक-प्रशिक्षण वाले उपाधि-पत्रों (डिप्लोमाओं) को ही मान्यता दी। परंतु आगे बढ़ने की ओर यह भी एक कदम तो था ही।

जामिया मिल्लिया की शैक्षिक मान्यता का एक प्रमाण यह भी माना जा सकता है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति सर मारिस ग्वायर ने 1944 में डॉ. ज़ाकिर हुसैन को कोकाभाई प्रेमचंद व्याख्यानमाला देने के लिए आमंत्रित किया, जो बाद को 'कैपिटलिज्म : ऐन एसे इन अंडरस्टैंडिंग'[1] (पूंजीवाद : उसका पक्ष समझने का एक प्रयास) के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस भाषणमाला में कोई मौलिक विचार तो नहीं मिलते, लेकिन शैली रोचक है, और इनसे आर्थिक विकास की समस्याओं को समझना उन लोगों के लिए भी आसान हो जाता है जिनमें अर्थशास्त्र की रुचि नहीं है, बल्कि उनके लिए भी जो उससे दूर ही रहना चाहते हैं। अफसोस इसी बात का है कि उस व्याख्यानमाला ने लोगों का ध्यान उस हद तक नहीं खींचा जितना कि चाहिए था।[2]

आदर्शवादियों और सुधारकों के व्यक्तिगत उद्यम के रूप में कई शिक्षा संस्थाएं बनीं। लेकिन वे सभी पूर्व-स्थापित शिक्षा-प्रणाली का ही विस्तार करने वाली थीं, और उनके सामने कोई कठिनाई आती थी तो इस बात की कि जहां के लोगों या जिस विशेष धार्मिक संप्रदाय के लाभ के लिए वे बनी थीं उनसे उन्हें काफी सहयोग नहीं मिला। जामिया मिल्लिया ने चालू पद्धति का परित्याग कर दिया,

---

के सर्टिफिकेट को उस विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने के बारे में भारत सरकार से बात चलाई जाए।

[2]एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, से 1966 में पुनर्मुद्रित और प्रकाशित।

[3]इस व्याख्यानमाला का अलिखित अंश भी उतना ही रोचक है। डा. ज़ाकिर हुसैन का तरीका यह था कि लिखने वाला काम आखिर तक छोड़ रखते थे। नतीजा यह होता था कि टाइपिस्ट को भी उनके पास बैठे रहना होता था और जैसे जैसे वह लिख कर देते जाते थे वह टाइप करता चलता था, और उनके दोस्तों को बराबर डर बना रहता था, और वे उनके ही आसपास खड़े उन्हें और भी घबराहट में डालते चले जाते थे। एक बार तो आखिरी कुछ पन्ने टाइप हो भी नहीं पाए, और टाइप कराके उन्हें उस वक्त उनके हाथ में दिया गया जब कि उनका व्याख्यान शुरू हो चुका था।

आदमी वहां छोड़ गया था। बाद को पता लगा कि यह गुमनाम दाता एक ऐसे व्यक्ति के व्यापार में उसका साझीदार था जिसने, तीन साल पहले, हमदर्दीने जामिया को 10 रुपया माहवार का अपना चंदा देना बंद कर दिया था।

1943 वाली हैदराबाद-यात्रा के फलस्वरूप डा. जाकिर हुसैन को उस रियासत से मिलने वाली 1,000 रुपये मासिक की सहायता को बढ़ाकर 3,000 रुपये मासिक करा लेने में सफलता मिल गई। 1944 धीरे-धीरे जामिया की रजत जयंती के लिए धन-संग्रह का काम शुरू हो गया। यह 1945 में पड़नी थी। 'टाटा ट्रस्ट्स' जैसे कुछ दाताओं ने बड़ी शालीनता के साथ दान दिया। डा. जाकिर हुसैन प्रो. घोरमी से मिले, जिन्होंने डायरेक्टरों के साथ दोपहर का खाना खाने के लिए उन्हें दावत दी, और उसके बाद उन लोगों ने जामिया की तकनीकी शिक्षा के लिए सहायता की एक रकम मंजूर कर दी। लेकिन डा. जाकिर हुसैन और उनके दो सहयोगियों, शफीकुर्रहमान किदवई और मुईनुद्दीन हैरिस, को 'दर-दर' घूमना भी पड़ा, और जिस धीरज और अध्यवसाय का उन्होंने परिचय दिया वह कुछ ही लोगों के बस की चीज है। इससे उनकी सेहत पर बहुत बुरा असर पड़ा। वह फिर हैदराबाद गए, जब कि सर मिर्जा इस्माइल वहां के दीवान थे। यह एक ऐसा मौका देखने को मिला जब एक भद्र पुरुष दूसरे भद्र पुरुष के साथ उस शिष्टाचार और आदर के साथ पेश आया जिसका कि वह हकदार था। डा. जाकिर हुसैन को खुद कुछ भी नहीं कहना पड़ा। उन्हें दोपहर खाने पर दावत दी गई और 5 लाख रुपये का एक चैक उनके हवाले कर दिया गया।

जामिया को दूसरे रूपों में भी मान्यता मिलने लगी। दिल्ली के चीफ कमिश्नर सर ईवान जेनकिंस ने, 1939 के आरंभ में, डा. जाकिर हुसैन को उस स्कूल में बुनियादी तालीम का प्रयोग करने के लिए आमंत्रित किया जिसे वह ओखला में खोलने जा रहे थे। 1943 में भारत सरकार के शिक्षा आयुक्त सर जान सार्जेंट ने जानना चाहा कि अगर कोई सरकारी समिति जामिया मिल्लिया के सर्टिफिकेटों और डिगरियों को मान्यता देने की दृष्टि से उसके काम का निरीक्षण करे तो इसमें उन्हें कोई एतराज तो नहीं है।[1] एक समिति गठित की गई जिसने

---

[1]इसकी नौबत इसलिए आई थी कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कोर्ट में जो लोग डा. जाकिर हुसैन के समर्थक थे उनकी मांग थी कि जामिया मिल्लिया की मैट्रिक परीक्षा

जामिया मिल्लिया की सभी डिग्रियों को मान्यता देने की सिफारिश की। लेकिन सरकार ने सिर्फ उसके मैट्रिकुलेशन (प्रवेशिका) और शिक्षक-प्रशिक्षण वाले उपाधि-पत्रों (डिप्लोमाओं) को ही मान्यता दी। परंतु आगे बढ़ने की ओर यह भी एक कदम तो था ही।

जामिया मिल्लिया की शैक्षिक मान्यता का एक प्रमाण यह भी माना जा सकता है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति सर मारिस ग्वायर ने 1944 में डॉ. ज़ाकिर हुसैन को कीकाभाई प्रेमचंद व्याख्यानमाला देने के लिए आमंत्रित किया, जो बाद को 'कैपिटलिज्म : ऐन एसे इन अंडरस्टैंडिंग'[1] (पूंजीवाद : उसको समझने का एक प्रयास) के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस भाषणमाला में कोई मौलिक विचार तो नहीं मिलते, लेकिन शैली रोचक है, और इनसे आर्थिक विकास की समस्याओं को समझना उन लोगों के लिए भी आसान हो जाता है जिनमें अर्थशास्त्र की रुचि नहीं है, बल्कि उनके लिए भी जो उससे दूर ही रहना चाहते हैं। अफसोस इसी बात का है कि उस व्याख्यानमाला ने लोगों का ध्यान उस हद तक नहीं खींचा जितना कि चाहिए था।[2]

आदर्शवादियों और सुधारकों के व्यक्तिगत उद्यम के रूप में कई शिक्षा संस्थाएं बनीं। लेकिन वे सभी पूर्व-स्थापित शिक्षा-प्रणाली का ही विस्तार करने वाली थीं, और उनके सामने कोई कठिनाई आती थी तो इस बात की कि यहां के लोगों या जिस विशेष धार्मिक संप्रदाय के लाभ के लिए वे बनी थीं उनसे उन्हें काफी सहयोग नहीं मिला। जामिया मिल्लिया ने चालू पद्धति का परित्याग कर दिया,

---

के सर्टिफिकेट को उस विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने के बारे में भारत सरकार से बात चलाई जाए।

[2]एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, से 1966 में पुनर्मुद्रित और प्रकाशित।

[3]इस व्याख्यानमाला का अलिखित अंश भी उतना ही रोचक है। डा. [illegible] तरीका यह था कि लिखने वाला काम आखिर तक छोड़ रखते थे। [illegible] कि टाइपिस्ट को भी उनके पास बैठे रहना होता था और [illegible] जाते थे वह टाइप करता चलता था, और उनके दोस्तों [illegible] और वे उनके ही आसपास खड़े उन्हें और भी घबराहट [illegible] बार तो आखिरी कुछ पन्ने टाइप हो भी नहीं पाए, और [illegible] उनके हाथ में दिया गया जब कि उनका व्याख्यान शुरू हो चुका था।

साथ यह नैतिक दायित्व था कि उसे ग्रहण करने वाला अपने द्वारा अवधारित उच्चतम मानदंडों के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करेगा। उनके लिये ये उच्चतम मानदंड वही इस्लामी मानदंड थे जिन्हें जिंदगी भर वह अपने अंदर पोसते आए थे, भले ही दूसरों की निगाहों में वह उस आम कसौटी पर न उतरते हों जिस पर हम किसी विशेष धर्म और परंपरागत संस्कृति के प्रतिनिधियों के रूप में एक-दूसरे को परखते हैं।

अपने विचारों को उन्होंने 1928 में मैसूर में होने वाले विश्वधर्म सम्मेलन में ही शायद पहलेपहल, मुख्यतः एक गैर-मुस्लिम श्रोतामंडली के सामने, रखा था। वहां उन्होंने मुसलमानों की पृथक् सत्ता के अधिकार को पूरी तरह सही बताते हुए, मुसलमानों को यह चेतावनी दी थी कि इस्लाम तभी कायम रह सकता है जब कि वह एक सक्रिय रचनात्मक शक्ति के रूप में अपना काम यानी अपना वह कर्त्तव्य पूरा करता रहे जो उसकी उत्पत्ति और इतिहास में निहित है।

"अगर कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी निरंकुश राजसत्ता के प्रमुख को हटा देने से, या औरतों को गंदे घरों की चहारदीवारी से बाहर निकाल लाने से, इस्लाम खत्म हो जाएगा, तो फिर इस्लाम खत्म हो ही जाएगा। और जो लोग उस इसलाम को बचा कर रखना चाहते हैं उनकी उम्मीदें पूरी नहीं होंगी। लेकिन अगर इस्लाम ऐसा धर्म है जो नास्तिक को आस्तिक बनाता है, असभ्यों को सभ्य बनाता है, औरतों को समाज में वह हैसियत और जगह देता है जो पहले उन्हें नहीं मिली हुई थी, जो मनुष्यों को भाई-भाई मानते हुए उनके बीच केवल एक ही उच्च वर्ग को स्वीकार करता है जिसका आधार चरित्र है—तो ऐसा इस्लाम, मुझे यकीन है, जिंदा रहेगा, और मानव समाज को समृद्ध बनाने में अपना योग-दान देता रहेगा।"[1]

भारतीय समाज के संदर्भ में यह संप्रदाय, अपने अलग ही धर्म, अपनी अलग ही परंपरा और इतिहास को लिये हुए, इसी प्रकार के अन्य अनेक विद्यमान संप्रदायों में से ही एक के रूप में, एक तरह से उन्हीं समान अधिकारों का उपयोग कर रहा है जो कि व्यक्तियों द्वारा निर्मित किसी भी समाज में किसी व्यक्ति को

---

[1]वी. एस माथुर (संपादक). "जाकिर हुसैन : एडुकेशनिस्ट एंड टीचर" (जाकिर हुसैन : शिक्षाविद् एवं शिक्षक), आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, पृ 59।

जमाने के, या उससे भी पहले जमाने के, हर प्रतिष्ठित व्यक्ति पर लागू होती है जो स्वेच्छा से या अन्य प्रकार से एक छोटे कार्यक्षेत्र से ज्यादा बड़े कार्यक्षेत्र में जा पहुंचा। संभव है कि सभी दृष्टियों से यह परिवर्तन सदा ही लाभदायक न रहा हो। ज्यादा छोटे कार्यक्षेत्र में अधिक एकाग्रता और अधिक अध्यवसाय के साथ काम करने के अवसर मिलते हैं और उनके परिणाम भी ठोस और स्पष्ट होते हैं, जब कि ज्यादा बडे कार्यक्षेत्र के परिणाम अक्सर टिकाऊ नही होते। लेकिन एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे स्थानातरण होना एक अनिवार्य प्रक्रिया है। डा. ज़ाकिर हुसैन यदि स्वय अपना निर्माण न करते तो जामिया मिलिया का भी निर्माण न कर पाते, और जब एक बार उनका अपना निर्माण हो ही गया तो उसका बिगाड़ करना उनके बस में नही था, जिस तरह कि पहाड़ों मे इकट्ठा होते जाने वाला पानी जब एक प्रवाह का रूप ले लेता है तब नदी बनकर मैदानों मे बहने से उसे रोका नही जा सकता।

साथ यह नैतिक दायित्व था कि उसे ग्रहण करने वाला अपने द्वारा अवधारित उच्चतम मानदंडो के अनुसार अपने कर्त्तव्यो का पालन करेगा। उनके लिये ये उच्चतम मानदंड वही इस्लामी मानदड थे जिन्हे जिंदगी भर वह अपने अदर पोसते आए थे, भले ही दूसरो की निगाहो मे वह उस आम कसौटी पर न उतरते हो जिस पर हम किसी विशेष धर्म और परपरागत सस्कृति के प्रतिनिधियो के रूप में एक-दूसरे को परखते हैं।

अपने विचारो को उन्होने 1928 मे मैसूर मे होने वाले विश्वधर्म सम्मेलन में ही शायद पहलेपहल, मुख्यत: एक गैर-मुस्लिम श्रोतामडली के सामने, रखा था। वहा उन्होने मुसलमानो की पृथक् सत्ता के अधिकार को पूरी तरह सही बताते हुए, मुसलमानो को यह चेतावनी दी थी कि इस्लाम तभी कायम रह सकता है जब कि वह एक सक्रिय रचनात्मक शक्ति के रूप मे अपना काम यानी अपना वह कर्त्तव्य पूरा करता रहे जो उसकी उत्पत्ति और इतिहास मे निहित है।

"अगर कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी निरकुश राजसत्ता के प्रमुख को हटा देने से, या औरतों को गदे घरो की चहारदीवारी से बाहर निकाल लाने से, इस्लाम खत्म हो जाएगा, तो फिर इस्लाम खत्म हो ही जाएगा। और जो लोग उस इसलाम को बचा कर रखना चाहते हैं उनकी उम्मीदें पूरी नही होगी। लेकिन अगर इस्लाम ऐसा धर्म है जो नास्तिक को आस्तिक बनाता है, असभ्यो को सभ्य बनाता है, औरतो को समाज मे वह हैसियत और जगह देता है जो पहले उन्हे नही मिली हुई थी, जो मनुष्यो को भाई-भाई मानते हुए उनके बीच केवल एक ही उच्च वर्ग को स्वीकार करता है जिसका आधार चरित्र है—तो ऐसा इस्लाम, मुझे यकीन है, जिंदा रहेगा, और मानव समाज को समृद्ध बनाने मे अपना योग-दान देता रहेगा।"[1]

भारतीय समाज के सदर्भ मे यह सप्रदाय, अपने अलग ही धर्म, अपनी अलग ही परपरा और इतिहास को लिये हुए, इसी प्रकार के अन्य अनेक विद्यमान सप्रदायो मे से ही एक के रूप मे, एक तरह से उन्ही समान अधिकारो का उपयोग कर रहा है जो कि व्यक्तियों द्वारा निर्मित किसी भी समाज में किसी व्यक्ति को

[1]वी. एस माथुर (सपादक). "जाकिर हुसैन : एडुकेशनिस्ट एड टीचर" (जाकिर हुसैन : शिक्षाविद् एव शिक्षक), आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, पृ 59।

चित्र 1 : महात्मा गांधी के साथ डा. जाकिर हुसैन

चित्र 2 : महात्मा गांधी की समाधि पर डा. ज़ाकिर हुसैन

चित्र 3 : जवाहरलाल नेहरू के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन
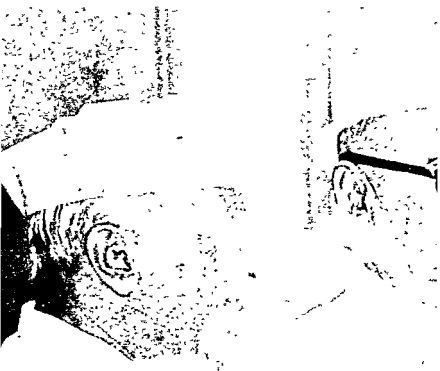
५०: भारत के मुख्य न्यायाधीश, न्यायमूर्ति के. एन वान्चू के समक्ष भारत के राष्ट्रपति पद की शपथ लेते हुए डा जाकिर हुसैन

प्राप्त हैं। उसके कर्त्तव्य भी समान ही हैं। जो नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता उसे नैतिक दृष्टि से अपने अधिकारों को पाने का कोई हक नहीं है। यही बात किसी संप्रदाय पर भी लागू होती है। उसके मानसिक और मनोवैज्ञानिक गठन का अध्ययन भी उसी तरह किया जाना चाहिये जिस तरह कि हम किसी व्यक्ति के इस प्रकार के गठन का अध्ययन करते हैं, और किसी व्यक्ति की ही तरह उसे भी शिक्षित करने की, पथप्रदर्शन की, प्रेरणा देने की आवश्यकता है। इसलिये किसी संप्रदाय द्वारा अपनाए जाने वाले शिक्षा सबंधी विचारों और आदर्शों का एक तात्विक महत्त्व है। मुस्लिम शिक्षाविदों ने जिन आदर्शों को अपनाया था उन पर डा. जाकिर हुसैन ने मार्च 1937 में अलीगढ़ में होने वाले अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन वाले अपने अभिभाषण में विचार किया था :

"अक्सर कहा जाता है कि मुसलमानों की शिक्षा का, जो शिक्षा के सरकारी विभाग पर ही निर्भर है और उसी के आदेश पर चलती है, कोई आदर्श ही नहीं है। मैं यह नहीं मानता। यह जरूरी नहीं है कि किसी आदर्श का विशेष रूप से उल्लेख किया ही जाए; इतना ही काफी है कि वह शिक्षा देने वालों, उसकी व्यवस्था करने वालों और उन लोगों के, जो कि शिक्षा देने के पक्षपाती हैं, दिमाग में मौजूद रहे और उनके कामों से जाहिर होती रहे।

"तो, वह आदर्श क्या रहा है ? यही, कि इस देश के उच्च और मध्यम वर्गों के मुसलमान जितनी ज्यादा सख्या में अपने को खाने-पीने लायक बना सकें, निश्चिततापूर्वक आराम की जिंदगी बिता सकें, सरकारी नौकरी पाकर किसी रूप में सत्ताशाली होने का दावा कर सकें उतना ही अच्छा हो। ये थोड़े से व्यक्ति अपने जीवन-स्तर को जितना ज्यादा ऊंचा करते जाएंगे, उतनी ही मात्रा में हमें मुस्लिम सप्रदाय को भी अधिक समृद्ध मानना चाहिये। इस तरह के लोगों को जिन तमाम मुश्किलों का सामना करना पड़ता है उन्हें हर तरह से घटाया जाना चाहिये, यही, और इसी वक्त, साफ तौर पर जो फायदे मिल सकते हैं उनमें किसी बेहतर भविष्य के लिये बनाई जाने वाली अविश्वासनीय योजनाएं दखल न दें, व्यक्तिगत जीवन के आराम में राष्ट्रीय नियति की धारणाएं बाधा न डालें। पुराना रास्ता गलत है, इसलिये गलत है कि वह एक ऐसे बहुमान्य राष्ट्र के रास्तों से अलग है जिसका हम पर आधिपत्य है। राजनीति से दूर रहना

चाहिये, क्योकि यही साफ नही है कि उन्नति और ऊची हैसियत पाने की व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा को आगे बढाने के लिये (मुस्लिम) सप्रदाय का राजनीतिक शक्ति पाना जरूरी है, सरकार का रूप चाहे जैसा हो, जरूरी सिर्फ इतना है कि वह विधिव्यवस्था बनाए रखे, अपनी प्रजाओ के बीच होने वाले झगड़ो और मतभेदों को न्यायपूर्वक और निष्पक्षता के साथ निपटाती रहे, कुछ व्यक्तियों को ऊचे ओहदे दे दे, ताकि वह अपने ही लक्ष्यों को पूरा कर सकें और हमे एक हैसियत दे सकें। मजहब को तो नही छोडा जा सकता, क्योकि सदियों से वह साप्रदायिक जीवन का केंद्रबिन्दु रहा है, उसे तो कायम रखना ही है, लेकिन इस तरह कि सामारिक लक्ष्यो के साथ उसका कोई सघर्ष न हो, या प्रगति के मार्ग मे वह बाधक न बनने पाए। दूसरो के साथ संबध रखने के बारे मे उसकी जो शिक्षाए है और उनमे जो समझदारी भरी है उन्हे ज्यादा सामने न लाया जाए; इस दुनिया मे जो जातिया ज्यादा आगे बढी हुई हैं उन्ही के तौर-तरीको को चुपचाप अपना लिया जाए। धर्म मे आस्था रखने के और धार्मिक आदेशो का पालन करने के सिद्धात पर तो जोर दिया जाए, लेकिन उन्हे अगर अमल मे न लाया जाए तो कोई हर्ज नही। और इसमे भी कोई हर्ज नही कि धार्मिकता का भ्रम बनाए रखने के लिये धर्म के उन पहलुओ पर, जो तर्क के क्षेत्र से परे हैं, बौद्धिक और दार्शनिक चर्चाए चलती रहे।

"इस आदर्श की प्राप्ति के लिये जो शिक्षा-पद्धति आवश्यक थी उसे स्थापित किया गया—कुछ तो हमारी अपनी ही कोशिशो से, लेकिन और भी कही ज्यादा विदेशी मदद से। यह तो साफ ही है कि इस शिक्षा-पद्धति का एकमात्र उद्देश्य यही हो सकता था कि नौजवान पढना और लिखना सीख लें, अपने गुजारे के लिये सरकारी नौकरिया पा जाएं, अपनी जिंदगी को एक तरह से पश्चिम के लोगों की जिंदगी के नमूने पर ढाल लें, धर्म को बिलकुल छोड़ तो न दें, लेकिन अगर चाहे तो उसके उत्साहवर्द्धक और शक्तिदायक प्रभाव से अपने को अछूता रखें, और राजनीतिक झझटो से अलग रहे। वक्त खुद उन्हे सिखा देगा कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये राष्ट्रीय हित की बात किस तरह और कब उठाई जाए। दूसरे शब्दो मे, शिक्षा का मतलब इतना ही माना जाता था कि कुछ छोटे-मोटे हुनर हाथ मे आ जाएं, आज्ञाकारिता के कुछ रूप दिल मे बैठ जाए, और व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षओं और प्रतिस्पर्धा वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जाए।

"अब जरा उन संस्थाओं की ओर नजर डाली जाए जो खासतौर से मुसलमानों के ही फायदे के लिये खोली गई हैं और जिन पर हमने अपने वक्त, अपनी शक्ति और अपने साधनों को लुटाया है। क्या वे भी ठीक इसी आदर्श पर नहीं चलती आई हैं? अकबर इलाहाबादी ने किसी शिक्षित व्यक्ति के जीवन का जो संक्षिप्त ब्योरा पेश किया है, कि

बी. ए. किया, नौकर हुए,
पेंशन मिली, ओ मर गए—

वह क्या इन्ही मुस्लिम संस्थाओं मे पढ़े-लिखे लोगो पर नही लागू होता? तो फिर किन अर्थों मे हम इन संस्थाओं को मुस्लिम संस्था कहते है? क्या इस्लाम ने समाज की परिकल्पना व्यक्तियों के एक ऐसे समूह के रूप में की है जो स्वार्थ से प्रेरित होकर संयोगवश एकत्र हो गए हो? इस्लाम मे जिस धार्मिकता की बात है वह क्या उतनी ही औपचारिक और बाह्य है जितनी कि इन संस्थाओं में होने वाले अमल से प्रकट होता है? क्या इस्लामी राज्यतंत्र का मतलब यही है कि अपने पर आंच न आने दी जाए और जो हमें चाहिये उसकी भीख मांगते फिरें? क्या इस्लाम यही कहता है कि हम सामाजिक परिवेश तथा सामाजिक लक्ष्यो के प्रति उदासीन रहें, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे दौड़ें—जैसाकि हमने शिक्षित करने के अपने प्रयत्नो द्वारा अब तक सीखा? नही! हजार बार नही।"[1]

इस पुराने आदर्श को अस्वीकार करने के बाद उन्होने एक नए प्रकार के स्कूलों के बारे मे कहना शुरू किया, जिसकी कि उन्हें जामिया मिल्लिया वाले स्कूलों से और इन स्कूलो मे नए आदर्शों से प्रेरित होकर तैयार होने वाले नौजवानों के बारे में उम्मीद थी।

"हमारे ये नए स्कूल, निस्संदेह, मुस्लिम स्कूल होगे जिनके आदर्श इस्लामी आदर्श होगे। लेकिन इन आदर्शों की कोई संकीर्ण या गलत व्याख्या करके इन्हें संप्रदायवाद और साप्रदायिक स्वार्थपरता के प्रजननकेंद्र नही बनने दिया जाएगा। अनुचित राग-द्वेष उन्हें इस यथार्थता की ओर से आख नही मूदने देगा

[1]'तालीमी खुतबात' (शिक्षा संबंधी भाषणों का संग्रह), मकतबा जामिया, नई दिल्ली, 1942, पृ. 42-45।

कि अगर, मुसलमान होने के नाते, हम आजादी हासिल करने और उसे कायम रखने के लिये वचनबद्ध है, अगर हमारे लिये यही आदेश है कि पृथ्वी पर से हर प्रकार की गुलामी को हम मिटा कर रहे, अगर हम एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते है जहा अमीर और गरीब के बीच किये जाने वाले भेदभाव की वजह से अधिकाश लोगो को मानव प्रतिष्ठा और मानव अधिकारो से वचित न किया जा सके, *अगर हम समाज मे दौलत को नही धार्मिकता को ऊची पद मर्यादा देना* चाहते हैं, अगर हम जाति और रग सबधी द्वेषभाव को जडमूल से उखाड फेंकना अपना कर्त्तव्य मानते हैं, तो सबसे पहले हमे अपने इन सारे कर्त्तव्यो को अपने ही प्यारे वतन मे पूरा कर दिखाना होगा और इन आदर्शों को यही प्राप्त करना होगा। इस देश की ही मिट्टी ने हमे बनाया है और इसी मिट्टी मे हमे फिर मिल *जाना है।*

"*इसलिये हमारे ये नए स्कूल हमारे नौजवानो के दिलों मे समाज सेवा के* लिये इतना जोश पैदा कर देंगे कि उन्हें तब तक सुख की नीद नही आ पाएगी जब तक कि उनके इर्दगिर्द और उनके अपने घरो मे गुलामी और गरीबी, तकलीफ और जहालत, बीमारी और अनैतिकता, क्षुद्रता और निराशा कायम हैं,और, इन बुराइयो को दूर करने मे, वे अपने समय को और अपने मानसिक और भौतिक साधनो को खपा देंगे। अपने गुजारे के लिये जरूर वे कोई काम करेंगे, लेकिन उनका वह रोजगार पेट की खातिर की जाने वाली किसी की गुलामी नही होगा। यह रोजगार धर्म और देश की सेवा के लिये होगा, ऐसा रोजगार जो न सिर्फ भूख की तड़प को शात करेगा बल्कि हृदय और आत्मा की आकाक्षाओ की भी बड़े सुदर ढग से पूर्ति करेगा। अपने देश की सेवा का व्रत वे अपने धार्मिक आदर्शों के कारण ही लेंगे—उस देश की सेवा का व्रत, जिसे कभी दुनिया ने स्वर्ग का ही प्रतिबिंब बताया था, लेकिन आज जो अगणित मनुष्यो के लिये नरक से भी गया-गुजरा है। अपनी सेवा के जरिये वे इस देश की इस तरह कायापलट कर देंगे कि उसके भूखे, बीमार, दुखी, निराश और गुलाम निवासियो के बीच, जिन्हें कि कुछ लोगों की ज्यादतियो और क्रूरताओं ने, और, कुछ दूसरों की कमियो और उपेक्षा भाव ने, इस बुरी हालत पर पहुंचा दिया है कि उनका कुठित अस्तित्व मानव जाति के पिता परमात्मा के नाम पर भी धब्बा लगाता है, वे परमात्मा के सामने अपना माथा झुकाते वक्त शर्मिंदा नहीं महसूस करेंगे, जिसे कि रहीम व करीम

(दयालु और कृपालु), रोज़ी देने में सखी (उदार), बाकी (संद्रूप) और अबदी (शाश्वत) कहते हैं।

"केवल इतना ही नहीं। ये नौजवान, अपनी नि स्वार्थ सेवा के जरिये, अपने देशवासियों की अंधविश्वासपूर्ण कट्टर देशभक्ति के घृणित परिणामों से भी रक्षा करेंगे, अपने देश को मानवजाति तथा विश्व की सेवा का साधन बनाएंगे। हमारा देश अपनी समृद्धि के लिये कभी भी दूसरों को मुसीबत मे नहीं डालेगा, अपनी उन्नति की खातिर दूसरों का कभी दमन नहीं करेगा, दूसरों की ताकत छीन कर अपने को ताकतवर नहीं बनाएगा और न अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें गुलाम बनाएगा।"[1]

मुसलमानों के जिस खास वर्ग के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन ने कहा है उसके साथ ही पूरे मुस्लिम सप्रदाय की शिनाख्त करने के बहुत ही बुरे राजनीतिक नतीजे हुए। इस संप्रदाय के आम लोगों—कारीगरों, किसानों, मजदूरों—की शिक्षा की उपेक्षा की गई जिसका नतीजा यह हुआ कि वे अपनी जबान नहीं खोल सके और बोलने वाले उच्च वर्गों के हाथ की कठपुतली बन गए। जामिया मिल्लिया उन कुछ संस्थाओं में से है जिन्होंने उच्च वर्ग की इस घेराबंदी को तोड़ कर सीधे मुस्लिम जनता तक, बल्कि उससे भी आगे जाकर भारतीय जनता तक, पहुंचने की कोशिश की। उसका प्रमुख साधन था उसका प्रौढ़ शिक्षा विभाग, जिसे स्थानीय रूप में भारी सफलता मिली। एक अप्रत्यक्ष किंतु काफी कारगर साधन था उसका राष्ट्रीय स्वरूप जिसने उसे उन लोगों से अलग रखा जो शिक्षा को प्रारंभिक रूप में सरकारी नौकरी पाने की काबलियत के तौर पर देखते थे। उसके बहुतेरे अध्यापक जरूर, कहने को, मध्यम वर्ग के लोग थे, लेकिन सामाजिक भेदभाव को उन्होंने सिद्धात रूप में भी त्याग दिया था और व्यवहार में भी। उसके निम्नस्तरीय कर्मचारी वर्ग को, जिसे कि सरकारी भाषा में चौथे दरजे का कर्मचारी वर्ग कहा जाता है, अंजुमन (कोर्ट) और कार्य परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त था, और नियमों में इस तरह की रियायतें दी गई थीं कि वहां उपलब्ध शिक्षा-सुविधाओं से भी वे लोग लाभ उठा सकें।

लेकिन इस अभिभाषण से यह भी स्पष्ट है कि डा. ज़ाकिर हुसैन इस बात पर

---

[1]'तालीमी खुतबात', पृ. 58-60।

भी जोर देते थे कि एक परंपरागत धर्म और संस्कृति वाले संप्रदाय के रूप में मुसलमानों को अपनी पृथक् सत्ता बनाए रखने का अधिकार है। 1935 वाले पिछले जमाने में भी उन्होंने काशी विद्यापीठ के अपने दीक्षांत भाषण में कहा था :

"शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति में मुसलमानों को यह अधिकार दिया जाएगा या नहीं, कि वे अपने सांस्कृतिक जीवन को शिक्षा का माध्यम बना सकें ? आप लोग जानते हैं कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह प्रश्न कितना संगीन है। संभव है कि भले इरादे वाले कुछ ऐसे अतिवादी लोग भी हों जो भारतीय राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से मुसलमानों को यह अधिकार देना दुर्बलता का एक स्रोत और प्रगति के मार्ग की एक बाधा मानें। किंतु यदि सद्भाव द्वारा प्रेरित अनुभवी शिक्षाविद् लोग देश के लिये किसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण करेंगे तो मुझे यकीन है कि वे मुसलमानों की इस इच्छा को खुशी से स्वीकार कर लेंगे कि उनकी शिक्षा उन्हीं की संस्कृति पर आधारित हो, क्योंकि शिक्षा संबंधी सही सिद्धांत यही है और राजनीति का भी यही सही तकाजा है। आप मुझे माफ करेंगे अगर इस सम्मानित श्रोता-मंडली के सामने मैं साफ-साफ यह कहूं कि जहां एक ओर स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, हृदय की संकीर्णता और देश के भविष्य के बारे में कोई सही तस्वीर बना सकने की असमर्थता मुसलमानों को एक सर्व-सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता के विचार से दूर करती जा रही है, वहां दूसरी ओर, उनके दिल में यह शक भी गहरा घुसा बैठा है कि किसी राष्ट्रीय सरकार के अंतर्गत मुसलमानों की सांस्कृतिक विशिष्टता का खत्म कर दिये जाने का खतरा है। यह एक ऐसी कीमत होगी जो मुसलमान किसी तरह भी नहीं देना चाहेंगे। और सिर्फ मुसलमान होने के नाते नहीं, बल्कि एक पक्के भारतीय होने के नाते भी, मुझे इस बात की खुशी है कि वे यह कीमत देना नहीं चाहते।"[1]

अपनी पृथक् सत्ता को कायम रखने की हर संप्रदाय की स्वाधीनता अब तो भारतीय संविधान में ही सुप्रतिष्ठित की जा चुकी है और सभी निष्पक्ष और समझदार लोग उसे एक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते हैं। किंतु किसी शिक्षक के लिये इससे एक गंभीर समस्या पैदा हो गई है। जामिया मिल्लिया इस्लामिया इसका एक अच्छा दृष्टांत है। इसके संस्थापकों की इच्छा और गांधी जी के

---

[1] 'तालीमी खुतबात', पृ. 21-22।

आशीर्वाद से इस संस्था में शिक्षा को अपनी खूराक इस्लाम और परंपरागत मुस्लिम संस्कृति से ही लेनी थी। लेकिन इसके संस्थापकों की यह भी इच्छा थी कि यहा के गैर-मुस्लिम विद्यार्थियों को अपने ही धर्म और संस्कृति के अध्ययन का मौका मिले। इसलिये यह, किसी मानी मे भी, सिर्फ किसी एक संप्रदाय की संस्था बन कर नही रह सकती थी, लेकिन फिर भी अपने आधारभूत सिद्धांतो के प्रति इसे निष्ठावान रहना था। अपनी स्थापना के कोई तीन साल बाद इसने अपने राजनीतिक स्वरूप का परित्याग कर दिया। परंपरागत संस्कृति के प्रति निष्ठा रखने का जब एक ऐसा राजनीतिक अर्थ किया जाने लगा जो उदारता और मेलजोल के उसके आदर्श और आचरण के प्रतिकूल था, तब इसे अपने क्षेत्र मे करीब-करीब अकेले ही रह जाना पड़ा। 1937 के आखिर मे डा. ज़ाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम के प्रचार की जिम्मेदारी ले ली। उन मुसलमानो के बीच, जो कांग्रेस-विरोधी प्रचार के शिकार हो गए थे और यह मान बैठे थे कि बुनियादी तालीम मे कुछ ऐसी बातें भी हैं जो इस्लाम के और मुस्लिम संस्कृति के खिलाफ हैं, कुछ वक्त के लिये इससे वह और जामिया मिल्लिया दोनो ही बदनाम हो गए। उनकी व्यवहार-कुशलता के कारण ही उनके विरोधी खुल कर सामने नहीं आ पाए, लेकिन यह एक ऐसा उदाहरण है जिससे प्रकट होता है कि अगर कोई शिक्षा संस्था किसी एक संप्रदाय के धर्म और परंपरागत संस्कृति को अपना कर चलती है तो इसी संप्रदाय के राजनीतिक रूप मे सक्रिय तथा प्रचंड तत्त्वों के साथ, जो कि शिक्षा देने वाले का और परंपरागत संस्कृति संबंधी उसके उद्देश्यों और आदर्शो की धारणा का, ही विरोध कर सकते हैं, उसका संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। हमें यह भी याद रखना होगा कि परंपरागत संस्कृति को ज्यादातर तो बहुसंख्यक लोगों की आदतो, मनोवृत्तियो और हितो के रूप मे ही देखा जाने लगता है, जो आमतौर पर आदर्श से बिलकुल ही भिन्न होते है। लेकिन इससे इतना ही सिद्ध होता है कि शिक्षा देने वाले का काम आसान नही है। जामिया मिल्लिया ने, बिना बहुसंख्यक लोगों के रागद्वेषो के लिये कोई छूट दिये, और इस्लाम की शिक्षाओं की रूढ़िवादी पर राजनीतिक व्याख्या को भी स्वीकार किये बिना ही, मुस्लिम परंपरा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है। सच पूछा जाय तो उसने मानी हुई परंपराओ और मनोवृत्तियो का समर्थन करने से ज्यादा उनसे उलटी ओर जाकर अपने एक अलग ही मुस्लिम चरित्र का निर्माण किया है। रूढ़िवादियो

को इस बात मे आपत्ति है कि जीवित प्राणियों की मूर्ति या तस्वीर बनाई जाए, मगर फिर भी डा. ज़ाकिर हुसैन ने स्कूल के पाठ्यक्रम मे चित्रकला को स्थान दिया। उन्होने नाटकों को सिखवाया भी और उन्हे रंगमंच पर भी प्रस्तुत कराया। प्राइमरी स्कूल मे लड़कियों को भी भरती करके उन्होने सह-शिक्षा के लिये जमीन तैयार की। रूढ़िवादी बातों को उन्होने किसी भी शक्ल मे लागू नही किया। क़ुरान की जिस आयत मे यह कह कर कि "धार्मिक विश्वास के मामले मे जबर्दस्ती नही है"[1] सहिष्णुता की ओर ध्यान खींचा गया है उस पर अमल करते हुए उन्होने एक ऐसा वातावरण तैयार किया जिसमे विचारों का स्वच्छंदतापूर्वक आदान-प्रदान किया जा सकता था और मतभेदो तथा धार्मिक भिन्नताओं के प्रति समझदारी और आदर का भाव रखा जाता था।

परपरागत सस्कृति के माध्यम से शिक्षा देने के डा. ज़ाकिर हुसैन के आदर्श की भारतीय परिवेश मे ही उपलब्धि होने को थी। उनकी दृष्टि मे मुसलमान तब तक सही मानी मे अच्छा और सच्चा मुसलमान नही हो सकता जब तक कि वह एक अच्छा और सच्चा भारतीय भी न हो। इस तरह के मुसलमान के लिये अच्छे और सच्चे भारतीय होने का मतलब है सिद्धात और अमल मे उन सारी बातो को स्वीकार करना जो राष्ट्रीय विकास के लिये जरूरी हैं। वह मशीनों को स्वीकार करेगा, कारखानों के शोर और धुए को स्वीकार करेगा, उन सभी शिल्पवैज्ञानिक यत्रो को स्वीकार करेगा जो कि जरूरी हैं, क्योंकि वह एक औद्योगिक समाज के अदर रहते हुए भी अपने धधे के साथ जुड़ी सभी जिम्मेदारियो को निभाएगा, या, यदि ईश्वरपरक भाषा मे कहा जाए, तो अपने उन कर्तव्यो का पालन करेगा जिन्हे कि उसने अपने समाज के हित मे ग्रहण किया है। गाधी जी और गुरुदेव ने अपने-अपने निजी कारणो से उद्योगीकरण और नगरीकरण का विरोध किया था। परपरागत सस्कृति के माध्यम से शिक्षा देने वाला सिद्धात आदर्शों के इस सघर्ष के बीच क्या रास्ता निकालता? गाधी जी और गुरुदेव टैगोर के बीच एक बार एक छोटी-सी मगर झड़पदार बातचीत हुई थी, लेकिन गुरुदेव और डा. ज़ाकिर हुसैन के बीच कभी नही; और न डा. ज़ाकिर हुसैन और किसी ऐसे हिंदू शिक्षाविद् के बीच ही कभी कोई झड़प हुई, जो कि गाधी

[1]क़ुरान, 2 · 256।

जी या गुरुदेव दोनों में से किसी के भी दर्शन में तो आस्था न रखता हो, किंतु फिर भी परंपरागत संस्कृति के माध्यम से शिक्षा देने में जिसकी आस्था हो। डा. ज़ाकिर हुसैन अगर अपनी ही ओर से इस सवाल पर कोई बात चलाते, कि अनेक प्रकार की परंपराओं वाले हिंदुओं को उनके माध्यम से किस तरह शिक्षा दी जाए जब कि वे सभी परंपराएं प्रामाणिक हैं, तो वे अपने को सांस्कृतिक मामलों में हस्तक्षेप करने के दोष का भागी मानते। इस मामले में कोई अगर उनसे बात करता तो शायद उन्होंने कोई रास्ता निकालने की कोशिश भी की होती। मगर किसी ने कोई बात नहीं की। नतीजा यह है कि डा. ज़ाकिर हुसैन का यह सिद्धांत बिलकुल अलग जा पड़ा है, या सिर्फ उन्हीं एकेश्वरवादी संप्रदायों पर लागू हो सकता है जो अपने धर्मशास्त्रों की रोशनी में खुद ही अपने बारे में फैसला कर सकते हैं।

यह संभावना जरूर रह ही जाती है कि शिक्षा को सभी विशिष्ट सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं से विच्छिन्न कर दिया जाए और उसे विशुद्ध रूप से मानवतावादी आधार दे दिया जाए, या, जैसा कि अब हम भारत में कहने लगे हैं, उसे धर्म-निरपेक्ष रूप दिया जाए। बहस के तौर पर कहा जा सकता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम को पूर्णतया धर्म-निरपेक्षता का रूप देकर इस स्थिति को खुद भी स्वीकार कर लिया था। लेकिन बुनियादी तालीम से पहले के पाठ्यक्रम में सभी धर्मों की शिक्षा का समावेश किया गया था, और उस हद तक इसे धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। डा. ज़ाकिर हुसैन के दृष्टिकोण को पूरी तरह हम तभी समझ सकते हैं जब शिक्षा संबंधी उनके विचार को हम संपूर्ण रूप में देखें।

इसकी एक रूपरेखा हमें उनके उस स्वागत-भाषण में मिलती है जो उन्होंने 1934 के दिसंबर के अंतिम सप्ताह में दिल्ली में हुए अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में दिया था। यह भाषण उनकी सर्वोत्तम शैली में और विचारों से ओत-प्रोत था, उन विचारों से जो कि शिक्षा संबंधी पाश्चात्य दर्शन के उनके अध्ययन के परिपक्व फल के रूप में थे।

"मस्तिष्क को शिक्षित करने का काम लाजिमी तौर पर उसके अंदर छिपे उन मूल्यों को फिर से चालू कर देने का काम है जो सांस्कृतिक पदार्थों में समाविष्ट हैं। ठीक जिस तरह शरीर की वृद्धि उसके प्राकृतिक विन्यास को गढ़ने वाली

खुराक और पोषक पदार्थों से होती है, उसी तरह अपनी मौलिक क्षमताओं और गठन संबंधी विलक्षणताओं वाले मस्तिष्क की वृद्धि उस मानसिक खुराक से होती है जो उसे आसपास के सांस्कृतिक पदार्थों से मिलती है। इस तुलना को थोड़ा और आगे ले जाएं तो जिस तरह एक शरीर हमेशा उसी तरह की खुराक पर नहीं पनपता जिस पर कोई दूसरा शरीर पनप सकता है, उसी तरह, बल्कि उससे भी कहीं ज्यादा मात्रा में, एक व्यक्ति के दिमाग को हर तरह के सांस्कृतिक पदार्थों से समान रूप में अपनी जरूरी खुराक नहीं मिल सकती।

"सांस्कृतिक पदार्थ—विज्ञान, कला, धार्मिक विश्वास, धार्मिक संप्रदाय और प्रतीक, महापुरुषों से सपन्न समाज, उसकी आचार-संहिता और रस्म-रिवाज, उसके राजनीतिक रूप और शिक्षा संस्थाएं, मशीनों और कल-पुर्जों वाली उसकी शिल्पविधि—ये सब-के-सब, आखिर में जाकर तो, बिलकुल ही अलग-अलग किस्मों के व्यक्तिगत या सामूहिक प्रयास के परिणाम होते हैं। ये सांस्कृतिक पदार्थ विषयीभूत मस्तिष्क ही हैं। उन पर हमेशा ही, कभी साफ तौर पर और कभी धुंधले रूप मे, उस मस्तिष्क की छाप और मोहर रहती है। प्रच्छन्न रूप से उनपर उस मानसिक ऊर्जा का कम-से-कम एक अंश तो पड़ा ही रहता है जिसकी कि वे उपज हैं। शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्तिगत मस्तिष्क की इस प्रच्छन्न ऊर्जा को गति प्रदान कर देना। किंतु शिक्षा के मार्ग की कठिनाई यह है कि यह रूपांतर उन्हीं व्यक्तियो के अंदर लाया जा सकता है जिनका मानसिक ढांचा उस सास्कृतिक पदार्थ मे विद्यमान विषयीभूत ऊर्जा के साथ मेल खाता है जो कि उनकी शिक्षा का साधन है। जो मस्तिष्क ग्रहण करने जा रहा है उसका गठन उसी मस्तिष्क के अनुरूप होना चाहिये जिसने उसकी रचना की है।

"सास्कृतिक दर्शन के अध्ययन द्वारा सैद्धांतिक, धार्मिक,सामाजिक, सौंदर्यपरक और यांत्रिक पदार्थों की गठनात्मक विलक्षणताओं के निर्धारण की चेष्टा की गई है। जिन अन्य बातो के अध्ययन हुए हैं वे हैं 'मानसिक गठन की प्रकार-विद्या, मुख्यत. चिंतनशील मस्तिष्क और मुख्यतः क्रियाशील मस्तिष्क के बीच भेद, प्रजननात्मक तथा सर्जनात्मक चिंतन के और प्रजननात्मक तथा सर्जनात्मक क्रिया के बीच भेद, एक ओर तो चिंतन के सैद्धांतिक, सौंदर्यपरक और धार्मिक रूपो और दूसरी ओर क्रिया के आत्मकेंद्रित, नि.स्वार्थ, सामाजिक तथा अवैयक्तिक रूपों के बीच पाए जाने वालेभेद, जो फिर सैद्धांतिक, सौंदर्यपरक अथवा धार्मिक मूल्यों

के एक मौलिक आधार के इर्दगिर्द इकट्ठे होकर अपना एक समूह बना लेते हैं और विशिष्ट या मिश्रित प्रकार के व्यक्तिगत मस्तिष्कों को प्रसूत करते हैं जिनको शिक्षित करना ही शिक्षकों का अंतिम ध्येय है।···शिक्षकों के रूप में हमें उन विद्यार्थियों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को समझने के लिये, जिनकी शिक्षा का दायित्व हमें सौंपा गया है, जितना भी परिश्रम करना पड़े वह थोड़ा ही होगा। प्रत्येक विद्यार्थी के मस्तिष्क को एक ही तरीके से बढाने और विकसित कराने में हम सफल नही हो सकते। शिक्षाप्रक्रिया का स्वयंसिद्ध मूलभूत सिद्धांत, कैर्शेंस्टाइनर के शब्दों मे, यह है कि 'व्यक्ति की शिक्षा केवल उन्ही सांस्कृतिक पदार्थों के माध्यम से सभव है जिनका मानसिक गठन उस व्यक्ति के जीवन-स्वरूप के विकास की अवस्था के लिये पूर्णतया या कम-से-कम आशिक रूप में समुचित है।' सैद्धांतिक प्रकार के मस्तिष्क मे अपने समूह की या समूची मानवजाति की सांस्कृतिक विरासत केवल वैज्ञानिक पदार्थों के ही द्वार-पथ से होकर घुस सकेगी। किसी क्रियाशील, यंत्रपरक मस्तिष्क वाले लड़के के अनिच्छुक चित्त पर यदि आप चिंतनशील अथवा सौंदर्यपरक प्रकार की सामग्री थोपना चाहेंगे तो उसके सांस्कृतिक जीवन का द्वार बंद ही रह जाएगा। उसके लिये वह द्वार मुख्यतः यांत्रिक पदार्थों की चाभी से ही खुलेगा और यांत्रिकपदार्थों के साथ परिचय बढ़ाने से। इस विधि से अपने मस्तिष्क का पूरा विकास करके ही वह अंत मे अन्य सांस्कृतिक सामग्री का भी उपयोग कर सकेगा···

"···शिक्षा-प्रक्रिया संबंधी यह दृष्टिकोण यदि सही है,जैसा कि मैं समझता हूं, तो हमे अपनी शिक्षापद्धति को पूरी तरह और नए ढंग से व्यवस्थित करना होगा हमारे पाठ्यक्रम जिस सैद्धांतिक शिक्षासामग्री के एकपक्षीय प्राचुर्य के बोझ से दबे हुए हैं उसे तो निश्चित रूप से हलका करना ही होगा। मस्तिष्क का वास्तविक सस्कार करने की जगह, आत्मसात् न हो पाने वाली जानकारी को ही उसमे ठूसते रहने के अपने अतिरंजित विचारो को हमे बदलना ही होगा। हमें यह देखना होगा कि शिक्षा सबंधी विषयो के चुनाव और उनके आयोजन मे तथा उनमें से किसको कितना अधिक महत्त्व दिया जाए यह निर्धारित करने में स्कूल उन बच्चो के मानसिक गठन पर भी पर्याप्त ध्यान देता है या नही जिन्हे वह शिक्षित करना चाहता है। अपनी प्रारभिक पाठशालाओं मे हमे उस प्रकार की क्रियाओ के विकास के लिये पर्याप्त व्यवस्था करनी पड़ेगी जो सभी स्वस्थ बच्चों में विशिष्ट

रूप से पाई जाती है, और पढ़ने-लिखने तथा गणना करने की भी प्रक्रियाओं का हाथ के कामो के साथ खासा मेल बिठाकर उन्हे ज्यादा आसान और ज्यादा कारगर बनाना होगा। स्कूलो मे हमें अपने विद्यार्थियो की अहर्ताओ को बडे ध्यान से देखते रहना होगा, और उनके मानसिक गठन का पता चल जाने पर, उन्हे तीन मे से किसी एक प्रकार के उच्च विद्यालय में भेजना होगा जिनका संगठन साथ-साथ ही होना चाहिये : गणित के, और प्राकृतिक विज्ञानो के, उच्च विद्यालय और यांत्रिक कार्य के उच्च विद्यालय। इन सभी उच्च विद्यालयों को हमे व्यावसायिक विद्यालय बना देना होगा, क्योंकि विद्यार्थी आम शिक्षा से व्यावसायिक शिक्षा की ओर न अग्रसर होकर व्यावसायिक शिक्षा से ही आम शिक्षा की ओर अग्रसर होगे। आम शिक्षा, यानी सपूर्ण मनुष्य का संस्कार, तब तक असंभव है जब तक कि मस्तिष्क के उस भाग का विकास नही होता जो उसके विशिष्ट रूप को उभारने वाला है।···

"मगर सबसे बडी आवश्यकता तो इस बात की है कि सारी शिक्षा-पद्धति मे, ऊपर से नीचे तक, दो परिवर्तन लागू किये जाए। इनमे से पहला है हमारी शिक्षा की समूची दिशा का ही परिवर्तन। यदि, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, व्यक्ति के मस्तिष्क को उसके गठन के लिये उपयुक्त सास्कृतिक सामग्री द्वारा ही शिक्षित किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि वह जिस संप्रदाय का व्यक्ति है, जिस संप्रदाय मे उसका जन्म और लालनपालन हुआ है, उसी की सास्कृतिक सामग्री उसके विकास और सस्कार की सर्वोत्तम माध्यम बन सकेगी। अपनी संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था का भारतीयकरण करना अत्यत आवश्यक है। अपने नौजवानो को उन तथाकथित शिक्षित लोगो की पक्ति मे अब हम नही खडे होने देंगे जो अपनी ही कला के सौदर्य के प्रति अधे, अपने ही संगीत के स्वरमाधुर्य के प्रति बहरे, अपनी भाषा और अपने साहित्य से ही शर्मिंदा हैं, और जिनके लिये अपना सब-कुछ ही क्षुद्र और हेम और विदेशी सब कुछ ही उच्च और भव्य है। शिक्षा को इस तरह बदल देना जरूरी है कि नौजवानो के लिये यह असभव बना दिया जाए कि वे अपने ही देश मे विदेशियो जैसी जिंदगी बिताए, न अपनी जबान मे बोलने लायक बन पाए और न अपने विचारो के आधार पर सोच पाए; जैसा कि कवि ने कहा है, उधार ली हुई बातें उनके ओठो पर हो और दिल मे उधार ली हुई आकाक्षाएं।

"दूसरा काम यह करना होगा कि स्कूलों को चरित्रनिर्माण का साधन बनाने

में कोई कसर न उठा रखी जाए। शिक्षा के विषयों को बदल डालने से, और शिक्षा के साधनों के रूप मे विदेशों से थोपी जाने वाली सामग्री की जगह पर अपनी ही सांस्कृतिक सामग्री को रख देने भर से, कुछ ज्यादा लाभ नही होने वाला है। कारण, सास्कृतिक मूल्यो की जानकारी भर काफी नही है; हमारी शिक्षा सस्थाओ को इस बात के अवसर भी प्रदान करने होगे कि जो सिखाया जा रहा है उस पर अमल भी हो। विद्यार्थियों को स्वच्छद क्रियाकलाप के व्यापक से व्यापक कार्यक्षेत्र देकर उन्हे संकल्प शक्ति को दृढ करने के अवसर प्रदान करने होंगे, अपने काम को संपूर्णता के साथ करने के लिये उद्योगशीलता, धैर्य, अध्यवसाय और निष्ठा जैसे उसके स्थिरयात्मक रूपों को, और नैतिक साहस तथा व्यावहारिक कदम उठाने जैसे उसके गत्यात्मक रूपों को दृढ करने के अवसर। सिर्फ किताबी पढ़ाई के केंद्रो से बदलकर हमें अपनी सस्थाओ को ऐसे सहयोगात्मक क्रियाकलाप के केंद्रो का रूप दे डालने के कठिन कार्य मे जुट जाना पड़ेगा जहां हमारे देश के बच्चों और नौजवानो के अंदर सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावनाएं उत्पन्न की जा सकेंगी।...वक्त आ चुका है कि शिक्षा के क्षेत्र मे हमारे प्रयास व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय अस्तित्व के अधिक शिक्षाप्रद आदर्शों को सामने रखने के लिये हों: न्याय और ईमानदारी के आदर्श, उस सपूर्ण की, जिसकेकि हम अंगमात्र हैं, भलाई के लिए सेवा करने के आदर्श, राष्ट्रीय भाईचारे के आदर्श, सहकारी उद्यम के आदर्श, जो हमारे ऐसे नौजवानो के सामने रहें जो शरीर और मस्तिष्क दोनों से स्वस्थ हैं, जिनकी संकल्प शक्ति सधी हुई और दृढ़ है, भावनाएं परिष्कृत, सच्ची और निष्कपट हैं, और फिर भी जो उदार और सहिष्णु हैं। जो विश्वासपूर्ण भी हैं और विश्वसनीय भी। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमें पूरी लगन के साथ अपनी शिक्षा सस्थाओ को व्यक्तिगत स्वार्थसाधन के स्थानों की जगह सामाजिक ध्येयो के प्रति समर्पित स्थानो मे, सैद्धातिक बौद्धिक एकांगिता के स्थानों की जगह व्यावहारिक, मानवोचित बहुमुखी स्थानो मे, केवल विद्यासंग्रह के केंद्रो की जगह उसके उचित उपयोग वाले केंद्रो मे बदल डालने, के काम में जुट जाना पड़ेगा।

"आप शायद पूछना चाहे, 'मगर यह सब करेगा कौन ?' मेरा जवाब होगा, सभी को यह काम करना होगा।...हमारे शिक्षाकार्य का स्तर और भी ऊंचा उठाने और उसकी परिधि का विस्तार करने के लिए सरकार और

जनता दोनों को ही अपनी शक्ति भर सब कुछ करना होगा।"

डा. ज़ाकिर हुसैन के परवर्ती अभिभाषणों और भाषणों की परीक्षा करने पर हम पाते हैं कि जिन विचारों को यहां व्यक्त किया गया है उन्हें वह बराबर ही दुहराते रहे, मगर मेरा खयाल है कि पिछले चार दशकों की भारतीय शिक्षा का इतिहासकार यही देखेगा कि ये न तो प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध अपने लिए कोई खास स्थान बना सके, और न उन अन्य विचारों के विरुद्ध ही, जो कि इस व्यवस्था के अंतर्गत ही स्थान बनाना चाह रहे थे। मेरा यह भी खयाल है कि अगर डा. ज़ाकिर हुसैन को परिस्थितियों के और अपनी प्रकृति की भी ओजस्विता के फलस्वरूप उस फारसी सूक्ति पर अमल करने का मौका मिल पाता जिसे वह अक्सर सुनाते रहते थे और जिसका अनुवाद यह है कि "एक चीज पकड़ लो और फिर उसे पकड़े ही रहो," यानी, अगर वह एक संस्था में भी अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए समय और शक्ति दे पाते, तो उसका क्रांतिकारी परिणाम सामने आता। हमारे बाजारों में जो सामान दिखाई देता है उसकी यदि सौंदर्यपरक दृष्टि से *बारीकी के साथ और लगातार जांच की जाती* तो हमारे अंदर सुंदर-असुंदर के बीच भेद करने की इच्छा जगती, और हमारे घरों के अंदर ऐसी चीजों का अभाव नहीं दिखाई देता—जैसा कि अधिकांशत आज दिखाई देता है—जो आंखों को अच्छी मालूम होती। हमारे हस्तशिल्पी पढ़े-लिखे लोग होते जो अपनी विचार-शक्ति से काम लेते, वे आंख मूंद कर रूढ़ियों का ही अनुसरण न करते रहते और नकल करने की हर सनक के पीछे गुलामों की तरह न दौड़ पड़ते। तब लोग अपने धंधे के प्रति समर्पित होते, और *उसके आदर्शों पर चलने में गर्व अनुभव करते, न कि सिर्फ रोजगार की तलाश* रहती, जहां कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना आंखों से ओझल हो जाती है और उसकी जगह ले लेती है मजदूरी। बुद्धिजीवी और साहित्यिक लोग अपने ही मस्तिष्क की उर्वरता के बल पर आगे बढ़ते और प्रेरणा के लिए विदेशों की ओर न ताकते। आज की तरह तब हम इतनी आसानी से यह न कहते कि पाश्चात्य शिक्षा ने और अस्तव्यस्त रूप में किए गए शिल्पीय परिवर्तनों ने पुराने नमूनों (पैटर्नों) को बेकार कर दिया है, और उनका स्थान ऐसे नमूने नहीं ले पाए हैं जो आत्माभिव्यक्ति *के अच्छे और वांछनीय रूप हैं। शिक्षा तब हमें अपने अतीत के पुनर्मूल्यांकन* और प्रतिमानों का निर्धारण कर तथा प्रेरक शक्ति उत्पन्न कर, अपने

वर्तमान के पुनर्निर्माण की ओर भी ले जाती।

ऐसा कुछ भी नही हुआ है। शायद हो भी नहीं सकता था। क्योंकि ऐसे शिक्षक ही हमे कहा मिलते जो रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजों को चुनकर उनकी उत्पत्ति की, उनके प्रकारों की, और इस बात की व्याख्या करते कि वे मस्तिष्क, क्रिया और रूप के बीच के पारस्परिक सबंध के ही मूर्त रूप हैं; ऐसे शिक्षक जिनका सौंदर्यबोध इतना सूक्ष्म हो कि मामूली चीजो का भी सौंदर्य वे उद्घाटित कर सकें; ऐसे शिक्षक जो मनुष्यो और संस्थाओ को समझ सकें और इतने प्रबुद्ध और वस्तुनिष्ठ हों कि मानव इतिहास के आलोक में उन पर विचार कर सकें? डा. जाकिर हुसैन के लिए प्रारभिक मसौदे तैयार करते वक्त मुझे उनसे बार-बार यह पूछ बैठना जरूरी लगता था कि वह जरा यह समझाएं तो कि दरअसल उनका मतलब क्या है; बाद को मैंने केर्शेस्टाइनर का 'कंसेप्ट आफ दि वर्क स्कूल' (कार्य-विद्यालय की परिकल्पना) पढ़ा। मैंने खुद रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजें बनाने वालों के दिमागों को 'पढ़ने' के और यह पता लगाने के प्रयोग शुरू किये कि मेरे सहयोगियों और मित्रो में से कितने हैं जिनकी उन मस्तिष्कों को 'पढ़ने' में जिन्होंने कि उन चीजो को मूर्त रूप दिया है दिलचस्पी अथवा उसकी क्षमता है। मुझे इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा कि वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ संस्कृति को शिक्षा का एक माध्यम बनाने के विचार को किसी पद्धति का रूप नही दिया जा सकता; उसका तो निरंतर चलती रहने वाली स्वशिक्षा के ही किसी सिलसिले मे अनुभव हो सकता है, और दूसरो मे से भी उन्ही तक उसे पहुंचाया जा सकता है जो स्वयं भी स्वशिक्षा मे लगे हों।

इसका मतलब यह नही कि स्कूलो मे इस पर काम होने पर इसका जितना अधिक महत्त्व होता, उसके मुकाबले इसका महत्त्व कम है अथवा उसके मुकाबले इसका प्रभावक्षेत्र निश्चित रूप से संकीर्ण हो जाता है। डा. जाकिर हुसैन की दिलचस्पी अगर शिक्षा संबधी किसी खास पद्धति मे ही होती तो हम यही उम्मीद करते कि किसी स्कूल मे उसे लागू करके वह उसका महत्त्व सिद्ध करते; लेकिन इस पद्धति का महत्त्व सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र मे सुधार करने की नही, वल्कि मुख्यतः उन सामाजिक और नैतिक लक्ष्यों की दृष्टि से है जिन तक अंत मे पहुंचना है, और जिनमें समाज के उद्देश्यों और आदर्शों का समावेश है। छह या सात साल की उम्र से अगर आयोजित और अर्थगर्भित क्रियाओं के माध्यम से शिक्षा दी

जाए, तेरह या चौदह साल की उम्र में अगर पेशे का सही चुनाव करा दिया जाए, और उस पेशे की जरूरतों के हिसाब से आगे की शिक्षा के ही अवसर दिये जाए, तो जो समाज इन पद्धतियों के अनुसार और इन उद्देश्यों को सामने रख कर शिक्षा की व्यवस्था करता है उसके अंदर नई जान आती रहेगी और वह लगातार स्वतः ही अपनी उन्नति करता चलेगा। लेकिन जब तक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के बीच एक अनुकूल और स्थायी सयोजन नहीं होता तब तक ऐसी पद्धति केवल एक आदर्श के रूप में रही आएगी। केर्शेनस्टाइनर के शिक्षा संबंधी सुधारों को, जहां तक कि उनके नैतिक उद्देश्यों का संबंध है, नाजी क्रांति ने चौपट कर डाला था; संयुक्त राज्य अमेरिका में बच्चों को निरंतर उन्नत होती रहने वाली सास्कृतिक सामग्री के निकट संपर्क में लाकर एक औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच जो तालमेल बिठाया गया उसके फलस्वरूप व्यक्ति को अधिक स्वाधीनता और स्वायत्तता नहीं मिल पाई है। भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में जो परिवर्तन होते आए हैं *उनके हम कितने ही बड़े आलोचक क्यों न हों, लेकिन स्वाधीन* भारत की सरकार को जिन प्रचंड कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था उनकी कट्टर सिद्धांतवादियों को छोड़ और कोई भी अवहेलना नहीं कर सकता। लेकिन आयोजित और अर्थगर्भित कार्य के माध्यम से स्वशिक्षा हर ऐसे व्यक्ति के लिए सदा संभव रही है और रहेगी, जो कि आवश्यक आत्मानुशासन का पालन करने को तैयार है।

मुझे यह स्वीकार करना ही होगा कि जिस जमाने में डा. जाकिर हुसैन के साथ मेरा निकट सहयोग रहा, अक्सर मेरी राय एकांगी और आत्मपरक रही। मैं जानना चाहता था कि उनकी अपनी दिनचर्या इतनी ज्यादा ढीलीढाली क्यों है कि जबकि दूसरी ओर वह आयोजित रूप में काम करने पर इतना जोर देते हैं, वह खुद इतनी सारी चीजों में क्यों फंसे रहते हैं जबकि दूसरों को यह सलाह देते रहते हैं कि 'एक बात को पकड़ लो, और फिर उसी को बराबर पकड़े रहो'; और सबसे बड़ी बात यह, कि जब इतना सारा काम करने को पड़ा है तब वह इस हद तक शिष्टाचार के बस में क्यों आ जाते हैं कि वह हर ऐरे-गैरे के लिए खुला और आम निमंत्रण-सा बन जाता है कि वे आएं और उनका वक्त बरबाद करें। अब मुझे लगता है कि मेरी ही दृष्टि उलटी थी। मुझे समझना चाहिए था

कि जो पद्धतिया शिक्षा और शिक्षित व्यक्ति केबारे में डा. जाकिर हुसैन के आदर्श की बुनियाद थी वे हमें उस 'स्थिति' या 'अवस्था' की ओर ले जाने वाली हैं जहा हम अपने लिए कुछ नही चाहते और एक रहस्यपूर्ण तरीके से हम परिस्थितियों द्वारा आरोपित कामो को स्वत स्वीकृत कर्त्तव्यों के रूप में पूरा करने लग जाते हैं। यह स्थिति या अवस्था हमारे रक्त मास को किसी ऐसे यंत्र का रूप नहीं देती जो निर्धारित काम को अपने आप करता चला जाए, और न मनुष्य को सारी मानवीय दुर्बलताओं से ही ऊपर उठा देती है। और यह बात खासतौर से तब याद रखनी होगी जब हम ऐसे किसी व्यक्ति पर विचार कर रहे हो जो उपदेशक नही शिक्षक है, और जिसके लिए सिर्फ उतनी शिक्षा तक ही अपने को सीमित रखना सभव नही जितने पर वह खुद भी अमल करता हो। उसे तो उनकी विफलताओं और पराजयों के दर्द में भी हिस्सा बंटाना होता है, और हर विफलता के बाद एक नए प्रयत्न के लिए तैयार करने में।

पर मैं इतना ज्यादा भी नही भटक गया था कि डा. जाकिर हुसैन की जीवन-पद्धति को भी उलटी ही दृष्टि से देखता। मैं देखता था कि जहां योजना बनाकर चलना आवश्यक और संभव होता था वहा वह योजना बनाकर ही काम करते थे, और सयोगों के लिए कम-से-कम गुंजाइश छोड़ते थे। जब कभी कोई समारोह करना होता था, वह उसकी पूरी तफसील मे जाते थे। जब कभी उन्हे किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से मिलना होता था, सारी बातचीत वह तैयार कर लेते थे। हर तरह के सवालो का जवाब उनके पास पहले से तैयार रहता था। बातचीत में लडखडा जाने या किसी शब्द के छूट जाने का उन्हे इतना डर बना रहता था कि अपने लिखित भाषणो का वह बडी सावधानी से अभ्यास करके जाते थे। इसमे सदेह नही कि लिखने के लिए बैठने का शारीरिक काम न जाने क्यो उन्हें बेहद नापसद था। लेकिन जो कुछ उन्हें लिखना होता था उसकी वह शुरू से आखिर तक की पूरी योजना बना डालते थे, चाहे वह कोई रेडियो वार्ता हो या कोई विद्वतापूर्ण व्याख्यान। दिमाग मे सारा मसाला बिलकुल सिलसिलेवार तैयार रहता था, मगर लिखते वक्त वह बेचैन रहते थे। मेरे जैसे लोगों को, जो कि वक्त पर ही लिखने बैठ जाते हैं और वक्त पर ही पूरा कर देते हैं, लेकिन जिनका सोचना भी लिखने के साथ ही साथ चलता रहता है वह 'हैवाने-कातिब' कहा करते थे, यानी, लिखने वाला हैवान। जब तक भी संभव हो, लिखने के काम को

टालते ही चले जाने का उनका तरीका कोई गलत तरीका है, यह मेरा मतलब नही है; इसका जिक्र मानव-वैचित्र्य के सदर्भ मे होना चाहिए।[1]

भारतीय संस्कृति के भौतिक पदार्थों के प्रति उनके रसबोध को व्यक्त करने वाली कोई भी चीज बरसो तक न उनके दफ्तर मे ही देखने को मिली और न उनके घर पर ही, सिवा जामिया प्राइमरी स्कूल के एक शिक्षक उस्ताद अली मुहम्मद खा के हाथ की रोशन खुशनवीसी के कुछ बहुत ही आला नमूनों के, क्योंकि उस्ताद अली मुहम्मद खा इस कला मे भी बडे माहिर थे। उनकी प्रारभिक उत्कृष्ट कलाकृतियो की फोटो प्रतिया भी उन्होंने कराई थी, लेकिन सजावट के तौर पर उनका इस्तेमाल इसलिए नही किया जा सका कि उन्हे फ्रेम मे मढने के लिए कभी रुपया नही हो पाया, डा जाकिर हुसैन अपने घरेलू सग्रह के लिए कुछ खरीदने की बात तब तक सोच भी नही सकते थे जब तक कि घर-गृहस्थी की आयोजित अर्थव्यवस्था के अदर उसकी गुजाइश न निकाली जा सके।

---

[1]एक बार, जब जामिया मिलिया करोलबाग मे ही था, मैंने शाम को बाजार से कुछ सामान खरीदने के लिए स्टाफ-कार मांग ली। मैं और मेरी पत्नी रवाना होने को ही थे, कि डा. जाकिर हुसैन आ पहुचे और, अगर हमे एतराज न हो तो, साथ बैठ जाने की इजाजत मांगी। हमे तो खुशी ही हुई कि उनका साथ रहेगा। जब करीब दो घटे बाद हम लोग घर लौटे तो उन्होने मेरी ओर घूमकर देखा, और पूछा, "जानते हो, तुम्हारे साथ क्यों गया था ?" "आपको भी कुछ खरीदना था, न ?" "नही। मुझे कुछ खरीदना नहीं रहता। मैं सिर्फ इसलिए यहा से रिहाई चाहता था कि मेरा कुछ बहुत जरूरी लिखना बाकी था।" उनकी आवाज में एक तीखापन था जिससे साफ था कि उनके अदर कोई द्वद छिड़ा हुआ था, और इस बात से वह जरा भी खुश नही थे कि लिखने से बचने की इच्छा उन पर हावी हो गई थी। उसके बाद बहुत देर रात तक जागकर उन्होंने अपनी वह वार्ता लिखकर पूरी की।

उनकी बेटी सईदा ने मुझे बताया है कि कभी-कभी वह उसके साथ बातचीत या बहस करने लग जाते थे, और कुछ देर बाद उससे पूछ बैठते थे कि क्या उसे पता है कि उन्होंने उसका वक्त क्यो बरबाद किया। "बात यह है कि मुझे एक बहुत जरूरी चीज लिखनी है।"

इन दिनों की उनकी लिखाई का अधिकांश काम बिस्तर पर ही बैठे-बैठे होता था और मेज की जगह वह तकिये का इस्तेमाल करते थे। मैं बरसों तक कोशिश करता रहा कि अपने दफ्तर में वह कुरसी रखें और सही किस्म की मेज पर लिखा करें, पर वह राजी ही नही हुए। आखिरकार, जब वह किसी काम से दिल्ली से बाहर गए हुए थे, उनकी दरी और नीची डैस्क को हटाकर उनकी जगह एक कुरसी और एक मेज रख ही दी गई। मगर उन्हें यह पसद नही आया।

जो भी कुछ वह बचा पाए, बड़ी बेटी सईदा के ब्याह के साथ भेजे जाने वाले साज-सामान के लिए जोड़-जोड़कर रखा गया, यह कार्य उसके विवाह की उम्र आने से बहुत पहले से ही शुरू कर दिया गया था। कला-वस्तुओं का उनका प्रथम संग्रह था बांस की छड़ियां। जब मुझे इनके शुरू वाले नमूने दिखाए गए और मैंने जानना चाहा कि उन्हें उनमें क्या खूबी नजर आई, तो उन्होंने मुझे बताया कि इन छड़ियों की खूबी इस बात मे होती है कि वे किस क्रम से पतली होती गई हैं, उनकी गाठें कितने फासलों पर हैं, वे कितनी वजनी हैं और एक अरसे तक सरसों के तेल की मालिश करते रहने के बाद उनका रंग कितना गहरा हो चुका है। उनका अगला सग्रह खुशनवीसी का था। जहां-तहां से अपनी औकात के हिसाब से खरीद ली गई कुछ चीजें भी थीं। मुझे एक पीतल के प्याले की याद है जो उन्हें बहुत पसद था। उसकी शक्ल बड़ी खूबसूरत थी, और जब मैंने यह आपत्ति की कि किनारे अदर की ओर मुड़े होने की वजह से इसका इस्तेमाल कुछ सुविधाजनक नहीं है तो वह जरा चक्कर में पड़ गए। जब तक वह जामिया मे रहे, आर्थिक तंगी की वजह से वह अपनी सौंदर्यपरक रुचि को तृप्त नही कर पाए। लेकिन जब उनके पास फालतू पैसा हो गया तब भी वह सस्ती और सीधीसादी चीजों के सौंदर्य की ही तलाश मे रहते थे।

शिक्षाविद के नाते डा. जाकिर हुसैन की जिंदगी की दुखदायी बात यही थी कि उनकी ओजस्विता और गतिशीलता के प्रति, आयोजन, सूक्ष्मता और उत्कृष्टता के लिए उनकी प्रचड आसक्ति के प्रति, उनके सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया विषम ही रही। जामिया मिल्लिया के उनके सहयोगी धीरे-धीरे यह महसूस करने लग गए कि उन्हें संतुष्ट कर सकना असभव है। वह जरूरत से ज्यादा बेचैन हैं, जरूरत से ज्यादा उम्मीद कर बैठते हैं। वे यह भी जानते थे कि उनके बिना उनका काम नहीं चल सकता। इसलिए अधिकाश ने तो यही आसान तरीका अख्तियार कर लिया कि कुछ बहस के बाद, या बिना बहस किये ही, हमेशा उनकी बात मान लो, वह उनसे जो कराना चाहते हैं उसे मन मार कर ढीले-ढाले ढंग से करते चलो, और फिर अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए कोई ऐसी कठिनाई सामने रख दो, जिसकी सचाई से आमतौर पर इंकार न किया जा सके। प्रारंभिक स्कूल में प्रयोजना-प्रणाली और माध्यमिक स्कूल में दस्तकार्य पद्धति में कुछ ही वर्षों के बाद ढिलाई आ गई; शिक्षक-विद्यालय मे बड़े

जोशखरोश के साथ दस्तकारियों के जरिये शिक्षा देने का जो काम शुरु किया गया उसमे एक भी शिक्षक ऐसा नही था जो उसका एक बाहरी ढाचा खडा करने से कुछ ज्यादा आगे बढ सकता था। ओखला वाले प्रारंभिक स्कूल के बागीचे की पहली योजना किसी ऐसे व्यक्ति ने बनाई थी जो समझता था कि वह डा. जाकिर हुसैन से ज्यादा बागवानी जानता है। 1943-44 मे शुरु की गई कितनी ही प्रायोजनाए, जबकि रुपयो की उतनी तगी नही थी, अयोग्यता के कारण अथवा दिलचस्पी की कमी की वजह से विफल हो गई। फकीरा माली ही अकेला आदमी निकला जिसके तौरतरीके और काम से डा जाकिर हुसैन खुश और प्रभावित जान पडे, और एक बार तो कह उठे कि अगर उनके बस मे होता तो वह फकीरा को ही अपना वारिस बना जाते। जामिया वाली जमात ने इस बात को अपनी आलोचना न समझ यही माना कि अपनी आदत के मुताबिक डा जाकिर हुसैन ने एक और फुलझडी छोडी है।

जामिया के काम के बारे मे उनका अपना मूल्याकन आमतौर पर प्रेक्षकों की राय के साथ मेल नही खाता था जो कि जामिया की जमात को ऐसे शिक्षको और कार्यकर्ताओ की एक सजीव, तत्पर और समर्पित सस्था के रूप मे देखते थे जो शिक्षा और सस्कृति के एक ऊचे, परपरागत आदर्श को कायम कर रहे हैं। उनका अपना मूल्याकन अवसर के अनुसार बदलता रहता था, क्योकि जब कोई असाधारण काम आ जाता था तब जामिया के लोग पीछे नही रहते थे। लेकिन, जैसा कि वह अक्सर कहते रहते थे, शिक्षा के काम मे तेजी की भी जरूरत है और अध्यवसाय एवं दृढता की भी। जामिया के लोगो मे तेजी तो काफी मात्रा मे आ जाया करती थी, लेकिन डटे रहने की क्षमता नही थी।

जामिया मिल्लिया के सीमित क्षेत्र से बाहर निकलकर भी डा जाकिर हुसैन को कुछ अधिक अच्छे परिणाम देखने को नही मिले। आराम के मौके जैसे-जैसे बढते जान पड़े वैसे-वैसे उनकी व्यथा और भी गहरी होती गई।

5

बुनियादी तालीम का साहसपूर्ण कदम

डा. जाकिर हुसैन की जिंदगी का एक सिलसिला गांधी जी द्वारा छेड़े गए और उनके द्वारा प्रेरित सरकारी स्कूल-कालेजों के बहिष्कार आंदोलन के फलस्वरूप जामिया मिल्लिया की स्थापना से शुरू होता है और दूसरा दौर 22 अक्तूबर 1937 को वर्धा मे आयोजित उस सम्मेलन में भाग लेने से जो देहातो के लिए नि.शुल्क, अनिवार्य और स्वावलंबी शिक्षा की गाधी जी की योजना पर विचार करने के लिए बुलाया गया था। मुझे हाल ही में गुजरात के राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण से, जो उन दिनों मारवाड़ी शिक्षा समिति के सचिव और इस सम्मेलन के आयोजक थे, पता चला कि डा. जाकिर हुसैन का नाम आमंत्रितों की मूल सूची मे था ही नही, और उन्ही के सुझाव पर डा. आबिद हुसैन के और मेरे नामों के साथ-साथ बढ़ाया गया था। मैं तो सिर्फ इसलिए गया कि बुलाया गया था; लेकिन डा. जाकिर हुसैन वर्धा के रास्ते भर इसी विचार मे लीन जान पड़े कि इस अवसर का क्या उपयोग किया जा सकता है, और वह जोखिम भरा कदम उठाने के लिए उत्सुक थे।

'हरिजन' के एक अंक में, जो सम्मेलन के बीस दिन पहले निकला था, गाधी जी ने लिखा था :

"1920 मे वर्तमान शिक्षाप्रणाली के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाने के बाद आज जब इस बात का मौका मिला है कि सात कांग्रेसी प्रातो के मत्रियों को, कितनी भी कम मात्रा मे क्यों न हो, प्रभावित किया जा सकता है···तो इस आरोप को सही साबित कर दिखाने की एक अनिवार्य चुनौती सी मेरे सामने आ गई है कि आज की शिक्षापद्धति ऊपर से नीचे तक बुनियादी तौर पर गलत है। और इन स्तभो मे जो बात ठीक-ठीक कह नही पा रहा था वह अचानक मेरे दिमाग मे कौंध गई, और उसकी सचाई दिन पर दिन मेरे अदर जमती जा रही है। इसलिए इस देश के शिक्षाविदो से मैं यह कहने का साहस कर रहा हूं···कि वे मेरे दो सुझावो पर विचार करें, और ऐसा करते वक्त वर्तमान शिक्षाप्रणाली सबंधी अपनी पिछली धारणाओं और पक्के विचारो को थोड़ी देर के लिए भूल कर अपनी बुद्धि के प्रवाह को अबाध गति से बहने दें···

"1. आज जिसे प्रारभिक, माध्यमिक और उच्च स्कूलो की शिक्षा कह कर चलाया जा रहा है उसका स्थान सात या उससे भी अधिक वर्षों की ऐसी शिक्षा ले, जिसमे प्रवेशिका (मैट्रिक) के स्तर तक के, अग्रेजी को छोड़, बाकी सभी विषय तो रहे ही, साथ ही कोई एक ऐसा धधा रहे जो ज्ञान के सभी विभागो मे लडके लड़कियो के चित्त को ले जाने का माध्यम बन जा सके।

"2. कुल मिला कर इस तरह की शिक्षा स्वावलबी बन सकती है और ऐसा करना ही होगा; सच पूछा जाय तो उसकी यथार्थता की खरी परीक्षा इसी तरह के स्वावलबन मे ही है।"[1]

'हरिजन' के उसी अक मे गाधी जी ने स्वावलंबन के अपने उसी विचार को यह कहते हुए कुछ और आगे बढाया कि उन धधो के जरिए विद्यार्थी अपनी ही मेहनत से अपना शिक्षाशुल्क देने योग्य बना दिए जा सकते है। जिन धधो या पेशो को आसानी से सीखा और अमल मे लाया जा सकता है उनमें उन्होने जिन-जिन का उल्लेख किया वह थे "कपास, ऊन और रेशम की सारी शिल्प-प्रक्रियाए ·· बुनाई, कशीदाकारी, दर्जी का काम, कागज बनाना, कटाई, जिल्दसाजी, खिलौने बनाना, लकडी का बारीक काम, गुड बनाना।"[2] सम्मेलन मे भी गाधी जी ने कहा

[1] एजुकेशनल रिकस्ट्रक्शन (शैक्षिक पुनर्निर्माण), हिंदुस्तानी तालीमी सघ, सेवाग्राम, वर्धा, छठा सस्करण, 1956, पृ. 27-28।

[2] वही-पृ. 31।

कि यों वह सुझाव मिलने पर और भी किसी दूसरी दस्तकारी की बात पर विचार कर सकते हैं, "लेकिन मुझे विश्वास है कि तकली[1] हमारी समस्या का एकमात्र समाधान है, क्योंकि हमारे देश की आर्थिक स्थिति बहुत ही शोचनीय है। 1920 से खादी का जो रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किया गया उसकी बदौलत सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन पाए हैं, और उन्हें भी उतनी ही मात्रा में सफलता मिलेगी जितनी मात्रा में हम इस रचनात्मक कार्यक्रम पर अमल कर सकेंगे।

"मंत्रियों के सामने मैंने यह योजना रखी है; अब यह उनका काम है कि वे इसे स्वीकार करें या रद्द कर दें। मगर मेरी सलाह यही है कि प्रारंभिक शिक्षा का केंद्र तकली ही हो। पहले साल में सारी शिक्षा का केंद्र तकली के ही जरिए हो; दूसरे साल में दूसरी प्रक्रियाएं भी इसके साथ-साथ सिखाई जा सकती हैं..."[2]
उसी भाषण में गांधी जी और भी पहले यह कह चुके थे :

"उदाहरण स्वरूप, तकली पर कातना सिखाते वक्त, हमें कपास की विभिन्न किस्मों, भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों की अलग-अलग मिट्टियों, दस्तकारी के ह्रास के इतिहास, उसके राजनीतिक कारणों, जिसमें भारत में अंग्रेजी शासन का इतिहास भी आ जाता है, कुछ अंकगणित, आदि, आदि, बातों की भी पूरी जानकारी देनी होगी।"[3]

किसी भावावेश पूर्ण वातावरण के प्रति सवेदनशील कोई भी व्यक्ति यह देख सकता था कि श्रोतामंडली में जो लोग सिद्धांत तथा व्यवहार में गांधी जी के अनुयायी होने का दम भरते थे वे उनके व्यक्तित्व के चमत्कार से अत्यत प्रभावित हो उठे थे, और गांधी जी स्वयं तकली के चमत्कार से। गांधी जी के भाषण से कोई यथार्थवादी यही निष्कर्ष निकलता कि उनकी प्रस्तावित शिक्षाप्रणाली ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करने के उनके कार्यक्रम के ही एक विस्तार के रूप में थी, और नव-निर्मित कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से वह इस कार्यक्रम को

---

[1]फ़ौलाद की करीब 9 इंच लंबी एक पतली छड़ी जो किसी धातु की एक छोटी-सी चकती के मध्य से बाहर निकली रहती है, और जिसके ऊपरी छोर को रेत कर उसमें कांटा बना दिया जाता है, और चकती के नीचे वाला छोर पैना कर दिया जाता है।

[2]'एजुकेशनल रिकंस्ट्रक्शन', पृ. 49।

[3]वही—पृ. 48-49।

सरकारी नीति का एक हिस्सा बनाने के लिए कह रहे थे। ऐसा लगने लगा था कि श्रोतामंडली न सिर्फ गांधी जी के विचारो को स्वीकार कर रही है, बल्कि यह भी मान बैठी है कि वे एक नई ही शिक्षाव्यवस्था के द्योतक हैं। डा. जाकिर हुसैन ने यह सब कुछ देखा, और गांधी जी का भाषण पूरा होते ही उन्होंने इधर-उधर नजर डाली, और इस तरह उठ खड़े हुए मानो किसी चुनौती का जवाब देने जा रहे हों।

"महात्मा जी का खयाल है कि उन्होंने जो योजना आप लोगो के सामने रखी है वह बिलकुल ही मौलिक है, और यह कि इसे वे ही लोग स्वीकार कर सकते हैं जिनकी अहिंसा और देहाती सभ्यता मे आस्था है। लेकिन जो लोग शिक्षा के क्षेत्र मे काम करते आ रहे हैं उनके लिए महात्मा जी की योजना बिलकुल ही नई नही है। वे जानते हैं कि असली शिक्षा काम के जरिए ही दी जा सकती है। वे यह भी जानते हैं कि बच्चो को विभिन्न विषयो की शिक्षा हाथ के काम के जरिए ही दी जा सकती है—भले ही हम देहाती सभ्यता के पक्ष मे हों या शहरी सभ्यता के, चाहे हमारी आस्था हिंसा में हो या अहिंसा मे।···इसलिए अनेक शिक्षाविद हाथो से किए जाने वाले किसी न किसी काम को शिक्षा का केंद्र बनाने की कोशिश करते रहे हैं। अमेरिका मे इस पद्धति को प्रायोजनाप्रणाली (प्रौजेक्ट मेथड) कहा जाता है और रूस मे जटिल कार्यप्रणाली (काप्लेक्स मेथड)। अपने बच्चो को हम निश्चय ही तकली और चरखे के या किसी दूसरी उपयुक्त दस्तकारी के जरिए शिक्षा दे सकते है।···

"किसी विषय के कुछ पहलू ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हे तकली के जरिये नही सिखाया जा सकता। क्या उन्हे बिलकुल छोड ही देना होगा ? नही। इन विषयो को जहा तक सभव होगा, तकली के जरिये ही हम सिखाएगे। बाकी को हम छोड रखेंगे। हमारा सिद्धात यही रहेगा कि दस्तकारी के जरिये बुद्धि का विकास किया जाए, लेकिन हम उसमे बधे नही रहेगे।···

"शिक्षा के स्वावलबन सबधी पहलू के बारे मे मैं कुछ शब्द कहना चाहता हूं। शिक्षा के स्वावलंबी बनाने के प्रयोग जहा-जहां भी किए गए हैं उन्हे सफलता नही दिलाई जा सकी है। अमेरिका मे प्रो ड्यूई की भी ऐसी ही योजना थी और बडे उत्साह से लोगो ने उसे लिया था, लेकिन कुछ ही बरसो बाद उन्हे अपना स्कूल बद कर देना पड़ा। अमेरिका एक समृद्ध देश है जहां न धन की कमी है और न

राजकीय सहायता की। अगर वहां यह प्रयोग सफल नही हो पाया तो हमारे जैसे गरीब देश में इसकी सफलता की क्या उम्मीद की जाए ?

"आप कहेंगे कि हमें इसीलिए तो स्वावलंबी स्कूलों की जरूरत है, कि हम गरीब हैं।...लेकिन शिक्षा के स्वावलंबन वाले पहलू पर बहुत ज्यादा जोर डालने में एक खतरा भी है। शिक्षक तब लड़कों से पुराने जमाने के गुलामों के मालिकों की तरह काम लेने लग जा सकते हैं और उनके परिश्रम से बेजा फायदा उठा सकते हैं। अगर ऐसा हुआ, तब तो तकली किताबों से भी ज्यादा बुरी साबित होगी। तब हम एक छिपी हुई गुलामी की ही नींव अपने देश मे डालेंगे।...."[1]

मेरी ही भांति डा. जाकिर हुसैन ने भी आसपास के चेहरों को तमतमाते हुए देखा होगा। गांधी जी के चमत्कार के प्रति उन्होंने संदेह प्रकट किया था : वह उनके जादू मे नही फंसे थे। श्रीमती आशादेवी ने कहा कि "हमे सभी मानसिक भ्रांतियों का परित्याग कर इस प्रश्न पर एक बिलकुल ही नए दृष्टिकोण से विचार करना होगा, क्योंकि हम यह नही भूल सकते कि हम एक नए युग का निर्माण करने जा रहे हैं, एक नई समाज व्यवस्था की स्थापना करने जा रहे हैं, और इसलिए हमें अब तक का सारा सीखा हुआ भुला देना होगा और शिक्षा के 'गुरुकुल' वाले अपने प्राचीन आदर्श को प्राप्त करना होगा, जो पूरी तरह हाथ के काम पर आधारित था।"[2] महादेव देसाई ने कहा कि "स्वावलंबी शिक्षा के विचार को अहिंसा वाली विचारधारा की पृष्ठभूमि से अलग नही किया जा सकता, और जब तक हमारे मन में यह बात नही रहेगी कि इन नई योजना का उद्देश्य एक ऐसे नये युग को लाना है जिससे वर्गसंबंधी तथा साम्प्रदायिक घृणा का अंत कर दिया जाएगा और शोषण के लिए कोई स्थान नही रहेगा, तब तक हम इसे सफल नही बना सकते। इसलिए अहिंसा मे दृढ आस्था रख कर ही हमे यह काम हाथ में लेना चाहिए और यह विश्वास लेकर कि यह नई योजना उस मस्तिष्क की उपज है जिसने अहिंसा को सभी बुराइयों की रामबाण दवा माना है।"[3]

इस तरह की बातें कहना यही कहने जैसा था कि डा. जाकिर हुसैन उस

[1]वही—पृ. 53-55।
[2]वही-पृ. 67।
[3]वही-पृ. 80-81।

दायरे से बाहर वाले हैं, कि गाधी जी की योजना के गूढ़ तत्व की ओर उनका ध्यान जा ही नही पाया है, और यह भी कि उन्होंने अश्रद्धा का प्रदर्शन करने जैसा अपराध किया है। पर जान पड़ता है कि गाधी जी स्वय किसी ऐसे आदमी की ही तलाश मे थे जो उनके दिल की असली बातें समझ लेगा और उन्हें स्पष्टता और साहस के साथ सामने लाएगा। और उन्होंने देख लिया कि वह आदमी डा. जाकिर हुसैन हैं। उन्होने उन्हे संपूर्ण सम्मेलन वाली उस समिति का अध्यक्ष नामजद कर दिया और सम्मेलन के लिए प्रस्ताव तैयार करने का काम उन्ही के सुपुर्द किया। डा. जाकिर हुसैन ने उस समिति को चार बातो पर राजी करके अपना जौहर दिखलाया, जिन्हे अगले दिन सम्मेलन की भी स्वीकृति मिल गई, केवल प्रो. के. टी. शाह का ही एक प्रस्ताव पर मतभेद रहा। प्रस्ताव ये थे :

1. कि इस सम्मेलन की राय मे नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की पूरे राष्ट्र-व्यापी स्तर पर सात साल तक के लिए व्यवस्था हो।

2 कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

3. कि यह सम्मेलन महात्मा गांधी के इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता है कि इस पूरी अवधि के ही बीच शिक्षा की प्रक्रिया किसी प्रकार के हाथ के, और उत्पादक, कार्य को केंद्र बना कर होनी चाहिए, और यह कि अन्य जितनी भी योग्यताओं का विकास किया जाए अथवा जितने भी अन्य प्रशिक्षण कार्य हो वे, जहा तक सभव हो, बच्चे के परिवेश का उचित खयाल रख कर चुने गए केंद्रीय हस्तशिल्प के साथ पूर्णतया संबद्ध रहे।

4 कि यह सम्मेलन आशा करता है कि यह शिक्षा-पद्धति धीरे-धीरे शिक्षको का पारिश्रमिक देने लायक बन जायगी।

गांधीजी के विचारो को ही इस तरह एक आधुनिक रूप दे दिया गया, हालाकि उनमे कुछ महत्त्वपूर्ण हेरफेर भी कर डाले गए। सम्मेलन के बाद एक पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए डा. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता मे एक समिति बनाई गई जिसने उसके नवीन रूप को स्थिरता प्रदान की, और इस योजना का नाम रखा बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा। इसके बाद क्या-क्या होता चला गया यह समझ सकना मुश्किल ही है, जब तक कि हम यही न मान लें कि इस योजना की व्याख्या बराबर ही दो अलग-अलग रूपो मे की जाती रही, गाधीवादी रूप मे और आधुनिक रूप मे। डा. जाकिर हुसैन की व्यवहारकुशलता तथा गाधीजी के प्रति

उनकी गहरी श्रद्धा के कारण इन दोनों व्याख्याओं के बीच के अंतर को कभी भी किसी स्पष्टता के साथ उभर कर सामने नहीं आने दिया गया। फिर भी यह अंतर बना तो रहा ही, और इस योजना के बारे में लोगों के दिमाग में जो उलझन रही आई उसका एक प्रमुख कारण यही था।

मई 1938 के अंत की ओर 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा' का जो दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, उसकी प्रस्तावना में गांधीजी ने लिखा कि इस योजना का "एक ज्यादा सही, हालांकि कहीं कम आकर्षक वर्णन होगा—ग्राम हस्तशिल्पों के जरिये देहाती राष्ट्रीय शिक्षा"। उनके दिल में जो खास बात थी वह इससे प्रकट हो जाती है। शिक्षा को, इस तरह, गांवों की दस्तकारियों को वैज्ञानिक ढंग से चलाए जाने वाले धंधों में परिणत करने का साधन बनना था। कुछ साधारण ज्ञान को तो वह आवश्यक मानते थे, खासतौर से ऐसे ज्ञान को जो नौजवानों को इस योग्य बना दे कि अपने धंधे को वे सही आर्थिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देख सकें और अपने देश के प्रति उनके क्या कर्त्तव्य हैं इसका भी उन्हें बोध हो सके। लेकिन विद्योपार्जन के प्रश्न में उनकी दिलचस्पी थी ही नहीं, क्योंकि 'देहाती राष्ट्रीय शिक्षा' को तो स्वावलंबी होना था। राज्य को ही जब गांवों मे स्कूल खोलने का काम करना था तो उन्हें वह स्वावलंबी भी बनाएगा ही, या दूसरे शब्दों मे, उनके द्वारा उत्पादित माल को खुद लेकर उन्हे एक ठोस आर्थिक बुनियाद पर खड़ा करेगा। शिक्षा संबंधी इस उद्यम के लिए राज्य को राजी करने के ही उद्देश्य से वर्धा सम्मेलन मे कांग्रेसी प्रांतो के शिक्षा मंत्रियो तथा शिक्षा विभाग के निदेशकों को आमंत्रित किया गया था। गांधीजी ने उनसे यही कहा कि वे लोग उनके विचारों को चाहें तो स्वीकार करें और न चाहें तो अस्वीकार कर दें, लेकिन हरिपुरा कांग्रेस ने जब बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना को बाकायदा मंजूर कर लिया तो उसके बाद कांग्रेसी सरकारों के सामने उसे नामंजूर करने का सवाल रह ही नहीं गया। यह योजना कांग्रेस की नीति का एक अनिवार्य अंग बन गई, बल्कि वह एक ऐसा पंथ बन गई जिसे मानने और जिसका प्रचार करने के लिए हर कांग्रेसजन बाध्य था, और साथ ही सच्ची राष्ट्रीयता की एक प्रतीक भी।

लेकिन चूंकि राज्य पर ही इस योजना का बहुत ज्यादा दारमदार था ठीक इसी वजह से यह साधारण विवाद की ही नहीं अक्सर तो राजनीतिक दृष्टि से

प्रेरित विवाद की विषय बन गई। जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट पेश होने के शीघ्र ही बाद शिक्षा के केंद्रीय सलाहकार मंडल ने, जनवरी 1938 की अपनी बैठक मे, "वर्धा योजना मे समाविष्ट—जो बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा का एक दूसरा नाम पड़ गया—शिक्षा पुनर्गठन की योजना की, वुड-ऐबट रिपोर्ट तथा अन्य संबद्ध कागजात की रोशनी मे, जांच करने के लिए" बंबई के प्रधानमंत्री और शिक्षामंत्री श्री बी जी. खेर की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त कर दी। डा. जाकिर हुसैन भी इस समिति के सदस्य थे और उनकी स्थिति एक ऐसे उम्मीदवार जैसी थी जिसे अपने दावे को न्यायकर्ताओं के सामने सही साबित करना था।

इस समिति[1] की रिपोर्ट मे कहा गया है कि डा जाकिर हुसैन का खयाल यह था कि अगर वह पहले यह बता दें कि वर्धा योजना क्या नही है, तो विचार विमर्श मे असबद्ध बातो की गुजाइश कम रह जाएगी।···आलोचना मुख्यत इस विचार के विरुद्ध चल पडी कि यह योजना पूर्णतया इसी स्पष्ट उद्देश्य को सामने रखकर गढी गई थी कि शिक्षा को विद्यार्थियो द्वारा बनाए गए माल को बेच कर ही स्वावलंबी बनाया जाएगा। हमने तो अब बच्चो से बेगार के रूप मे काम कराने जैसी शक्ल ले ली। यह राय बिलकुल ही गलत थी। योजना शिक्षा की थी, न कि उत्पादन की। दस्तकारी और कामकाज के शैक्षिक महत्व पर बराबर जोर दिया गया था और आर्थिक प्रश्न बिलकुल ही गौण था। वर्धा योजना वाले स्कूलो मे जो शिक्षा दी जाने वाली है उसका माध्यम होने को हैं, बच्चे से और उस दस्तकारी वाले कामकाज से सबद्ध भौतिक और सामाजिक परिवेश से उत्पन्न होने वाली, जीवन की यथार्थ स्थितिया। एक सपूर्ण और सर्वांगीण शिक्षा देने की समस्या के मामले मे कामकाज के जरिये शिक्षा देने वाला दृष्टिकोण अब सभी शिक्षकों द्वारा सबसे अधिक प्रभावशाली माना जाने लगा है···

"वर्धा योजना 'केवल' उत्पादन की दृष्टि से स्कूलों मे किसी प्रकार के भी यान्त्रिक परिश्रम की विरोधी है और उसने शिक्षा की आवश्यक शर्त यह रखी है कि उसके माध्यम के रूप मे दस्तकारी का या उत्पादन का जो भी काम चुना

[1]भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय की केंद्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा नियुक्त समितियो की रिपोर्ट, 1958, पृ. 1-3।

जाए उसकी शैक्षिक संभावनाएं प्रचुर होनी चाहिए। मनुष्य के महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलाप तथा हितों के साथ अन्योन्य संबंध की प्राकृतिक बातों का उसे पता लगाना चाहिए।...

जोशीले किंतु भटके हुए प्रचारकों द्वारा दिये गए व्यक्तव्यों के फलस्वरूप इस योजना की पूरी जानकारी के बिना जो आलोचना की गई है उसकी डा. जाकिर हुसैन ने निंदा की। उन्होंने इस बात से इंकार किया कि यह योजना बेरोजगारी को दूर कर देगी; दरअसल बेरोजगारी के सवाल का तो उनकी रिपोर्ट में कोई जिक्र तक नहीं है, हालांकि वह यह जरूर महसूस करते हैं कि वर्धा योजना वाले स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए, विद्यमान स्कूलों के विद्यार्थियों की अपेक्षा, 'रोज-गार' पाने की गुंजाइश ज्यादा रहेगी, क्योंकि इस योजना को तैयार ही इस दृष्टि से किया गया है कि इससे जो "लोग तैयार होंगे वे हर तरह के उपयोगी काम को सम्मानजनक समझेंगे और वे अपने ही पांवों पर खड़ा होना चाहेंगे और इसकी क्षमता भी प्राप्त कर लेंगे।" उन्होंने इस बात से भी इंकार किया कि इस योजना में कहीं भी इस बात का उल्लेख है या यह ध्वनि निकलती है कि पढ़ाई पूरी होने पर[1] इन लोगों को सरकार रोजगार देगी, या यह कि सभी विद्यमान स्कूलों को तुरंत वर्धा योजना वाले स्कूलों में परिणत कर दिया जाएगा।

"इसके बाद डा. जाकिर हुसैन ने मुख्यतः मुस्लिम क्षेत्रों द्वारा किसी-न-किसी रूप में की गई इस आलोचना का जवाब दिया कि वर्धा योजना वाले प्रस्तावित स्कूलों में धार्मिक शिक्षा की अवहेलना की जाएगी और उनका दृष्टिकोण पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष रहेगा। उन्होंने स्वीकार किया कि इस योजना में धार्मिक शिक्षा का कोई पाठ्यक्रम अवश्य नहीं है क्योंकि उसके मार्ग में जो बाधाएं हैं वे स्पष्ट हैं, लेकिन उसकी मूलभूत बातों में एक है सभी धर्मों के लिए सम्मान। आज वाली इस स्थिति में, कि कोई भी संप्रदाय अपने खर्च पर सरकारी या स्थानीय निकायों वाले स्कूलों में उस संप्रदाय के विद्यार्थियों को, स्कूल के घंटों के बाद, धार्मिक शिक्षा दे सकता है, वर्धा योजना ने प्रत्यक्ष रूप से, या अप्रत्यक्ष रूप से भी, कोई परिवर्तन नहीं किया है...

"सह-शिक्षा के संबंध में भी गलतफहमी थी। वर्धा योजना ने किसी भी उम्र

---

[1]गांधी जी ने प्रासंगिक रूप में ऐसा कहा था। देखिये, 'एजुकेशनल रिकंस्ट्रक्शन', पृ. 51।

के लिए सहशिक्षा को अनिवार्य नही बनाया है।…सच पूछा जाए तो उसमें
ाक्षा की वाछनीयता के बारे मे कोई राय ही नही जाहिर की गई है…
…डा. जाकिर हुसैन ने इस आरोप का जिक्र किया कि वर्धा योजना के अंत-
विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्थाओ के रूप मे रह जाएगे
उस अवस्था मे उन्हे सरकार से कोई भी सहायता नही मिलेगी।[1] इस
के आरोप का खडन अनावश्यक है। 14 साल से ज्यादा उम्र वाले विद्यार्थिय
ाध्यमिक शिक्षा के बारे मे विचार-विमर्श साफ तौर पर इस रिपोर्ट से बाहर
वषय माना गया है। वर्धा योजना यदि स्वीकार कर ली गई तो उच्चतर
ा की वर्धा सगठन से समन्वित एक योजना भी तैयार करनी होगी।"
ो लोग गाधी जी के अनुयायी नही थे लेकिन शिक्षा सबधी सुधार की जिन्हें
ुच चिंता थी उन्हें वर्धा योजना, या बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा, केवल उसी
ा स्वीकार हो सकती थी जिस रूप मे कि उसे डा. जाकिर हुसैन ने पेश किया
ग्रौर डा. जाकिर हुसैन द्वारा पेश की जाने वाली योजना मे गाधी जी के
भी कोई आपत्तिजनक बात नही थी। लेकिन इसमे कुछ ऐसी बात वह जरूर
ना चाहते थे जिससे यह दिखा सकें कि उनके दिमाग मे उस शिक्षा की बात
ो गाव को आर्थिक ही नही विचारधारा की दृष्टि से भी स्वावलबी बना
, ताकि शहरो का विकास तथा आधुनिक उद्योग, सभी महत्वाकाक्षी
ानो को अपनी ओर खीच कर और उस तरह के धधो को अपनाने के लिए
ा कर जो कि मूलत. दूसरो के शोषण पर ही निर्भर हैं, भारतीय देहात का
ाश न कर पाए। बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना की विचारधारा मे
वाली इस वृद्धि ने शिक्षाविदो और उन लोगो को जो कि शिक्षा को एक नई
ा देने के इच्छुक थे, या तो अपना विरोधी बना दिया और या उदासीन।
ह बता चुके हैं कि वुड-ऐबट रिपोर्ट और अन्य संबद्ध कागजात की रोशनी
र्धा योजना की जाच करने का कार्य शिक्षा के केंद्रीय सलाहकार मडल की
मिति के सुपुर्द किया गया था। कुछ साल बाद सार्जेंट समिति बनी जो और
ा व्यापक थी, लेकिन वह भी अत मे शैक्षिक पुनर्गठन की कोरी सैद्धातिक

ाधी जी ने ऐसा कहा था। देखिये, 'एजुकेशनल रिकस्ट्रक्शन', पृ. 5-6, 31-32,
, 158, 164-65।

चर्चा बनकर रह गई है। जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट में बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा जिस रूप मे पेश हुई उस रूप में उसे अपने सरकारी प्रतिद्वंद्वियो का मुकाबला भी करना पड़ा, लेकिन चौपट तो वह उन समझौतो की वजह से हुई जो उसे विद्यमान शिक्षा प्रणाली के साथ बुनियादी शिक्षा का मेल बिठाने के लिए करने पडे।

केंद्रीय सलाहकार मंडल की उपसमिति ने, और बाद को तो स्वयं मडल ने भी, डा. जाकिर हुसैन द्वारा पेश वर्धा योजना या बुनियादी शिक्षा को स्वीकार कर लिया, लेकिन फिर उसने प्राक्-प्रारंभिक शिक्षा पर, और जो लडके-लड़किया बाद को माध्यमिक स्कूलो मे पढना चाहें उनकी भी वैसी व्यवस्था करने के प्रश्नो पर भी, विचार करना शुरू कर दिया। बुनियदी शिक्षा के साथ वर्षों को बढ़ा कर आठ कर दिया गया, फिर उसे पाच और तीन वाले दो हिस्सो मे बाट दियर गया, जो बाद को बुनियादी शिक्षा के पाच 'जूनियर' (अवर) वर्ष और तीन 'सीनियर' (प्रवर) वर्ष कहलाए, और साथ ही यह विकल्प भी रख दिया गया कि जो विद्यार्थी उच्चतर शिक्षा लेना चाहें वे साधारण स्कूलो मे भरती हो जाए, जहा वे अंग्रेजी सीख सकें जो कि विश्वविद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम थी। जो लोग पूरी अवधि तक बुनियादी शिक्षा के पक्ष मे थे वे कोई आपत्ति उठा ही नही सकते थे; यह अवधि सात से बढाकर आठ साल की कर दी गई थी। और किसी माध्यमिक स्कूल मे तबादले की बात भी सिर्फ वैकल्पिक रूप मे थी; बुनियादी शिक्षा के आगे चलने वाले किसी कार्यक्रम की योजना में वह बाधक नही थी। स्वावलंबी स्कूलों के पक्के हिमायती भी प्रथम दो या तीन वर्षों मे किसी उत्पादन की आशा नही रखते थे। 'सीनियर' बुनियादी स्कूल से उन्हें यह दिखाने का मनोनुकूल अवसर मिल जाने को था कि धंधे वाला प्रशिक्षण शिक्षाप्रद भी हो सकता है और उत्पादक भी। बुनियादी स्कूलो मे दूसरी दस्तकारियो पर जोर न देकर, तकली-कताई की हिमायत करने वाले, प्रशासकों के ही हाथ मजबूत कर बैठे। दस्तकारी के रूप मे तकली से कताई सस्ती थी और उसका मूल्यांकन करने का भार आसानी से उन लोगों के कंधो पर डाल दिया जा सकता था जो उसके शैक्षिक महत्त्व में विश्वास रखते थे। सिर्फ तकलियां और कपास मुहैया करके बुनियादी स्कूलो की सख्या बढाई जा सकती थी, और अगर ये स्कूल बुनियादी शिक्षा संस्थाएं न बन पाते तो शिक्षा विभाग या शिक्षा निदेशालय को दोषी

नही ठहराया जा सकता था। मुझे याद है कि स्कूली शिक्षा की अवधि को पाच और तीन वर्षों के बीच बाटने के खिलाफ डा. जाकिर हुसैन ने श्री बी. जी. खेर के समक्ष प्रतिवाद किया था, कई मौको पर मैंने उन्हे यह कहते भी सुना था कि उन्हे मुख्यत. इसी बात से मतलब है कि उम्र की ऊपरी सीमा चौदह साल की रखी जाए और यह पूरी शिक्षा कुल सात वर्षों की हो। लेकिन जिन समितियो के विचार-विमर्श मे उन्होने हिस्सा लिया था उनके द्वारा पेश की गई सिफारिशो मे हम उनकी असहमति का कोई लेखा नही पाते। भारी बहुमत उनके विरुद्ध था, और बहुमत को स्वीकार करना ही शोभनीय था। उन्होने जरूर महसूस किया होगा कि अग्रेजी के पूरे परित्याग पर जोर देना नीतिसम्मत नही होगा। बुनियादी शिक्षाव्यवस्था चाहे कितनी भी सही और स्वावलबी हो, देहाती विद्यार्थियो को उच्चतर शिक्षा के अवसर से पूर्णतया वचित नही किया जा सकता, और उच्चतर शिक्षा का माध्यम जब तक अग्रेजी ही है तब तक स्कूल की किसी अवस्था मे उसे पढाने की व्यवस्था करनी ही पडेगी।

काग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच के राजनीतिक मतभेदो, बुनियादी पाठ्यक्रम मे धार्मिक शिक्षा की कोई जगह न रहने, और मध्य प्रदेश के प्रधानमंत्री पडित आर. एस शुक्ल द्वारा स्थापित बुनियादी स्कूलों का नाम 'विद्यामदिर' रखे जाने से मुसलमानो की ओर से वर्धा योजना की जबर्दस्त मुखालफत होने लगी। जिन लोगो ने मुस्लिम-विरोधी बता कर इस योजना की निंदा की थी उन्होने अगर उसके पाठ्यक्रम कीजाच की होती तो वे देख पाते कि इस्लाम की शिक्षाओ का इसमे प्रारभिक कक्षाओ वाले अन्य सभी पाठ्यक्रमो की तुलना मे कही ज्यादा ऊचा स्थान था। लेकिन ऐसा करने की फिक्र किसी ने नही की। अपने पाठ्यक्रम से धार्मिक शिक्षा को डा. जाकिर हुसैन ने बडे ही ठोस कारणों से अलग रखा था। धार्मिक शिक्षा देने के नियम को अगर आमतौर पर लागू किया जाता तो मुसलमानो को देहाती इलाकों मे नियुक्त करने के लिये इस्लाम के शिक्षक ही नही मिलते, और अगर मिलते भी, तो वे शिक्षक मुसलमान कम सरकारी मुलाजिम ज्यादा होते, और डा. जाकिर हुसैन ने खुलेआम कहा था कि ऐसे शिक्षको के हाथो में इस्लाम सुरक्षित नही रहेगा। लेकिन एक ऐसे वातावरण मे, जहा मुस्लिम लीग के लापरवाह नेताओ ने मुसलमानो के दिल मे यह बात बिठा दी थी कि अगर उन्होंने हिंदुओं पर या हिंदुओ के साथ सहयोग मे

विश्वास रखने वाले मुसलमानों पर भरोसा किया तो वे तबाह हो जाएंगे, इस तरह की दूरदर्शिता को धूर्तता मान लिया गया। एक दूसरा सवाल, जो मुसलमानो को दिन पर दिन ज्यादा बेचैन करता जा रहा था, भाषा का था। डा. ज़ाकिर हुसैन एक ऐसी हिंदी के थोपे जाने के लिये राजी नही थे जो उस भाषा से अलग हो जिसकी हिमायत गांधी जी राष्ट्रभाषा के रूप में कर रहे थे। उनकी स्थिति बहुत ही नाजुक थी क्योंकि न तो वह इस सिद्धांत की उपेक्षा कर सकते थे कि प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा मे होनी चाहिये, और न इस बात की कि किसी बुनियादी प्रारंभिक स्कूल के छोटे से दायरे मे रहने वाले बच्चों की भी मातृभाषाएं अलग-अलग हो सकती हैं। वह जिस स्थिति में आ फंसे थे उसकी कोई सफाई नही दे सकते थे। और उर्दू के हिमायतियों का साथ देकर बेजा हरकतों में शामिल होना उनकी प्रकृति और संस्कृति के खिलाफ था।

डा. ज़ाकिर हुसैन विरोधी लोगों का निशाना बनने से इसलिये बच गए कि एक तो यह बात सभी जानते थे कि उनकी जिंदगी मुसलमानों की शिक्षा के लिये ही समर्पित है, और दूसरे, उनकी निष्ठा और सद्भावना उनके व्यक्तित्व को महिमान्वित किये रहती थी। लेकिन उन्होंने अपने को बचाने की कभी फिक्र नही की, बल्कि खुद ही जंग के मैदान मे कूद पड़े। अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन ने नि:शुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के सवाल पर अपनी रिपोर्ट देने के लिये एक समिति नियुक्त की। चूंकि इसका मतलब ही था वर्धा योजना पर विचार, इसलिये इस समिति के विचार-विमर्श में भाग लेने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन को आमंत्रित किया गया। इस योजना के खिलाफ बड़ी उत्तेजना थी, खासतौर पर उ. प्र., बिहार और म. प्र. सरकारों की भाषा नीति, म. प्र. में पंडित रविशंकर शुक्ल द्वारा स्थापित 'विद्यामंदिरों', और व्यापक रूप से फैल जाने वाले इस शक की वजह से कि बहुसंख्यक संप्रदाय एक पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व्यवस्था को जबर्दस्ती थोप कर मुस्लिम संस्कृति को खत्म करने के लिये तुला हुआ है। इस उपसमिति में होने वाले विचारविमर्श का कोई लेखा तो नही है, लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन को एक समझौता कराने में सफलता मिल गई थी जिससे कम-से-कम इतना तो प्रकट है कि उस उपसमिति ने उस योजना के बुनियादी सिद्धांतों को मान लेने की सिफारिश की थी—मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, जो कम-से-कम सात साल तक की हो, और जिसे हाथ के उपयोगी काम

के इर्दगिर्द सगठित किया जाए। उनके विरोधियो ने इस सिफारिश की प्रस्तावना के तौर पर इतना कह कर ही सतोष कर लिया, कि अपने वर्तमान रूप में वर्धा योजना को अस्वीकार कर दिया जाए। एक दो और 3 अक्तूबर 1938 को पटना मे होने वाली अखिलभारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन की बैठक मे डा जियाउद्दीन ने इस उपसमिति की सिफारिशो वाला प्रस्ताव पेश किया। डा. ज़ाकिर हुसैन मौजूद नही थे,[1] और जब इस प्रस्ताव पर बैठक मे बहस शुरू हुई तो बडा शोर-गुल, तूतू-मैंमैं और हगामा रहा, लेकिन बहुमत से वह पास हो गया।

1938 मे और 1939 के पूर्वार्ध मे बुनियादी शिक्षा के सिद्धातो पर विचार-विमर्श के लिये और उन पर अमल करने के मामले मे मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिये डा ज़ाकिर हुसैन की बडी माग रही। जब वह दिल्ली से बाहर नही फसे होते थे तब भी शिक्षा विभाग के अफसर और प्रशासक लोग उनसे मिलने दिल्ली आते रहते थे। बातचीत का ताता टूटता ही नही था जिसकी वजह से नाक मे दम हो गया था, और चूकि उन्हे प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और उनका कुछ असर भी था इसलिये बुनियादी शिक्षा में दिलचस्पी दिखाने वाला प्राय हर व्यक्ति अपनी नियुक्ति या पद-वृद्धि के मामले मे उनसे मदद मागता था, क्योकि हर ऐसे राज्य मे जहा बुनियादी शिक्षा लागू होने को थी, काफी जगहो पर नियुक्तिया होनेवाली थी। और, जहा तक मुझे याद है, इस समूची ही अवधि मे, डा ज़ाकिर हुसैन ने बिना कोई सचिव रखे हो सारा काम किया। जामिया मिल्लिया इस लायक नही था कि उनके लिये एक सचिव की व्यवस्था कर पाता, और न कोई प्रातीय सरकार या कोई दूसरा सगठन ही अपने नियमो के मुताबिक वैसा कर सकता था। 1939 के मध्य तक उनका 'ग्लारोमा' भी उन्हे फिर परेशान करने लग गया था, और उन्हे लगा कि अगर उन्हे थोडा भी आराम न मिला तो उनकी गाड़ी एकदम ही बैठ जाएगी। आल इडिया रेडियो के लिये अतर्राष्ट्रीय मामलो पर दी जाने वाली अपनी पाक्षिक वार्ता के लिये उन्हें जो अध्ययन करना होता था, उससे उन्हे पक्का भरोसा था कि लड़ाई नहीं होने जा रही है। इसलिये आराम और इलाज

[1]ज्ञात पड़ता है कि सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिये उन्ही को आमत्रित करने की बात थी, लेकिन पटना स्थित व्यवस्थापकों ने ज़ोर दिया कि बगाल के प्रधान मत्री ए. के. फ़ज़लुल हक अध्यक्ष हों। जब सम्मेलन हुआ तब डा. ज़ाकिर हुसैन कश्मीर में थे।

के लिये वह जर्मनी चले गए। उनकी आशाओं के विपरीत, सितंबर के बिलकुल शुरू मे ही, यूरोप मे लडाई छिड़ गई और उन्हे जर्मनी छोड़ देना पड़ा। 11 सितवर को उन्होने जेनेवा से जो खत अपनी मजेदार और जानदार शैली मे लिखा था वह 'जामिया' मे छप गया था, और पूरा का पूरा यहा देने लायक है।

होटेल द फेमीय
जेनेवा
11 सितंबर, '39

"मेरे प्यारे अदीब साहब,

मुझे आपका खत उसी दिन मिला जिस दिन मैं जर्मनी से निकल भागा था। उसी डाक से मुझे एक खत शफीक साहब और मेम साहब का भी मिला।[1] इन खतो से मुझे जितनी खबरें मिल गई उनके बल मैंने कुछ हफ्ते, बिना किसी फिक्र के गुजार दिये। इससे पहले किसी ने मुझे लिखने की फिक्र नही की थी। शफीक साहब ने मुजीब साहब, अकबर साहब,[2] और सईद साहब[3] के लबे खतो की बात लिखी है। मुझे तो उनमें से कोई नही मिला।

और अब अपनी बात पर आऊं। मैं 3 जुलाई को वेनिस पहुंचा। मुझे यह शहर पसद आया, इसलिये मैं दो के बजाय (जैसा कि इरादा था) वहां दस-बारह दिन रह गया। बहाना मैंने यह बनाया कि मैं इटालियन भाषा सीख रहा हूं। और दरअसल मैंने इसे सीखा भी। लेकिन जितने वक्त मे मैंने इसे सीखा है उससे भी कम वक्त मे भुला भी दूगा। 18 को मैं वियेना पहुंचा। वहां इमतियाज[4] मिलने आ गया। उसके साथ मैं एक हफ्ते के लिये बुदापेस्त गया। यह एक ठोस और बड़ा ही खूबसूरत शहर है। लगभग सभी लोग जर्मन बोलते हैं। वहा से हम लोग

---

[1]श्रीमती टिली सिद्दीकी। देखिये ऊपर, पृ 53।

[2]चौधरी अकबर अली। वह तब ओखला स्थित प्राइमरी स्कूल के हैडमास्टर थे।

[3]सईद असारी, जो बुनियादी स्कूलों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये 1938 में स्थापित 'टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल' के प्रिंसिपल थे।

[4]डा. जाकिर हुसैन के सबसे बड़े भाई के बेटे। जर्मनी से लौटने पर वह उस्मानिया विश्वविद्यालय मे आ गए।

वियेना वापस लौटे, मगर हवाई जहाज से। यही तमन्ना (हवाई जहाज से सफर करने की) *क्यों पूरी होने से रह जाती ? इमतियाज चला गया, मुझे डाक्टरो पर* छोड़ कर। उन्होने तरह-तरह की जाच पडताल का इतना लंबा सिलसिला चलाया कि तोबा, अल्लाह ही बचाए। फिर जिस नतीजे पर वे पहुचे वह यह, कि मेरी आखे जिस हालत मे हैं वही उनके लिये दुरुस्त है। अगर उनकी ठीक हिफाजत की जा ी रही तो वे सही सलामत रही आएगी। लेकिन आतो की हालत खराब है। पुरानी पेचिश, और वह भी जहरीली। इसने जिगर खराब कर डाला है, और किसी हद तक गुरदे को भी। अब इन्हे इस हालत मे तो रहने नही दिया जा सकता। चिकित्सा विज्ञान के मुताबिक,(बीमार की)हालत नाजुक होनी चाहिये थी, मगर चूकि (उसकी) हर बात ही अनियमित और अवैज्ञानिक है, इसलिये अब भी उसके लिये उम्मीद है, अब भी इलाज मुमकिन है। खून की हालत जैसी होनी चाहिए थी उससे कही ज्यादा अच्छी है; इसलिये इलाज भी ज्यादा आसान होगा। दिल (*कैसा बेरहम मजाक है!*) काबू मे है। *दिमाग की जाच नही की* गई; अगर होती तो नतीजा मजेदार होता। मुझे यह समझाया बुझाया गया है कि किसी इलाज से ज्यादा बडी बात है खाने-पीने का परहेज। सात सुइयो का नुसखा दिया गया है और किसिजेन मे जाकर रहने का हुक्म मिला है जहा तीन हफ्ते रह कर सुइया लगवाता रहू और परहेजी खूराक पर रहूं। फिर खून की जाच कराऊ। सुइयों की वजह से अगर खून पतला हो गया हो तो चार-पाच हफ्ते रुकने के बाद फिर सुइया लगवाऊ, वरना तीन हफ्ते बाद ही लगवा लू। इस तरह मैं 15 अगस्त को किसिजेन पहुचा। छोटा कसबा है, सभी बाशिदे बाहर के हैं, सभी बीमार। चारो ओर फूल ही फूल नजर आते हैं। जगह बेहद पसद आई मुझे। वियेना के डाक्टर ने बडी तफसील से तैयार करके आखिरी वसीयतनामा मुझे पेश किया था और यहा के एक डाक्टर के नाम मेरे बारे मे एक खत भी। मुलाकात वाले दिन से ही उसने अपना इलाज शुरू कर दिया। उसने मुझे एक ऐसे मकान मे रखा जिसकी मालकिन खुद डाक्टर है, एक डाक्टर की ही बेवा है, और बूढ़ी भी, जिसका मतलब हुआ कि तजरबेकार भी। मेरी खूराक के मामले मे उसने सारे इतजाम कर दिये। कुछ ही दिन के अदर मुझे अपनी तबीयत मे तरक्की दिखाई दी। मगर वक्त की मनमौजी चाल के बारे मे कोई क्या कहे; लड़ाई की अफवाहें गरम हो उठी। आदमी, घोड़े, गाड़िया, मोटरकार, सभी लड़ाई के वास्ते

लिये जाने लगे। 25 अगस्त तक सारी तैयारी पूरी हो चुकी थी। हमारे सभी नौकर-चाकर फौज में भरती हो चुके थे, मेरे सारे बीमार साथी भाग गए। रेलें कम कर दी गईं। मगर मैं था, कि अपनी जगह पर डटा रहा। और, कर भी क्या सकता था? सुइयों का दौर पूरा हुआ नहीं था, तंदुरुस्ती दिन-ब-दिन ठीक होती आ रही थी। इसलिए मैंने ठान लिया था कि लड़ाई नही होगी। इस इतमीनान का नतीजा यह हुआ कि 26 अगस्त को आपके इस अदना खादिम ने एक जीते-जागते, करीब नौ इंच लंबे, कीड़े को पैदा किया। पेचिस के साथ-साथ यह हजरत भी बरसों से मेरे अंदर मौजूद थे। मैंने उन्हे गिरफ्तार करके डाक्टर के सामने पेश किया उसने मुझे उसका लैटिन नाम बताया जो अब मुझे याद नही है, और कहा कि बड़ा अच्छा हुआ यह निकल आया; बहुत पुराना था। खैर, यह किस्सा भी खत्म हुआ। मुझे खुशी हुई कि मेरा इलाज पूरा हुआ, और मैं वही टिका रहा। 1 सितंबर को सुइयो का दौर पूरा हुआ, और तजवीज किये गए 'बाथो' (इलाज पर कराए गए स्नानों) का भी। लेकिन 2 सितंबर को इगलैंड ने लड़ाई का ऐलानकर दिया। उस तारीख तक मुझे सिर्फ इतना ही मालूम हो पाया था कि शांति के लिये बातचीत जारी है और मुझे पक्का भरोसा था कि सब-कुछ ठीक हो जायगा। लडाई छिड जाने की बात मुझे 3 सितबर को बताई गई। इतवार का दिन था। उसी दिन मैं स्टेशन पहुचा। पता चला कि पहली गाडी जो मुझे मिल सकेगी वह अगले दिन सुबह पाच बजे छूटेगी। मैं घर लौटा, अपना बिल चुकाया, सामान बाधा रात के दस बजे स्टेशन पहुंचा, टिकट खरीदा, और अपने सामान को 'बुक' किया, सवेरे पाच बजे रवाना हुआ। रेलगाडिया इस तरह चलाई जा रही थी कि एक इलाके के रेलवे कर्मचारियों से दूसरे इलाके की कोई बात नही मालूम हो सकती थी। जिस इलाके मे से रेल गुजर रही थी सिर्फ उसके बारे मे पता चल पाता था, लेकिन वह भी हमेशा सही नही। मैंने स्विट्जरलैंड जाने का फैसला किया था। मुझे बताया गया था कि मैं स्टुटगार्ट तक पहुंच सकता हूं। उसके बाद के सफर के बारे मे कोई कुछ नही कह सकता था। खैर, मैंने स्टुटगार्ट का टिकट ले लिया। तीन बार गाड़ी बदलनी थी। दो बार गाड़ी बदलने के बाद अगले जंकशन तक पहुंचने से पहले ही, हमें बताया गया कि गाड़ी आगे नही जाएगी, सभी मुसाफिर उतर जाए। हम लोग उतर गए। हम लोगों ने आठ घंटे वही गुजारे। छोटा-सा कोई स्टेशन था, और हवाई हमलो के डर से अंधेरा कर दिया गया था। हर घंटे,

दो घटे, पर सीमांत वाले इलाकों से बूढ़ों और बच्चों को मुल्क के अंदरूनी हिस्सों की ओर ले जाने वाली गाड़ियां गुजर रही थी। किसी तरह वक्त बीता, और स्टुटगार्ट पहुचे। वहां जाकर मैंने ज्यूरिख जाने का अपना इरादा जाहिर किया। बताया गया कि फौरन ही एक गाडी वहां जा रही है। मैंने अपने असबाब के बारे मे दरयाफ्त किया। वह आया नही था। इसी बीच ज्यूरिख वाली गाड़ी छूट गई मैंने रात स्टुटगार्ट मे ही काटी। कायदो के हिसाब से, मेरा खयाल है, मुझे सरकारी मेहमान होकर रखा जाना चाहिये था। पता नही, मेहमानदारी के कायदो का खयाल क्यों नही रखा गया। अगले दिन सुबह मैंने टिकट खरीदा और ज्यूरिख के लिये रवाना हो गया। कास्टैंस झील के किनारे बसे शहर फ्रीड्रिखशाफेन में मैं गाड़ी से उतर गया; यह जर्मन इलाके मे ही था। यहा से मुझे स्टीमर से जाना था। मैं रात को पहुचा था, और स्टीमर अगले दिन तीसरे पहर 3 बजे जाने को था। रास्ते मे मुझे बताया गया था कि स्टीमर चलना बद हो गया है, लेकिन फ्रीड्रिखशाफेन मे देखा कि वह जारी था। तीसरे पहर स्टीमर मे जा चढा। जर्मन पुलिस ने मुझे बताया कि स्विस लोग मुझे स्टीमर से नीचे उतरने की इजाजत नही देंगे; उसी दिन सुबह पचास मुसाफिरो को लौटा दिया गया था। मैं बोला, 'मेहरबानी करके मुझे जाने भर दीजिये, फिर मेरा अपना नसीब।' वे लोग मुसकुराए, कधे उचका दिये, और मेरे पासपोर्ट पर मोहर लगा दी। स्टीमर पर चढ गया और रोमनशोर्न आया। स्टीमर में 400 मुसाफिरो की, जगह थी मगर इस सफर मे, स्टीमर के कर्मचारियो के अलावा, सिर्फ तीन मुसाफिर थे, एक मै, और दो स्विस नागरिक, जो फौज मे भरती होने के लिये जर्मनी से लौट रहे थे। कप्तान ने मुझ से पूछा कि मेरे पास क्या स्विस 'विजा' है? मैंने कहा, 'नहीं।' वह बोला, 'तो आप स्टीमर पर आ कैसे पाए? हम लोग बिना मुसाफिर लिये ही इसलिये लौट रहे हैं कि पिछली रात के 12 बजे से हमारी सरकार ने यह शर्त लगा दी है कि हर मुसाफिर के पास विजा हो और बिना किसी के साथ रियायत किये, इस कायदे की पूरी पाबदी की जाए।' यह बातचीत स्टीमर के चल देने के बाद हुई। मैं बोला, 'जो भी हो, अब तो स्टीमर चल ही पडा है।' कप्तान बोला, 'कोई बात नहीं, आप वापस जा सकते हैं। इसी स्टीमर से वापस आ जाइये, और... से विजा लेने की कोशिश कर देखिये।' उन्होंने उस कसबे का नाम बताया जहां मैं जाऊं। मैंने जवाब दिया, 'नहीं साहब, यह तो अब मैं करता नही हूं। एक बार

जब जर्मनी के बाहर आ गया हूं तब दो बार जर्मन लोगों की मेहमानवाजी का फायदा नही उठाना चाहता।' तब तक हम लोग रोमनशोर्न आ पहुंचे थे। वहां ठीक वही सब हुआ जो उस कप्तान ने बताया था। सीमांत पुलिस ने मुझे वापस लौटने के लिये कहा। मैंने जवाब दिया, 'यह तो नामुमकिन है। आप मुझे गिरफ्तार करके यहीं के जेल मे बद कर दे सकते हैं।' कुछ देर तक तो पुलिसवाला अड़ा रहा : हुक्म तो हुक्म ही है। मगर मैं भी जब टस से मस नही हुआ, तो उसने भी मेरे रास्ते को सही बताया। जर्मनी लौटने पर मैं वहां बंद कर दिया जाऊंगा। मुझे लौटा देना नाइंसाफी की बात होगी। मैं बोला, 'देखिये न, आप तो समझ ही सकते हैं।' इस तरह, बर्न के लिये टेलिफोन मिलाया गया; स्विटजरलैंड मे दाखिल होने की इजाजत मिल गई और मैं ज्यूरिख जा पहुचा। वहां ब्रिटिश वाणिज्य दूत ने मुझे जेनेवा जाने की सलाह दी। वहा से इंगलैंड या भारत जाने मे ज्यादा सहूलियत रहेगी। सो इस तरह मैं नौ को यहा आ गया। किस्मत अच्छी थी कि जिस डाक्टर से मिलने की सलाह दी गई थी वह भी उसी होटल में ठहरा हुआ था। अब मुझे कोई फिक्र नही। पिछले कुछ दिन जिस दौड़धूप मे गुजरे हैं उसकी वजह से चेहरे पर वह रौनक नही रह गई है जो किमिजेन मे आ गई थी, लेकिन कुल मिलाकर तो अच्छा ही हूं। खूब सोता हूं, खूब खाता हूं, और उसे हजम भी कर लेता हूं। इससे ज्यादा और क्या चाहिये? सुइयों का अगला दौर जब से शुरू करने को कहा गया है उसका वक्त आ जाने पर मैं किसी से सुइया लेने लग जाऊंगा। अगर इटली लड़ाई से अलग रहा तो, इंशा अल्लाह, अक्तूबर के आखिर तक तुम सब लोगों के पास पहुंच जाने की उम्मीद रखता हूं। मेरा खयाल है कि मुझे और रुपयों की जरूरत नही पड़ेगी, फिर भी अच्छा हो अगर बीस या तीस पाउंड तुम्हारे पास रहें ताकि मेरा केबल पाते ही तुम मुझे भेज सको।

"मेहरबानी करके इस खत की बातें सभी दोस्तों को बता देना और यूसुफ और महमूद को भी।[1] यहां मैंने सबसे ज्यादा इसी वजह से आना चाहा था कि तुम सबकी खबर मिल सकेगी। देखा जाए, मेरी यह उम्मीद सही थी या नही।"

लौटने पर डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक घटना बताई जिसका इस खत मे जिक्र नही था। जर्मन सीमांत पर जब सीमा शुल्क वालों को दिखाने के लिये उन्होंने

---

[1] उनके दोनों छोटे भाई;

अपना एक ट्रंक खोला, तो उर्दू में लिखे उनके कुछ कागजात बिलकुल ऊपर रखे हुए थे। सीमा शुल्क अधिकारी ने जानना चाहा कि वे कैसे कागजात हैं ? 'ये तो सांकेतिक लिपि मे लिखे गए मेरे नोट हैं, कि कहा कितनी जर्मन फौजें तैनात हैं', डा. ज़ाकिर हुसैन ने जवाब दिया। 'लेकिन आप घबड़ाएं नही। जब तक मैं अपने मुल्क को वापस पहुंचूगा और इन्हे वहा दूगा, तब तक तो जर्मनी जंग फतह कर चुका रहेगा।' वह अधिकारी उनकी ओर आखें उठाकर हस पड़ा और बिना किसी और पूछताछ के उसने उनका ट्रक बद कर दिया।

जर्मनी से डा. ज़ाकिर हुसैन जब तक लौटे तब तक प्रातों की कांग्रेसी सरकारें इस्तीफा दे चुकी थी। बुनियादी शिक्षा के विस्तार पर विशुद्ध राजनीतिक कारणो से इसका जितना बुरा असर पड़ना चाहिए था उतना नही पड़ा। बिहार में गवर्नर के सलाहकार कजिंस का रुख, जिसके सुपुर्द दूसरे विभागो के साथ-साथ शिक्षा विभाग भी था काफी अच्छा था। बम्बई मे, वहा के शिक्षा निदेशक ने, जो कांग्रेसी मत्रिमडल के सत्तारूढ रहते पूरी तरह बुनियादी शिक्षा के पक्ष मे था, मत्रिमडल के इस्तीफे के बाद उसके खिलाफ एक कड़ी रिपोर्ट दी। लेकिन उसकी वजह से वह प्रयोग बद नही किया गया। सिर्फ उसका विस्तार रुका रहा, और अप्रैल 1941 मे बुनियादी शिक्षा सलाहकार समिति जिस रूप मे पुनर्गठित की गई उससे डा ज़ाकिर हुसैन ने इस्तीफा दे दिया। उत्तर प्रदेश में, डा सपूर्णानद, शिक्षा निदेशक पावेलप्राइस और उपनिदेशक डा. आई आर खा ने हिंदुस्तानी तालीमी सघ के सचिव का हस्तक्षेप रोकने और उसके इशारे पर चलने से बचने के लिए बुनियादी शिक्षा की अपनी अलग ही व्याख्या कर ली थी। मद्रास शुरू से ही कुछ ज्यादा अनुकूल नही था, और यही बात उत्तर प्रदेश सीमाप्रात पर लागू होती थी। उडीसा मे, जहा कि कांग्रेसी मत्रिमडल ने उसे केवल अतरिम स्वीकृति दी थी, 1 मार्च 1941 से उसे बद कर देने का हुक्म जारी हो गया।[1] मध्यप्रदेश

---

[1]इसके लिए जो कारण दिये गए थे वे ये हैं : "वर्धा योजना मे स्कूल के प्रतिदिन के 5½ घंटों में से 3 घंटे 20 मिनट दस्तकारी के काम मे खर्च करने की व्यवस्था रखी गई है, और इस बात की स्पष्ट संभावना है कि इन स्कूलों में तकली को छोड अन्य किसी भी हस्तशिल्प का प्रबध न रहने की वजह से ये बहुत जल्द सिर्फ तकली स्कूल बनकर ही रह जाएगे। कताई एक बैठे रहने का पेशा है जो उबाने वाला भी है, और उड़ीसा में, जहा कि शिक्षा के एक अधिक उत्तेजक माध्यम की स्पष्ट आवश्यकता है, बच्चों के सर्वांगीण विकास की दृष्टि में

में इस योजना का ठीक से चलाने का काम प्रांतीय सरकार की वजह से नही स्थानीय निकायो की वजह से रुका।

सेवाग्राम मे हिंदुस्तानी तालीमी संघ की बैठकों मे डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ मैं भी बराबर जाया करता था। आमतौर पर बैठक के बाद गाधी जी के साथ मुलाकात होती थी, और डा. जाकिर हुसैन वहां हुए विचारविमर्श की उन्हे रिपोर्ट देते थे। इस मुलाकात मे एकअपना ही माधुर्य रहा करता था। डा. ज़ाकिर हुसैन नम्रता की मूर्ति बने रहते थे जो एक अजीब नजारा था, और उनका व्यवहार उस नौजवान जैसा था जो अपने ऐसे बुजुर्ग के सामने है जिसकी मेहरबानी और सहारे का वह पूरी तरह कायल है। उधर गांधी जी भी उस शख्स पर पूरा भरोसा किये हुए थे जिसे उन्होंने अपने एक ऐसे विचार को अमल मे लाने का काम सौंपा था जो उन्हे बहुत ही प्यारा था। उन दोनों के बीच किसी भी मतभेद की गुंजाइश हो सकती है, यह उन्हे देख कोई भांप भी नही सकता था। मतभेद तो थे ही, लेकिन न गांधी जी ही सैद्धांतिक हठधर्मी के शिकार थे, न डा. जाकिर हुसैन ही। मुझे एक प्रसंग याद आता है जिसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि डा. जाकिर हुसैन को नम्र बने रहने की किस कदर फिक्र थी। हिंदुस्तानी

रखकर कदापि इसे नही रखा गया हैं। फिर, कताई के सिवा किसी दूसरे हस्तशिल्प की व्यवस्था जब यहा हो ही नही सकती, ,तो इस प्रांत मे इस प्रयोग को सफलता का सर्वोत्तम अवसर भी कहा दिया जा सकता है ?

"ये बुनियादी स्कूल साधारण प्रारभिक स्कूलो के मुकाबले कहीं ज्यादा खर्चीले हैं, और इस प्रान्त में. इन्हे बडे पैमाने पर कायम करना तब तक सर्वथा असभव है जब तक कि ये स्वावलबी नही साबित हो जाते। इस दृष्टि से भी इस प्रयोग की सफलता के लक्षण नहीं दिखाई दे रहे। उडीसा के बुनियादी स्कूलो मे जो नकद आमदनी हुई है वह आठ आना प्रति विद्यार्थी पड़ी बताई गई है जब कि मूल योजना मे पहले साल में ही वह 3 रुपये 9 आने प्रति विद्यार्थी पडी बताई गई है। इसलिए, इस योजना के निर्माता ने इसकी सफलता की जो 'कसौटी' रखी थी उसके अनुसार ये विफल ही हुए हैं।"

इस बात का भी उल्लेख हुआ है कि कांग्रेस के राज मे मद्रास सरकार ने बुनियादी योजना को न चालू करके प्रारभिक शिक्षा की एक सशोधित पद्धति को उस पर तर्जीह दी थी। देखिए,'टू इयर्स आफ वर्क' (काम वाले दो साल), हिंदुस्तानी तालीमी सघ, सेवाग्राम, वर्धा, अप्रैल 1942, पृ. 258। साथ ही, उसी मे, हिंदुस्तानी तालीमी सघ की ओर से डा जाकिर हुसैन का जवाब।

तालीमी संघ जामिया मिल्लिया को उसके 'टीचर्स ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट' (शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान) के लिए 3,000 रुपये सालाना की मदद देता था और इसलिए उस संस्थान के कामकाज की सालाना रिपोर्ट पाने का उसे हक था। लेकिन पहले ही साल इस बात की नौबत आ गई कि ठीक आखिरी वक्त पर संस्थान के प्रिंसिपल ने रिपोर्ट तैयार करने मे अपनी असमर्थता जाहिर की। इस मुलाकात के वक्त मैं मौजूद था। कोई शिकायत करने की जगह, डा जाकिर हुसैन कुछ कागज लेकर बैठ गए और रिपोर्ट तैयार करने लगे। सघ की बैठक मे उन्होने वह रिपोर्ट पढ दी, फिर आसपास बैठे लोगो की तरफ निगाह घुमाकर बोले, "खासी अच्छी रिपोर्ट है न ?" सदस्यो ने पूरे दिल से समर्थन किया। इसमे शक नही कि रिपोर्ट थी भी बढिया। जो शख्श अपने किये की वाहवाही अपने किसी सहयोगी को दिला सकता है, भला कताई के शैक्षिक मूल्य को लेकर गाधी जी के साथ बहस मे कैसे उतर सकता था ?

लेकिन जब कभी भी डा. जाकिर हुसैन को बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों पर अपने विचार व्यक्त करने होते थे, वह यह बिलकुल साफ कर देते थे कि 'दस्तकारी' से उनका मतलब 'काम' से है और उनके दिमाग में बुनियादी स्कूल की जो तस्वीर है वह 'काम' के जरिये शिक्षा देने वाली किसी जगह की है। 'काम वाले' स्कूल की शायद सबसे अधिक सक्षिप्त परिभाषा उन्होने अप्रैल 1941 मे जामिया मिल्लिया मे होने वाले दूसरे बुनियादी शिक्षा सम्मेलन मे दिये गए अपने अध्यक्षीय अभिभाषण मे दी थी।

"…शिक्षा के सिलसिले में जब हम काम वाली बात कहते हैं तब हमारे दिमाग मे सिर्फ उसी काम की बात रहनी चाहिए जो शरीर और दिमाग के लिए सचमुच ही शिक्षाप्रद हो, ऐसा काम जो मनुष्यो को ज्यादा भला बनाए। मैं तो यह मानता हूं कि यह विचार करने से मनुष्य की तरक्की होती है कि उसने क्या काम किया है, अपने ही काम की अच्छाइयों और बुराइयो को समझने से। जब कोई आदमी किसी काम को हाथ मे लेता है, शारीरिक या दिमागी काम को, तो वह उसे अपने लिए तभी शिक्षाप्रद बना सकता है जब कि साथ-ही-साथ उसके दिल मे यह इच्छा भी रहे कि जो काम उसने लिया है उसके साथ उसे पूरा न्याय करना है, और जब कि उस काम की आवश्यकता के हिसाब से वह अनुशासन में बधने को तैयार हो। हर काम नही, सिर्फ वही काम शिक्षाप्रद हो सकता है जिसे

हम योजना बना कर करते हैं। यांत्रिक ढग से किया जाने वाला काम, ऐसा काम जिसे मशीन भी कर सकती हो, शिक्षा नही दे सकता। जो काम करना है उसकी कोई योजना दिमाग में रहनी ही चाहिए। अगला कदम भी दिमागी ही है : उसके साधनो पर विचार, और उनमे से उनका चुनाव जो उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हों। इसके बाद उस चुनी हुई सामग्री को और औजारों को लेकर काम शुरू किया जाता है। अंत में आता है तैयार माल के मूल्यांकन का काम, यह देखना कि वह मूल योजना के मुताबिक हो पाया या नही, कि जिन साधनों को योजना बनाते वक्त उपयुक्त समझा गया था उन्ही से यह काम पूरा हुआ या नही, और यह कि उस पर की गई मेहनत और खर्च किये गए साधनो का इस्तेमाल जरूरी था या नही। काम की ये चार स्पष्ट अवस्थाएं हैं जो उसे शिक्षाप्रद बनाती हैं। लेकिन यही सब कुछ नही है। किसी भी तरह के काम को अगर बार-बार दुहराया जाए तो उससे एक प्रकार की दक्षता आ जाती है, लेकिन यह दक्षता शैक्षिक क्रिया का लक्ष्य नही है, चाहे यह दक्षता दिमागी हो, या शारीरिक, अथवा भाषा संबंधी। किसी शिक्षित मनुष्य का जो चित्र हमारे सामने है वह केवल किसी दक्षताप्राप्त मनुष्य का चित्र नही है। दक्षता तो चोरो द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है, दगाबाजी के जरिये तरक्की करने वालो द्वारा भी, और उन लोगों द्वारा भी जो कि झूठ को सच की तरह पेश कर सकते हैं। इस तरह की दक्षता शिक्षा का ध्येय नही हो सकती। अपने ध्येय को और भी साफ करने के लिए हमे यह परिभाषा भी देनी होगी कि काम तभी सचमुच शिक्षाप्रद बन सकता है जब केवल व्यक्तिगत ध्येयो से ज्यादा ऊंचे मूल्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है, ऐसे मूल्यों को जो हमारी अपनी लाभ-हानि के विचार से ऊपर हैं, जिन्हे हम स्वीकार करते हैं और जिनकी कद्र करते हैं। जो अपने किसी मतलब से काम करता है वह नि.स्सदेह दक्षता प्राप्त कर लेता है, लेकिन हम उसे वास्तविक रूप में शिक्षित नही मानेंगे। उच्चतर मूल्यों के लिए काम करने वाला ही दरअसल अपने को शिक्षित करता है। इन उच्चतर ध्येयों की पूर्ति की आकांक्षा द्वारा वह आत्मसुख या आत्मतृप्ति नही चाहता; अपनी सारी योग्यता और शक्ति वह अपने काम को पूरा करने मे इसलिए लगा देता है कि ऐसा करना वह अपना कर्त्तव्य मानता है। इससे उसके व्यक्तित्व के विकास में मदद मिलती है, इससे उसकी नैतिक प्रकृति उन्नत होती है। क्योंकि,

नैतिक शिक्षा सिवा इसके और है ही क्या, कि कोई आदमी संतोष और सुख की अपनी सारी व्यक्तिगत इच्छा को उन मूल्यों की प्राप्ति के संकल्प में बदल दे जिन्हें वह महत्त्व देता है, और जिस उच्च ध्येय के लिए वह समर्पित है उसकी प्राप्ति के योग्य अपने काम को बनाने के प्रयत्न में लगा रहे? इस प्रकार, दस्तकारी और शुद्ध मानसिक क्रिया, दोनों को ही वास्तविक रूप में शिक्षाप्रद बनाया जा सकता है, और ये दोनों ही समान रूप से निर्जीव और इसलिए बेकार भी, बन जा सकते हैं। सही मानो में काम वाला स्कूल वह है जहां बच्चे योजना बनाने की, काम शुरू करने के पहले उसके तरीकों और साधनों पर पूरा विचार करने की, और जो काम हाथ में लिया था उसके पूरे हो जाने पर अपनी उपलब्धि की सही परीक्षा करने की बात सीखते हैं। इस तरह ये धीरे-धीरे यह महसूस करने लगेंगे कि जो भी काम वे हाथ में लेंगे उसे पूरा करने के लिए अगर वे उसकी जरूरत के मुताबिक अपनी पूरी शक्ति और दक्षता का इस्तेमाल नहीं करेंगे, पूरी सावधानी और एकाग्रता के साथ उसे नहीं करेंगे, तो वे अपने प्रति भी ईमानदारी नहीं बरतेंगे और अपने उद्यम के साथ भी अन्याय करेंगे..."[1]

बुनियादी शिक्षा के इस प्रयोग का, जहां तक कि डा. जाकिर हुसैन का सवाल है, अंत हो गया, जब कि 1948 में उन्होंने हिंदुस्तानी तालीमी संघ से इस्तीफा दे दिया। दस साल बाद उन्होंने बुनियादी स्कूलों के बारे में अपना अंतिम निर्णय 12, 13 और 14 दिसंबर को विज्ञान भवन में पटेल स्मारक व्याख्यानमाला[2] के सिलसिले में दिया।

"बुनियादी स्कूलों के नाम से मशहूर 'काम वाले' स्कूलों की स्थापना के लिए हमने अब तक अपने देश में जो प्रयत्न किये हैं उनके बारे में, मेरा खयाल है, मुझे आपको कुछ बताना चाहिए। मैं जो कुछ कहूंगा वह काफी व्यापक रूप में होने वाले मेरे प्रेक्षण पर और उन्होंने मेरे मन पर जो छाप छोड़ी है उस पर आधारित होगा। वह किसी सुव्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ अध्ययन का परिणाम नहीं होगा। समूचे भारत पर भी वह लागू नहीं समझा जा सकता। लेकिन बुनियादी स्कूलों

---

[1]'टू इयर्स आफ वर्क', पृ. 31-33।

[2]सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली के पब्लिकेशन्स डिवीजन (प्रकाशन विभाग) द्वारा प्रकाशित, सितंबर 1959, पृ. 82-84।

के सामने जो ध्येय होने चाहिए और जिन तक पहुंचने की औचित्यपूर्वक उनसे आशा की जानी चाहिए इसके बारे में चूंकि मैं कुछ जानता हू, और चूंकि मैंने काफी बडी संख्या मे जहां-तहा इन्हे चलते देखा भी है, इसलिए आपकी इस बात से कुल मिला कर मुझे भी सहमत होना पड़ रहा है कि हम वे नतीजे नही दिखा सके जो समुचित रूप मे सगठित 'काम वाले' स्कूलों में आसानी से दिखाए जा सकते थे कारण कितने ही हैं, अधिकाश तो संगठन संबंधी ही, लेकिन एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शैक्षिक कारण भी है, और वह यह कि इन स्कूलों के अंदर आम-तौर पर हमने काम की आवश्यक शैक्षिक शर्तों को अपने सामने नही रखा।··· ठीक जिस तरह हम एक तथाकथित बौद्धिक, किताबी, स्कूल को स्मरण शक्ति-वर्द्धक एक यान्त्रिक स्कूल मे परिणत कर दे सकते हैं, जैसाकि वस्तुतः, खुदा रहमत करे, लाखों स्कूलों को इस तरह कर दिखाया गया है कि कोई कुत्ता तक उसके खिलाफ नही भूकता और फिर भी जिनकी तादाद दिन दूनी रात चौगुनी बढती जा रही है, उसी तरह हम काम वाले, यानी बुनियादी स्कूलों को भी यांत्रिक कार्य के स्थानों में परिणत कर सकते हैं, और दरअसल कई स्कूलो को तो यह शक्ल देने मे हमें सफलता मिली भी है। यहां काम की व्यवस्था बाहर से, असंबद्ध रूप मे, होती है और सभी के लिए एक ही जैसी; बच्चे के अंदर किसी स्वत.स्फूर्त प्रेरणा की गुंजाइश की कोई झलक तक नही; उसे रत्ती-भर भी पता नही कि वह जो काम कर रहा है उसके पीछे व्यक्तिगत या सामाजिक ध्येय भी हो सकता है। काम शुरू करते वक्त उसमे उसके लिए कोई भी दिलचस्पी नही रहती, सिवा शायद एक कुतूहल के, और अपने हाथों से कुछ करने के आकर्षण के। जैसा उससे कहा जाता है वह करता चलता है। उसके सामने कोई समस्या नही होती जिसे हल करना हो। स्वभावत. उसे अपनी समस्याओ के बारे में कुछ भी सोचने-समझने का मौका नही मिलता, क्योकि, दरअसल उसके सामने कोई समस्या आती ही नही। जब उसके सामने कोई समस्या है ही नही तो उसे हल करने के कोई और भी तरीके हो सकते हैं, यह उसे विचार ही नही करना पड़ता। उसे एक खास बंधे हुए ढंग से काम करना होता है, और अपने शिक्षक के साथ मिलकर उसने कोई नया रास्ता निकाला है—इस नकली आनंद में भी वह नही रम सकता। कभी-ही-कभी उससे काम कराया जाता है—वह भी साधारणतः नियमित रूप से नही—और जो लोग काम कराते हैं वे साधारणतः उसके हर नतीजे से संतुष्ट

रहते हैं। आपको याद ही होगा कि अनियमित धधे की यही विशेषता रहती है और, जैसा कि मेरा सुझाव था, शिक्षा का काम यही है कि वह उसे ऐसे लगन वाले काम मे परिणत करने का रास्ता साफ करे जो अधिक-से-अधिक अच्छे ही नही, बल्कि और भी बेहतर परिणाम प्राप्त करने पर जोर देता हो, जब तक कि पूर्णता प्राप्त न हो जाए…

"अगर बुनियादी स्कूलो मे से कितने ही आज भी, उन उम्रो के बच्चो वाले दूसरे स्कूलो के मुकाबले, कही ज्यादा अच्छे हैं तो इसकी वजह यह है कि आस-पास की जिंदगी के साथ उनका सबध कम दूरी का है और वे कुछ सामान्य मूल्यो को लेकर चलाए जाने वाले छोटे-छोटे समुदायो के ही रूप मे अभी तक चलाए जा रहे हैं। उनमे कराया जाने वाला व्यावहारिक काम, शैक्षिक दृष्टि से कितनी भी त्रुटियां उसमे क्यो न हो, उस काल के उनके विशिष्ट मानसिक गठन के अधिक निकट रहता है, और इसलिए इन स्कूलो मे भी कुछ अच्छी बातें आ ही गई हैं। जब तक इन स्कूलों को हम शिक्षाप्रद काम के जरिये शिक्षा देने वाले स्थान नही बना डालते तब तक हमे संतोष नही होना चाहिए…।"[1]

---

[1]'द इयर्स आफ वर्क', पृ. 87-88।

6

अनर्थ की ओर

राष्ट्रीय सग्राम के फलस्वरूप राजनीतिक और प्रशासकीय प्रतिभा वाले कितने ही शिक्षक पढाना छोड राजनीति के मंच पर आ खड़े हुए थे, और आश्चर्य है कि डा. जाकिर हुसैन राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करने की आकाक्षा को दवा कर रख सके। आकांक्षा तो थी ही, और जब तब वह इस भावना के कारण और भी प्रवल हो उठती थी कि सही ढंग से चीजें नही हो रही हैं। सार्वजनिक रूप मे उन्होंने अपने विचार व्यक्त नही किये, लेकिन आपसी बातचीत मे उनकी निराशा प्रकट होती रहती थी और यह खरी आलोचना भी करते थे। जहा तक मुझे याद है, वह इस फैसले के पक्ष मे नही थे कि काग्रेसी मत्रिमडल इस्तीफा दे। सिद्धांतों का, खासतौर से नैतिक सिद्धातो का, राजनीति मे एक तात्विक मूल्य है, मगर हर स्थिति को वस्तुनिष्ठ रूप मे देखना होता है और अवसर के अनुकूल कदम उठाने होते हैं, व्यवहार कुशलता और दूरदर्शिता के साथ। काग्रेसी मत्रिमडलों का खुद इस्तीफा दे देना एक बात थी, और ब्रिटिश सरकार द्वारा वैसा करने के लिये बाध्य कर दिया जाना बिलकुल ही दूसरी बात। दोनों मे आकाश-पाताल का अंतर है। पहली स्थिति मे, इस फैसले का आधार होता—उत्पन्न प्रश्नो के बीच सही सतुलन, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ असहयोग करके अप्रत्यक्ष रूप

से फासिज्म की सहायता को उचित मानने, और फासिज्म का विरोध करने के लिये *साम्राज्यवाद का यदि समर्थन नही तो अप्रत्यक्ष रूप से उसका औचित्य* स्वीकार करने, के बीच सैद्धातिक रूप मे किया जाने वाला सूक्ष्म अंतर। दूसरी स्थिति मे, साम्राज्यवाद का नग्न रूप प्रकट हो जाता, और फासिज्म की खुलकर *निंदा करते हुए उसका विरोध और भी अधिक औचित्यपूर्ण हो जाता। काग्रेस* कार्यसमिति के सितबर वाले प्रस्ताव को जो भी पढेगा वह उसे जटिल और अनिर्णयात्मक विचार के ही एक ऐसे उदाहरण के रूप मे लेगा जिसने कि कोई भी स्पष्ट मार्गदर्शन नही दिया।[1]

काग्रेसी मत्रिमडलो के इस्तीफे का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसने मुस्लिम लीग के लिये मैदान खुला छोड दिया, जिसके नेतृत्व का न तो कोई अतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था और न ही जिसकी दिलचस्पी उन सिद्धातो मे थी जो यूरोप के युद्ध मे टकरा रहे थे। उसका एकमात्र उद्देश्य था मुसलमानो के अदर हिंदू विरोधी भावना को भडकाना और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये हर मौके से फायदा उठाना। सात प्रातो मे अपने मत्रिमडलो के जरिये जितनी भी सत्ता काग्रेस को मिली हुई थी उसका भी त्याग कर दिये जाने के बाद जब लीग ने 23 मार्च, 1940 को अपनी लाहौर की बैठक मे पाकिस्तान वाले प्रस्ताव द्वारा अपने राजनीतिक ध्येयो को स्पष्ट किया, तब लीग की कार्रवाइयो का जवाब देने के लिये वह कुछ भी करने लायक नही रह गई थी। वह प्रस्ताव घोर अनिष्ट का सूचक था, और सभी निष्ठावान देशभक्तो की भाति ही, डा. जाकिर

---

[1]अप्रैल 1942 मे, हिंदुस्तानी तालीमी सघ की सालाना बैठक के बाद, गाधी जी के साथ हुई डा जाकिर हुसैन की मुलाकात मुझे याद है। युद्ध की बात सभी के दिमागो पर छाई हुई थी, *और गाधी जी ने लगभग पैंतालीस मिनट तक चलने वाली अपनी* बातचीत में भारत पर होने वाले उसके असर के बारे मे अपने विचार पेश किये। जब हम लोग अपनी कुटिया में लौट रहे थे तब डा जाकिर हुसैन ने मुझसे पूछा, "गाधी जी ने जो कुछ कहा, कुछ समझ में आया ?" मैंने जवाब दिया कि नहीं। "मैं भी नही समझ पाया," एक गहरी सास लेकर वह बोले। "अब क्या होगा ?"

गाधी जी तब सदेह और दुविधा मे पूरी तरह डूबे हुए थे और उनकी वह बातचीत एक तरह से उनके अतर्द्वंद्वों को ही प्रतिबिंबित करने वाले असबद्ध विचारो का प्रकाश मात्र थी। 'भारत छोडो' आदोलन को शुरू करने वाले फैसले के ठीक पहले वाली अवस्था थी वह।

हुसैन भी अत्यंत क्षुब्ध हो उठे थे। 1935 में काशी विद्यापीठ का जो दीक्षांत अभिभाषण उन्होंने दिया था उसी में वह सार्वजनिक रूप से अपना यह भय प्रकट कर चुके थे कि भारतीय जाति के एक अविकल अंग के रूप में मुस्लिम संप्रदाय के अस्तित्व की समस्या पर उदारतापूर्वक और राजनीतिमत्ता के साथ विचार नहीं किया जा रहा है। उसके बाद भी कोई ऐसी बात नहीं हुई जिससे उनकी नैराश्य भावना घट पाती। यह भी तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बुनियादी शिक्षा की परिभाषा और उसके प्रचार का दायित्व लेने की जगह अगर वह उस समस्या के समाधान में ही अपने को अर्पित कर देते, तो भी कोई खास फर्क पड़ता। मगर उस हालत में वह अपने को कम-से-कम यह सांत्वना जरूर दे पाते कि राष्ट्रीय नीति का जिस जगह जीवन की यथार्थताओं के साथ मेल बिठाना सबसे ज्यादा जरूरी था ठीक वहीं पर उन्होंने वह सब किया जो उनके बस का था। मगर अब तो बुनियादी शिक्षा में उनके उलझ जाने से लोग यही मान बैठे कि वह हर छोटे-बड़े मामले में कांग्रेस के साथ थे, और जो मुसलमान लीग में थे या उसके समर्थक थे वे अपने हित के किसी भी मामले में उन्हें उनके पक्ष को पेश करने का अधिकारी नहीं समझते थे। लीग की नीति ने जब पाकिस्तान वाले प्रस्ताव के रूप में निश्चित रूप ग्रहण कर लिया तब सभी मामलों ने पूरी तरह से राजनीतिक जामा पहन लिया, और किसी शिक्षाविद् के लिये उसमें कोई जगह नहीं रह गई। अपने दिल के दर्द को प्रकट करने के सिवा अब उनके लिये करने को रह ही क्या गया था :

"हमारा यह सौभाग्य है कि बाबू राजेंद्र प्रसाद हमारे बीच आज मौजूद हैं, और औपचारिक रूप में वही इस सम्मेलन का उद्घाटन करेंगे। उनके माध्यम से अपने देश के सभी राजनीतिक विचारों के नेताओं तक मैं शिक्षा कार्य में लगे हुए सभी लोगों का यह साग्रह अनुरोध पहुंचा देना चाहता हूं कि वे हमारे राजनीतिक वातावरण को संयत और उन्नत बनाएं और जितनी जल्द संभव हो, एक ऐसे राज्य की नींव डालें जहां एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय पर भरोसा करेगा, कमजोर मजबूत से भयभीत नहीं रहेगा, गरीब आदमी को अमीर आदमी न चोट पहुंचा सकेगा और न अपमानित कर पाएगा; एक ऐसे राज्य की नींव जिसमें विभिन्न संस्कृतियां साथ-साथ उन्नति करती रहेंगी, और उनमें से प्रत्येक ही

दूसरी संस्कृति की अच्छाइयों को उभार कर सामने ले आएगी; एक ऐसे राज्य की जिसमें हर नागरिक अपनी प्रकृति में गुप्त पड़ी अपनी सर्वोत्तम अच्छाइयों को पूरी तरह विकसित कर सकेगा, और अपने व्यक्तित्व के सपूर्ण साधनों का समाज की सेवा के निमित्त उपयोग कर पाएगा। मैं जानता हूं कि इस तरह का अनुरोध करना तो आसान है, लेकिन उसे पूरा करना किसी भी एक व्यक्ति के वश का नही। मगर महसूस करता हू कि राजनीतिक नेताओं के सामने आज पहले से भी कही बडा मौका आया है कि वे विभिन्न सप्रदायों और वर्गों की आकांक्षाओ और कठिनाइयों को सहानुभूतिपूर्वक समझ कर और सत्ता तथा विशेषाधिकारो का खुले दिल से आपस मे विनिमय करके एक नैतिक, प्रगतिशील राज्य की नीव डालें। जब तक ऐसा नही होता तब तक हम शिक्षको की हालत शोचनीय ही रहेगी। क्योकि इस रेगिस्तान मे हम कब तक अपने हल चलाते रहेगे? कब तक हम सदेह और अविश्वास के जहरीले धुए के बीच अपनी योजनाओ, अपने विचारो, अपने सपनो का दम घुटना बरदाश्त कर पाएगे? कब तक हम इस डर से थरथर कापते रहेंगे कि एक भी राजनीतिक गलती, एक जरा सी हठधर्मी, उस सबको हमेशा के लिये तहसनहस कर दे सकती है जिसे कि पूरी जिंदगी की मेहनत और मुहब्बत से हमने हासिल किया है? हमारा काम गुलाब के फूलो की सेज नही है। अक्सर ही हमें निराश हो जाना पड़ता है, अक्सर ही हमारे दिल टूट जाते है। जब कभी हम हिम्मत हार बैठें, तब किस का सहारा लें? क्या हम इस समाज का सहारा लें, जहा कि भाई भाई का दुश्मन है, जिसमे कोई भी मूल्य अतिम मूल्य नही है; इस समाज का, जिसके पास कोई भी ऐसा गीत नही जिसे सब मिलकर एक साथ गा सकें, कोई भी ऐसा त्योहार नही जिसे सभी मना सके, कोई ऐसी खुशी नही जिसमे सभी शरीक हों, कोई ऐसे गम नही जिनका दर्द सभी दिलो को एक साथ जोड सकें? हमारी तकलीफ धीरज की सीमा को पार कर रही है। हमे राहत दीजिये, आज ही हमे राहत चाहिये; क्योकि कौन कह सकता है, कल क्या होने वाला है?"[1]

---

[1]'टू इयर्स आफ वर्क' (काम वाले दो साल), हिंदुस्तानी तालीमी सघ, सेवाग्राम, वर्धा पृ. 28-29।

डा. जाकिर हुसैन यह भले ही जानते रहे हों कि सिर्फ एक शिक्षक होने के नाते उन्हें आसानी से बिलकुल अलग रहने के लिये कह दिया जा सकता है, लेकिन किसी भी राजनीतिक परिवार में वह किसी गरीब रिश्तेदार की हैसियत लेकर रहने को तैयार नही थे, और न यही मानने को कि मारकाट वाला रास्ता सबों की भलाई का रास्ता है। 1941 में कराची मे होने वाले अखिल सिंध शिक्षा-सम्मेलन के अध्यक्षपदीय अभिभाषण मे उन्होने सिंध मे तथा अन्यत्र भी सांप्रदायिक स्कूलो की वृद्धि का स्वागत किया था, "बावजूद इस तरह की गैरजिम्मेदाराना चर्चा के कि साप्रदायिक स्कूल सिद्धांत की दृष्टि से गलत और व्यवहार मे नुकसानदेह हैं," और "सभी देवी देवताओं के बीच सबसे अधिक अस्थिर और अविवेकी बहुमत वाले देवता" को छोड़ किसी के भी प्रति निष्ठा न रखने की मांग के विरुद्ध अपना प्रतिवाद प्रकट किया।[1] तब लीगी जमात के साथ उनके संबंध की बात पहले कही ही जा चुकी है। मुस्लिम लीग के नेताओं को, जिनका प्रभाव तेजी से बढ़ता जा रहा था, कुछ वक्त तक यह दिखाने की फिक्र रही कि उनकी दिलचस्पी सिर्फ राजनीतिक नीतियों मे ही नही थी, बल्कि मुस्लिम सप्रदाय की आम भलाई और उसकी शिक्षा संस्थाओं में भी थी। राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों के सामने दो ही रास्ते थे : या तो लोककल्याण वाली सस्थाओ से मुस्लिम लीगियों को दूर रखने की कोशिश करें, और या ऐसा मुमकिन न होने पर, उन सस्थाओं को खुद ही छोड कर चले जाएं। डा. जाकिर हुसैन लीग के राजनीतिक ध्येयों के बिलकुल खिलाफ थे, और उससे भी ज्यादा उस भाषा और उस तरीके के जिनमे उन ध्येयों को व्यक्त किया गया था। मगर अपने ही खास तरीके से उन्होने यही फैसला किया कि, एक शिक्षक के नाते, उनका कर्तव्य यह है कि फायदेमंद सामाजिक काम करने के लिये जहा-जहां भी सहयोग संभव हो सके, सहयोग का ही कठिन रास्ता चुना जाए।[2]

---

[1]बी. एस. माथुर (सपादक), जाकिर हुसैन : एजुकेशनिस्ट एंड टीचर' (शिक्षाविद् और शिक्षक), पृ. 58।

[2]किंतु सहयोग सदा ही संभव नहीं था। उ. प्र. के शिक्षा निदेशक ने, 'जिनकी बुनियादी शिक्षा संबंधी अपनी अलग ही धारणा थी, शायद हिंदुस्तानी तालीमी संघ का दूसरा सम्मेलन इलाहाबाद में बुलाना चाहा था। गांधी जी को इसका पता चला तो उन्होंने डा. जाकिर हुसैन

1942 में वह ऐंग्लो ऐरेबिक कालेज की निरीक्षक सभा के सदस्य और उपाध्यक्ष चुने गए। जिन्ना के प्रमुख सहायक नवाबजादा लियाकत अलीखां उसके अध्यक्ष थे और दिल्ली के चीफ कमिश्नर के वित्तीय सलाहकार जाहिद हुसैन कोषाध्यक्ष। लियाकत अली खां अपने राजनीतिक कामों में इतने ज्यादा फंसे रहते थे कि कालेज के मामलों के लिये उनके पास वक्त ही नहीं रहता था, मगर अपने दफ्तरशाही तरीकों की वजह से जाहिद अली बराबर ही झगड़े पैदा करते रहते थे। लेकिन डा जाकिर हुसैन पर उन दोनों का ही भरोसा था और उन्होंने उन्हें हमेशा ही स्थितियों और समस्याओं का सही मूल्यांकन करते और सही सलाह देते पाया। इस तरह, व्यवहार में एक तरह से वही कालेज के सर्वेसर्वा थे, हालांकि लियाकत अली खां और जाहिद हुसैन दोनों ने यही सोच कर पद स्वीकार किये थे कि एक मुस्लिम संस्था होने के नाते बस कालेज को चलाने की जिम्मेदारी मुस्लिम लीग की ही होनी चाहिये। सर मारिस ग्वायर जब दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति हुए तब डा जाकिर हुसैन ने उनका भी सम्मान और सहयोग प्राप्त किया। कालेज के सभी कागजात 1947 के दंगों में बरबाद कर दिये गए थे और यह दिखाने के लिये अब कुछ भी मौजूद नहीं है कि उसको स्थिरता प्रदान करने और उसके प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने में उनका कितना बड़ा हाथ था। मगर इसके दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों में एक था स्थानापन्न प्रिंसिपल के ए. चिश्ती द्वारा, जो अपनी तत्कालीन और भावी हैसियत के बारे में चिंतित रहते थे, उन पर की जाने वाली ज्यादतियां, क्योंकि वह बराबर ही उनका समर्थन पाने के लिये आतुर रहते थे। कालेज के प्रशासन को लेकर अपनी परेशानियों के बारे में उनके पास हमेशा ही कहने के लिये बहुत-कुछ रहता था। मुझे ऐसे मौके याद हैं जब कि जामिया के अहाते में वह डा जाकिर हुसैन के पास कोई दस बजे सबेरे ही आ धमकते थे, दोपहर के खाने तक बातें ही करते चले जाते थे, फिर खाने के बाद चाय का वक्त हो जाता था, और चाय के बाद रात के खाने का, और उसके बाद भी इतनी देर तक बने रहते थे कि दिल्ली जाने वाली आखिरी बस भी चली जाती थी, और उसके बाद और भी ज्यादा रात तक।

को तार दिया कि वह उनसे संपर्क स्थापित करें। डा. जाकिर हुसैन ने तार से जवाब दिया: उनसे संपर्क स्थापित नहीं कर सकता। अछूत।

चिश्ती ऊंची आवाज में बोलते थे, और अपने घर की छत पर से, जिसके सामने ही बैठक का वह कमरा और आगन था जहां डा. जाकिर हुसैन के साथ उनकी बैठक जमी होती थी, मैं उन्हें बोलते सुन सकता था, जब कि डा. जाकिर हुसैन धीरज के साथ सिर्फ उनकी बातें सुनते चले जाते थे। मुझ में वह धीरज नही था और इसलिये उनके वक्त की इस बरबादी पर मैं अंदर ही अंदर कुढ़ने और हाथ-पांव पटकने के सिवा कुछ भी नहीं कर पाता था। चिश्ती में विवेक नाम की कोई चीज तो जैसे थी ही नही। वहां आते ही वह अपनी गाड़ी ईंधन की लकड़ियों से भर लेते थे, और लकड़ियो की उन दिनो बड़ी तगी थी।

बहुसंख्यक सुन्नी और अल्पसंख्यक शिया लोगो को लेकर मुसलमानों के बीच एकीकरण के मामले मे एक समस्या उठी हुई है। गैर मुसलमानों को इसका पता शिया सुन्नी दंगों के वक्त ही चल पाता है, लेकिन सुन्नी और शिया लोग, अपनी धार्मिक भिन्नता को कायम रखने के लिये, हमेशा ही, लेकिन आमतौर पर आपसी बातचीत में, उन भिन्नताओं का राग अलापते ही रहते हैं जिन्हें कि वे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। डा. जाकिर हुसैन के एक दोस्त ने एक बार उलाहना दिया कि शिया लोगों के लिये उन्होंने कभी कोई भाषण नही दिया। दरअसल बात तब उठी जब कि मुहम्मद साहब के नवासे इमाम हुसैन पर, जिनकी शहादत को इस्लाम के इतिहास की सबसे अधिक महत्त्व की घटनाओं मे गिना जाता है, उनसे एक भाषण प्रसारित करने का अनुरोध किया जा रहा था। डा. जाकिर हुसैन किसी तरह भी राजी नही हो रहे थे। वह दोस्त जब नही माने, तब बोले, "अच्छी बात है, मगर यह भाषण मेरे लिये आपको ही लिखना होगा। आप जानते ही हैं कि लिखने के काम से मुझे कितनी नफरत है।" कुछ दिन बाद वह दोस्त एक मसौदा तैयार करके लाए। डा. जाकिर हुसैन ने उसे पढ़ा और बिलकुल ही पसंद नहो किया। उसकी घिसी-पिटी, रूढ़िवादी, शक्ल ने उन्हें इतना उत्तेजित कर दिया कि वह फिर खुद ही अपना भाषण लिखने बैठ गए। यह प्रसारित हुआ, फिर हजारों की संख्या में छपा और बिका, और इस विषय का प्रायः सबसे अधिक स्मरणीय भाषण सिद्ध हुआ।[1]

[1]दुर्भाग्यवश, उनके अधिकांश भाषण, जो छप चुके हैं वे भी, अब कठिनता से ही मिल

छात्र आंदोलन की ओर डा. जाकिर हुसैन 1941 में आकृष्ट हुए, और आगरा तथा श्रीनगर में उन्होंने अखिल भारतीय छात्र संघ (आल इंडिया स्टूडेंट्स फैडरेशन) की बैठकों में अपने अभिभाषण दिये। ये अभिभाषण यों तो स्वतः ही बड़े मूल्यवान हैं, किंतु इन बैठकों के संचालकों का इरादा यह थोड़े ही था कि वे डा. जाकिर हुसैन से मार्गदर्शन प्राप्त करें या उनके दिखाए उस रास्ते पर चलें जिसे उन्होंने बिना पूछे ही उन्हें दिखाना चाहा था। उन्होंने तो अभिभाषण देने के लिये उन्हें कुछ दूसरे ही मतलब से बुलाया था, और अगर उन्होंने सुनने लायक कोई बात न भी कही होती तब भी वे पूरे संतुष्ट थे। बाद को, विभिन्न अखिल भारतीय छात्र संगठनों के कार्यों को समन्वित करने की एक बात चली, और डा. जाकिर हुसैन को छोड और कोई भी व्यक्ति उन्हें नहीं मिला जो उनकी सयुक्त बैठकों का सभापतित्व करने के लिये तैयार हो। लेकिन वह बात भी, पत्रकारिता की भाषा मे, एक राजनीतिक चकमे के तौर पर ही थी, और तभी खत्म हो गई जब कि मित्र राष्ट्रों की जीत पक्की हो गई। डा. जाकिर हुसैन के लिये यह सिर्फ इतने वक्त और शक्ति की बरबादी ही साबित हुई।

1943 के दिल्ली मुस्लिम वक्फ कानून के अंतर्गत जब चीफ कमिश्नर ने दिल्ली के सुन्नी मजलिसे औकाफ का पुनर्गठन किया तब उन्होंने उन्हें भी उसका एक सदस्य नामजद किया; और उन्होंने भी अपनी व्यक्तिगत देखरेख मे दरियागंज के एक ऐसे यतीमखाने को ले लिया जिसके खर्च का इंतजाम मजलिस ने और एक दूसरे ट्रस्ट ने अपने हाथ मे लिया था। इस यतीमखाने के बारे मे सिफारिशें करने के लिये मजलिसे औकाफ ने जो उपसमिति नियुक्त की थी उसकी रिपोर्ट उन्होंने ही लिखी थी, और उसमे जो तबदीलियां सुझाई गई थी उनसे जाहिर है कि परिस्थितियों की क्रूर चपेट मे आकर यतीम हो जाने वाले बच्चों के लिये दिल मे कितनी हमदर्दी और मुहब्बत थी।

"इस संस्था को यतीमखाना न कहा जाए। 'बच्चों का घर' इसका ज्यादा सही नाम होगा।

सकते हैं। कश्मीर विश्वविद्यालय में शिक्षा के प्रोफेसर आगा अशरफ अली को जितने भी मिल सके उनका संग्रह कर डाला, लेकिन उनके उस संग्रह को, 1947 की जलंधर वाली अपनी उस भाग्य-निर्णायक यात्रा के ठीक पहले, डा जाकिर हुसैन ने उनसे मंगा लिया था और उनके असबाब के साथ वह भी गायब हो गया।

"इस संस्था के अधीक्षक को, बच्चों के साथ पेश आते वक्त, उनके दिमाग से जहां तक मुमकिन हो यह बात धो-पोंछ डालनी चाहिये, कि वे अनाथ हैं।

"इस दृष्टि से बच्चों के खाने और कपड़ों पर खासतौर से ध्यान देना जरूरी होगा। उन्हें खाना खाने के लिये दाताओं के घरों पर नहीं भेजा जाना चाहिये।...[1] उन्हें दूसरों के फटे पुराने कपड़े पहनने को नहीं दिये जाने चाहिये।...उनके लिए जो कपड़े तैयार कराए जाएं उनकी कटाई सिलाई इस तरीके से न होने पाए कि वे किसी सूरत में भी यतीमों के कपड़े जान पड़ें।...यतीम होने की बिना पर उन्हें चंदा मांगने के लिये न भेजा जाए..."

'बच्चों का घर' के वर्तमान अधीक्षक, मुहम्मद फरूक, को डा. जाकिर हुसैन ने ही चुना था, और फरूक तथा उनके सहयोगी अब्दुम् शकूर की निष्ठा तथा उत्साहपूर्ण सहायता से उन्होंने इस नए 'बच्चो के घर' को एक छात्रावास में परिणत कर डाला, जहां के बच्चों की पढ़ाई का इंतजाम आसपास के स्कूलों में किया गया। छात्रावास की शोभा बढ़ाने के लिये, और अनाथालयों में आमतौर पर क्षुद्रता और मायूसी के जो भी चिह्न दिखाई देते हैं उन्हें वहां से धो-पोंछ डालने के लिये, कुछ भी उठा नहीं रखा गया। 'बच्चों का घर' को जो रूप डा. जाकिर हुसैन की बदौलत मिला था उसे ये लोग चुपचाप, और वैसी ही लगन के साथ, कायम रखे हुए हैं, और उसके काम को देख सिर्फ एक ही बात खलती है कि डा. जाकिर हुसैन को फरूक और अब्दुस शकूर जैसे और भी लोग नहीं मिल सके जो कि उनके ध्येयों की पूर्ति में उनके सहायक होते।

शिक्षा संबंधी मामलों में लीग और कांग्रेस दोनों के ही नेताओं के साथ संपर्क रहने के कारण डा. जाकिर हुसैन उनके बीच संबंध स्थापित करने का काम आसानी से कर सकते थे। लेकिन राजनीति में उनके न रहने से उनकी ईमानदारी और सद्भाव में तो सभी को पूरा भरोसा था, पर यह बात किसी ने भी नहीं सोची कि उसका राजनीतिक दृष्टि से भी उपयोग किया जा सकता था। सभी इतने स्पर्श

---

[1] मुसलमानों के बीच यतीमों को खिलाने का एक रूढ़िगत धार्मिक रूप।

कातर भी थे कि अगर डा. ज़ाकिर हुसैन अपनी ओर से सद्‌भाव और मेलजोल को बढ़ाने के लिए कोई कदम उठाते तो अपने प्रति सदेह उत्पन्न किये बिना अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये अपने को स्वतत्र भी न मान पाते। एक बार वह रेल मे सफर कर रहे थे, कि एक मुसलमान मुसाफिर ने, यह दिखाए रखकर कि वह एक पत्रकार है, उनके साथ बातचीत शुरू कर दी, और बाद को उसका एक विवरण प्रकाशित कर दिया जिससे यह प्रकट होता था कि वह पाकिस्तान के पक्ष मे हैं। यह विवरण उर्दू के एक अखबार मे छपा। गाधी जी को उसके बारे मे जब बताया गया तो वह इस हद तक विचलित हो गए कि उन्होंने राजकुमारी अमृत कौर को, जो तब दिल्ली मे ही थी, डा. ज़ाकिर हुसैन से मिलने और असलियत का पता लगाने के लिये लिखा। डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे मे इस तरह की बात पर वह खुद तो विश्वास करने को तैयार नही थे, फिर भी वह पक्की खबर चाहते थे। डा ज़ाकिर हुसैन तो पाकिस्तान की माग के खिलाफ थे ही, और कोई वजह नही थी कि वह इससे उलटी राय क्यो प्रकट करते। यही उन्होने उनसे कहा भी। *मगर उनके अदर हठधर्मी और कट्टरपन का सर्वथा अभाव रहने के कारण,* हालाकि उनकी अपनी मान्यताएं बड़ी पक्की और गहरी थी, यह बात वह समझ ही नही सकते थे कि पाकिस्तान की माग जैसे परम महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी हमेशा एक ऐसे वातावरण मे क्यो विचार किया जाता है जो सदेह, अविश्वास, भय और व्यक्तिगत द्वेष से दूषित है, और अगर कोई बहस की ही खातिर, उसके पक्ष मे राय दे भी बैठता है तो उस पर राष्ट्रीयता विरोधी होने का इलजाम क्यो लगाया जाने लगता है; और अगर कोई, फिर भी बहस की ही खातिर, उसे गलत या निरर्थक बताता है तो उस पर मुस्लिम विरोधी होने का इलजाम क्यो लगा दिया जाता है। उनकी अपनी अतर्जात तथा अदम्य प्रवृत्ति तो उस बात से व्यक्त होती है जिसे उन्होने 'अच्छा शिक्षक' शीर्षक अपनी एक रेडियो वार्ता मे[1] उन बच्चो के बारे मे कहा था जो अपराधी बन जाते हैं और जिनका सुधार सभव नही रह जाता: 'उसके आसपास की सारी दुनिया जब उसकी ओर से निराश हो उसे छोड बैठती है तब सिर्फ दो ही व्यक्तियो के दिल मे आशा का दिया जलता रहता है—उसकी मा के, और उसके अच्छे शिक्षक के।'

[1] 15 मई 1936 को प्रसारित।

डा. ज़ाकिर हुसैन राजनीति से अलग रहते थे, लेकिन वह इतनी प्रमुखता भी प्राप्त कर चुके थे कि अंतरिम सरकार में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में उनके लिये जाने की बात भी उठी थी, हालांकि फिर वह बात खत्म भी हो गई। जान पड़ता है कि उन्होंने यह शर्त रख दी थी, जिसे पूरा करना उस समय की स्थिति में असंभव था, कि उन्हें सर्वसम्मति से चुना जाए। उन्होंने यह शर्त इसीलिये रखी थी कि इसके बिना उन्हें, एक छोटे पैमाने पर और एक सीमित परिधि में भी, आपसी मेलजोल और एकता के लिये काम करने का मौका न मिल पाता। जामिया मिल्लिया की रजत जयंती 1945 में मनाई जाने को थी,[1] और उन्होंने निश्चय किया कि उस मौके पर वह कांग्रेस और लीग को एक ही मंच पर ला खड़ा करेंगे। इस मामले में उन्होंने जो कुछ और जिस ढंग से किया था वह योजना बनाने की कला का एक उत्कृष्टतम नमूना था। जामिया मिल्लिया ने पहले एक शिक्षा प्रदर्शनी की, जिसमें उनके साथ एक चक्कर लगाने भर से देखने वाले के दिल में यह बात जम कर बैठ जाती कि उसके काम के पीछे रचनात्मक चिंतन और ठोस व्यावहारिक भावना है, और कतिपय महत्त्वपूर्ण लोगों को उन्होंने उसे देखने के लिये आमन्त्रित किया, जिनमें फील्डमार्शल आकिनलेक भी थे। कोई जल्दबाजी नहीं की गई, कोई विक्रय कला नहीं दिखाई गई। इस बात के लिये काफी वक्त दिया गया कि बड़े-बड़े लोग आपसी बातचीत में एक दूसरे से फुरसत के साथ इस प्रदर्शनी की चर्चा करें। इसके बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने, इस प्रकार हुए संपर्कों से लाभ उठा कर, कायदे-आजम जिन्ना से, हालांकि उन तक पहुंचना यों दुर्लभ था, एक मुलाकात पक्की करा ली, और उन्होंने छूटते ही कह दिया कि वह ऐसी हर चीज की मुखालफत करेंगे जो कांग्रेस की तरफ से होगी या जिसे कांग्रेस का समर्थन मिलेगा, और इसीलिये वह बुनियादी शिक्षा के भी खिलाफ हैं। मुझे नहीं मालूम कि और भी किन-किन मामलों पर उन दोनों के बीच बातचीत हुई, लेकिन कुछ ही दिन बाद कुमारी फातिमा जिन्ना भी जामिया मिल्लिया वाली शिक्षा प्रदर्शनी को देखने के लिए आ पहुंची। उन्होंने निश्चय ही उसकी बड़ी तारीफ की होगी, क्योंकि और भी कुछ दिन बाद जिन्ना ने कहलवा भेजा कि रजत जयंती समारोह में वह भी आएंगे।

---

[1]बाद को नवंबर 1946 तक के लिए स्थगित।

अगर हम यह याद रखें कि लड़ाई को खत्म हुए तब तक सिर्फ डेढ़ साल ही हुआ था, कि सनातनी पागलपन की स्थिति तक जा पहुंची थी, कि कलकत्ते वाला 'हत्याकाड' हो चुका था और उसकी दूषित प्रतिक्रियाए हो रही थीं, और फिर यह भी, कि खाद्यान्नों के साथ-साथ हर माल की भारी कमी हो गई थी, तो हम समझ पाएगे कि जामिया मिल्लिया ने इतने बड़े पैमाने पर अपनी रजत जयती का समारोह करने की जो योजना बनाई थी वह कितने बड़े दुस्साहस की बात थी। समूचे देश मे लगभग दो हजार लोगो को निमत्रण दिये गए थे जिनके ठहरने और खाने पीने का इतजाम एक ऐसी जगह किया गया था जहा न बिजली थी और न पानी। एक पूरी बस्ती ही बसानी थी और जामिया मिल्लिया के अध्यापको, कर्मचारियो और विद्यार्थियो ने ही सडकें बनाईं और पानी के नल बिठाए। बेगम कुदसिया जैदी ने, जो कि रामपुर की रियासत के तत्कालीन दीवान कर्नल बी एच. जैदी की पत्नी थी, मेहमानो के रहने और बिठाने की व्यवस्था अपने हाथ में ली; दल बादल के नाम से मशहूर एक बहुत ही बड़ा तबू और कितनी ही छोलदारिया रियासत रामपुर से उधार मगा कर उनकी निगरानी मे खड़ी कर दी गई। शहर मे लगे हुए कर्फ्यू को भंग करके पकड़े जाने का जोखिम उठाकर भी उन्होने वहीं से बिजली देने, और इसी अवसर पर खोदे गए एक कुए से पानी निकालने के लिए बिजली के दो जैनरेटर भी मगा लिये। रसोईघर की जिम्मेदारी अब्दुल्ला आटे-वाले नाम के एक व्यक्ति को दी गई थी जो बहुत बडी-बड़ी दावतो का इतजाम करने की अपनी क्षमता के लिये मशहूर थे। मगर वह भी हार मान गए, यह खातिरदारी उनके भी बस की नही थी। ऊपर से बदकिस्मती यह कि तभी दिल्ली मे छुरेबाजी का दौर शुरू हो गया और बीच-बीच मे कर्फ्यू लगाया जाने लगा। जामिया के स्टाफ के ही एक सज्जन को तब रसोईघर का काम सम्हालना पडा, और किसी तरह मुश्किल से उन्होने अनाज और गोश्त और तरकारियो का इतजाम किया। मगर जिस बात ने जामिया वालो को बुरी तरह चिंतित कर दिया था वह तो यह अफवाह थी कि कुछ कट्टर मुस्लिम लीगियों ने यह धमकी दी है कि अगर अतरिम सरकारी मत्रिमडल के मुस्लिम सदस्यो मे से एक, आसफ अली, जामिया मिल्लिया आए तो छुरेबाजी से भले ही वह बच जाए, लेकिन उन्हे अपमानित तो किया ही जाएगा। अगर कोई दुर्घटना न भी हुई तो भी किसी ऐसे समारोह मे जहा जवाहरलाल नेहरू और जिन्ना, मौलाना आज़ाद और लियाक़त

अली खां, सम्मानित अतिथियों के रूप में आ रहे थे, 'प्रोटोकोल' (नयाचार) के उचित पालन की चिंता किसी अधिक-से-अधिक दक्ष नयाचार-अधिकारी की भी कितनी ही रातों की नींद खराब करने के लिए काफी थी। मगर सब कुछ सही सलामत गुजर गया, और चार दिन के भारी भरकम कार्यक्रम में से एक भी चीज छूटने नहीं पाई।

डा. जाकिर हुसैन जरूर हर जगह दिखाई पड़ते थे, हर तरह की देखभाल कर रहे थे। मगर उन पर खास जिम्मेदारी थी बड़े-बड़े मेहमानों की आवभगत करने और उन्हें प्रदर्शनी दिखाने की—नवाब भूपाल की, जिन्होंने रजत जयंती सभा की अध्यक्षता की, नवाब रामपुर की, जिन्होंने प्रदर्शनी का उद्घाटन किया, डा. के. ए. हमीद, मौलवी अबदुल हक़ और सर अबदुल कादिर की, जिन्होंने दीक्षांत भाषण दिया। शैखुल जामिया (कुलपति) के नाते उन्हें कई मौकों पर भाषण भी देने पड़े थे। ये सभी तत्काल-प्रस्तुत भाषण थे और चमत्कारपूर्ण थे। रजत जयंती वाली बैठक में उन्होंने जो लिखित भाषण पढ़ा उसमें उन्होंने जो कुछ पहले कहा था उसका सार तो प्रस्तुत किया ही, बल्कि पिछली सारी बातों से उनका यह भाषण कहीं बढ़ा-चढ़ा था, और शायद उनके जीवन का यह सबसे अधिक भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक भाषण था। उनके दाहिने और बाएं वे व्यक्ति बैठे थे जिन पर उस समय भारतीय जनता का भाग्य निर्भर करता था। वह एक ऐसे शिक्षक के नाते बोल रहे थे जिसने बीस साल तक काम किया था और तकलीफें झेली थीं और जो अपने सामने और सभी सच्चे शिक्षकों के सामने इस बात का संकट खड़ा देख रहा था कि उनकी सारी आशाएं चूर-चूर हो जाने वाली हैं। उनकी बातें सुनकर कितनों की ही आंखों में आंसू आ गए थे, और, अगर स्वार्थपरता की वेदी पर अपनी उदार भावनाओं को बलि चढ़ा देने की आदत ने मनुष्यों को विवश न कर दिया होता, तो उनकी वे बातें उनकी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन ला दे सकती थीं जिनका भारतीय इतिहास में भारी महत्त्व होता। राजनीतिक नेताओं की ओर मुंह करके वह बोले :

"आप सभी राजनीतिक आकाश के सितारे हैं; आपके लिए हजारों नहीं लाखों करोड़ों के दिल में प्रेम और आदर है। आप लोगों की इस उपस्थिति से लाभ उठाकर मैं शिक्षा कार्य में लगे हुए लोगों की तीव्रतम वेदना आप तक पहुंचा देना चाहता हूं। पारस्परिक घृणा की जो आग इस देश में धधक रही है उसने

बगीचे लगाने और उनकी देखभाल के काम को निरा पागलपन करार दे दिया है। इस आग मे वह मिट्टी भी झुलस चली है जिसके अंदर ही उच्चता और मानवता के बीज अकुरित होते है; नेक और सतुलित व्यक्तित्व वाले फूल इसमें कैसे उगाए जा सकते हैं? आचरण का स्तर जब जानवरो से भी नीचे तक गिर गया हो, तब भला मनुष्य की नैतिक प्रकृति को हम कैसे सजाए-संवारें? सस्कृति को हम कैसे बचाएं जबकि सर्वत्र ही बर्बरता का राज हो जाए, उसकी सेवा के लिए लोगो को हम किस तरह तैयार करें? जंगली जानवरों की इस दुनिया में हम मानव मूल्यो की रक्षा किस प्रकार कर सकेंगे? मेरी ये बातें आप लोगों को सख्त लग सकती है, लेकिन हमारे चारों ओर के इस वातावरण का वर्णन करने के लिये सख्त से सख्त बातें भी बेहद नरम हैं। शिक्षक होने के नाते हमारा कर्त्तव्य हमे बाध्य करता है कि बच्चो के अदर सम्मान और श्रद्धा की भावना उत्पन्न करें, मैं आपसे किन शब्दो मे उस वेदना की बात कहूं जो हमे यह सुनने पर होती है कि पशुता की इस बाढ से भोलेभाले बच्चे तक नही बच पाए हैं? एक भारतीय कवि ने कहा है कि पैदा होने वाला हर बच्चा अपने साथ यह संदेश लेकर आता है कि ईश्वर मानव जाति के बारे मे निराश नही हुआ है, किंतु हमारे देश मे मानव प्रकृति क्या अपने ही बारे में स्वय इतनी निराश हो गई है कि वह इन फूलों तक को उनके खिलने के पहले ही रौंद डालना चाहती है? ईश्वर के लिये, मेहरबानी करके एक साथ मिलकर इस बात पर विचार कीजिये, और इस आग को बुझाइये? यह मौका इस बात की जाच-पड़ताल करने और उसके बाद यह फैसला करने का नही है कि आग लगाई किसने? अभी तो आग लगी हुई है, उसे बुझाना है। सवाल इस राष्ट्र के अस्तित्व का या उस राष्ट्र के अस्तित्व का नही है, सवाल है सभ्य मानव जीवन और जगली जानवरो के वहशीपन में से एक को चुनने का। खुदा के वास्ते, इस मुल्क के सभ्य जीवन की नींव को जड-मूल से खोदने की कोशिश को रोकिये, जो कि आज की जा रही है।"

इस भाषण का पूरा महत्त्व तभी समझा जा सकेगा जबकि हम किसी भी पार्टी का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी भी दूसरे व्यक्ति द्वारा किसी भी सम्मेलन मे या बातचीत के दौरान कही गई बातो के साथ इस भाषण का मिलान करके देखें; या यह याद रखें कि, एक प्रकार के वक्तव्य के अनुसार कांग्रेस और

मुस्लिम लीग विफल हो गए, और एक दूसरे वक्तव्य के अनुसार कलकत्ते वाला 'हत्याकाड' घटित हो चुका था और, उसके प्रतिक्रिया स्वरूप, बबई, नोआखाली, बिहार और पंजाब में होनेवाली घटनाओं के रूप मे जीवन का प्रचंड और अधाधुध हनन हो रहा था। वे सभी लोग, जो कि एक न्यायपूर्ण और युक्ति-युक्त समझौते के लिए युक्तिसगत रियायतें देने को तैयार थे, निराश हो गए थे। एक शिक्षक के नाते डा. ज़ाकिर हुसैन ने गहरी निराशा मे अपनी आखिरी अपील की थी। जामिया के दफ्तर का, अपने सफर का और समितियो की बैठकों में शामिल होने का अपना दायित्व वे अब भी पूरा कर रहे थे। मगर वह हतोत्साह हो गए थे, और उदासीन। वह स्वीकार तो नही करना चाहते थे, मगर वह बीमार भी थे। उनका मधुमेह रोग, जिससे वह एक साल से भी ज्यादा वक्त से पीड़ित थे, उनकी शक्ति को चूसे ले रहा था। कुछ दिन के लिए कही जाकर वह आराम करना चाहते थे, लेकिन अपने कार्यक्रम मे वह उसे कही भी बिठा नही पा रहे थे, क्योंकि उसे तैयार करनेवाले वह नही दूसरे ही लोग थे। आखिरकार, स्वाधीनता दिवस और ईद के बाद, उन्होंने कश्मीर जाने का फैसला कर लिया। पजाब मे साप्रदायिक रक्तपात शुरू हो चुका था और रेल-गाड़ियों मे होने वाली हत्याओ की खबरें अखबारो में दहशत पैदा करने वाली तेजी के साथ आने लग गई थीं। उन्होंने इन सबकी उपेक्षा की, और अपने सहयोगियों और मित्रों के अनुरोध को भी ठुकराकर 21 अगस्त को सवेरे मजूर नाम के एक नौकर लड़के के साथ दिन की गाड़ी से दिल्ली रवाना हो गए।[1] वह दूसरे दरजे मे सफर कर रहे थे, और बगल वाले पहले दरजे के एक डब्बे मे, अपने नौजवान बेटे के साथ, जलधर का एक दौलतमंद आदमी फ़ज़ले हक सफर कर रहा था। गाड़ी हर स्टेशन पर 'लेट' होती चल रही थी, और डा. ज़ाकिर हुसैन इतने बेचैन हो उठे थे कि गाड़ी के रुकते ही हर बार वह यह देखने के लिए उतर जाते कि गाड़ी रुकी क्यों। उसी गाडी से हरबसलाल कपूर नाम का एक रेलवे अधिकारी भी सफर कर रहा था, जो डा. ज़ाकिर हुसैन को जानता तो नही था लेकिन उनकी शक्ल सूरत से प्रभावित हो गया था। एक स्टेशन पर उसने मजूर से दर्याफ्त किया कि उसके यह मालिक हैं कौन, और जब उसने

[1]परवर्ती विवरण मुझे मजूर से सुनने को मिला, जो अब जामिया मिल्लिया मे चपरासी है।

बताया कि यह डा. जाकिर हुसैन हैं, तो वह भी उन पर निगरानी रखने के लिए हर स्टेशन पर उतर पड़ता। लुधियाना मे डा जाकिर हुसैन यह जानने के लिए स्टेशन मास्टर के पास जा पहुचे कि पठानकोट के लिए वहा से कोई और गाड़ी है या नही। स्टेशन मास्टर के दफ्तर मे कुछ और लोग भी थे, और उनके घुसते ही वे सब अजीब ढग से उनकी ओर ताकने लगे। उनके पूछने पर स्टेशन मास्टर ने बताया कि कोई गाडी वहा नही जा रही, और उनके नजदीक ही खड़ा एक दूसरा आदमी उनके कान मे ऊची आवाज मे कह उठा, "इन्हे जलधर तक जाने दीजिये न।" जब डा जाकिर हुसैन अपने डब्बे मे वापस आए तो फजले हक भी, जो बहुत शराब पी चुका था और मुश्किल से खडा रह सकता था, उन्ही के साथ आ गया, और जलधर सिटी तक दोनो ने एक साथ सफर किया। यहा उन्होने स्टेशन को वीरान पाया, सिर्फ कुछ हथियारबद गोरखा सिपाही प्लेट-फार्म पर टहल रहे थे। फजले हक को और आगे नही जाना था, और चूकि गाड़ी भी और आगे नही जा रही थी, इसलिए डा. जाकिर हुसैन ने अपना भी असबाब निकलवा लिया। फजले हक यह कहकर उनसे अलग हो गये कि वह फोन करके अपनी कार मगा लें। अपने घर पर वह फोन नही मिला सके, लेकिन उनके वापस लौटने से ठीक पहले एक लबा-चौड़ा हट्टा-कट्टा आदमी जाघिया-कमीज पहने कुछ नौजवानो के साथ आकर डा जाकिर हुसैन के नजदीक खड़ा हो गया, और उस असबाब पर एक नजर डालने के बाद पजाबी मे बोला, "ले जाओ यह असबाब।" वे नौजवान उस असबाब को उठा ही रहे थे कि फजले हक वापस आ गए और कड़ककर बोले कि उस असबाब से वे लोग हाथ भी न लगाए। उस तगडे लीडर ने फजले हक को एक धक्का देकर हटा दिया और फिर बोला, "ये असबाब ले जाओ। फजले हक ने तैश मे आकर उस आदमी को एक जोर का थप्पड़ मार दिया। इस पर उस आदमी ने गोरखा सिपाहियो को गोली चलाने का हुक्म दिया। उन्होंने भी डा. जाकिर हुसैन और फजले हक की ओर अपनी बदूको का निशाना बिठाया। डा. जाकिर हुसैन के सामने जो गोरखा खड़ा था, मजूर झपटकर उसके सामने आ गया और बदूक की नली अपनी ओर घुमा दी। किसी वजह से गोरखो ने गोली नही दागी, लेकिन जब ध्यान उन लोगो की ओर बट गया था, वह असबाब उठा लिया गया। रेलवे अधिकारी कपूर यह सब देख रहा था और वह दौड़ा-दौड़ा स्टेशन मास्टर के पास पहुचा और बताया कि

डा. जाकिर हुसैन कौन हैं और उनकी जान पर क्या खतरा है। स्टेशन मास्टर बाहर आया और डा. जाकिर हुसैन और फजले हक को अपने दफ्तर में ले गया। लेकिन चलने से पहले डा. जाकिर हुसैन ने उन सिपाहियों की ओर मुखातिब होकर उनसे पूछा कि क्या वे जानते हैं, वे क्या कर रहे हैं? उनका काम है मुसाफिरों की हिफाजत करना, न कि उन्हें धमकाना। सिपाहियों के कानों में मानो कुछ जा ही नहीं रहा था। स्टेशन मास्टर के दफ्तर में दिल्ली में आए कुछ सिख थे। उन्होंने डा. जाकिर हुसैन को पहचान लिया, और उनमें से एक ने उन्हें सलाह दी कि वे स्टेशन से बाहर न जाएं, क्योंकि बाहर जाना उनके लिए खतरनाक होगा। इस पर स्टेशन मास्टर ने उनको और उसके साथियों को अपने दफ्तर से निकल जाने के लिए कहा। इस बीच कपूर को, जो स्टेशन के आसपास मदद की तलाश में घूम रहे थे, एक नौजवान सिख अफसर, कैप्टेन गुरदयालसिंह, दिखाई पड़ गये और उन्होंने उन्हें डा. जाकिर हुसैन के बारे में बताया और मदद करने को कहा। गुरदयालसिंह उनके साथ स्टेशनमास्टर के दफ्तर में आए। उन पर नजर पड़ते ही डा. जाकिर हुसैन फिर भड़क उठे और अपने प्रारंभिक कर्त्तव्यों की बुरी तरह अवहेलना करने के लिए उन्हें फटकारने लगे। आखें नीची किये गुरदयालसिंह चुपचाप उनकी फटकार सुनते रहे, और फिर किसी सुरक्षित स्थान पर उन्हें ले जाना चाहा। मगर असबाब के बारे में तो कुछ करना ही था। गुरदयालसिंह ने गोरखा सिपाहियों को दफ्तर के सामने घेरा डालने का और किसी को भी अंदर न घुसने देने का हुक्म दिया, और फिर उस असबाब को ढूंढने निकल पड़े। कुछ ही देर बाद लौटकर उन्होंने बताया कि उसका कहीं पता नहीं चल सका, और डा. जाकिर हुसैन और फज़ले हक से कहा कि उसकी फिक्र छोड़ वे लोग उनके साथ हो लें। ज्यों ही वे लोग बाहर आए, गुरदयालसिंह के हुक्म और धमकियों की परवा न कर लोगों ने उन्हें घेर लिया; किसी ने फ़ज़ले हक की जेब से उनका बटुआ निकाल लिया जिसमें 300 रुपये थे, किसी ने मंजूर से उसकी कलम छीन ली। जब तक वे लोग गुरदयालसिंह के फौजी ट्रक तक पहुंचे तब तक उन्हें घेरने वाली भीड़ बहुत बढ़ चुकी थी और इस बात का खतरा पैदा हो गया था कि वे लोग उन्हें नहीं जाने देंगे। गुरदयालसिंह ने ड्राइवर से, जो हथियारबंद था, और उसके पास बैठे हुए एक सिपाही से, अपनी बंदूकें भरकर पीछे आकर खड़े हो जाने के लिए कहा, और वह खुद भीड़ से बात करने के लिए

उनकी ओर मुड़े। भीड़ ने मांग की कि जिन आदमियों को वह बचा रहे हैं उन्हें उनके हवाले कर दें, उन्होंने जवाब दिया कि उन्हें किसी सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का वह वचन दे चुके हैं और उसे वह भंग नहीं करेंगे। तब उनसे कहा गया कि उन लोगों को स्टेशन से कुछ दूर ले जाकर वह उनके हवाले कर दें। गुरदयालसिंह राजी नहीं हुए। "उस दढ़ियल को आप ले जा सकते हैं", भीड़ में से लोग चिल्ला उठे, "दूसरा शख्स तो जालंधर का ही है, उसे आप हमें क्यों नहीं देते?" आखिर गुरदयालसिंह को कहना पड़ा कि अगर ये लोग ट्रक के ज्यादा नजदीक आए तो उन्हें गोली चलाने का हुक्म देना पड़ेगा, और तब जाकर ये लोग वहां से रवाना हो गये। सड़कों पर, रास्ते भर, मकानों से लूटे हुए माल को ले जाते आदमी और लड़के मिले। स्टेशन से कोई एक मील जाने पर जब ये लोग एक बड़ी हवेली के सामने से गुजर रहे थे तो फजले हक ने ड्राइवर को रुकने के लिए आवाज लगाई, क्योंकि यह मकान जस्टिस बेदी का था जिन्हें वह बखूबी जानते थे। ट्रक रोक दिया गया, लेकिन गुरदयालसिंह ने डा. जाकिर हुसैन और फजले हक से तब तक रुकने के लिए कहा जब तक कि यह ठीक पता न लगा लें कि मकान जस्टिस बेदी का ही है और वह खुद घर पर हैं। शीघ्र ही जस्टिस बेदी नंगे पावों दौड़ते हुए मकान से बाहर निकल आए और डा. जाकिर हुसैन और फजले हक को अंदर लिवा ले चले। आश्वस्त हो चुकने के बाद ही गुरदयालसिंह अपना ट्रक लेकर वापस गये।

डा. जाकिर हुसैन वापस लौट कर प्रधान मंत्री और सरदार पटेल को जलंधर की स्थिति से वाकिफ कराने के लिये बहुत ही बेचैन थे। रात तो उन्होंने जस्टिस बेदी के घर पर किसी तरह काट दी, लेकिन अगले दिन सुबह होते ही वह दिल्ली लौटने के लिये जिद करने लगे। जस्टिस बेदी और मजूर ने आग्रह किया कि या तो वह हवाई जहाज से जाएं और या तब तक इंतजार करें जब तक कि रेल का सफर खतरनाक न रह जाए। लेकिन वह किसी तरह नहीं माने। आखिर जस्टिस बेदी को उन्हें हथियारबंद पहरे के अंदर जलंधर छावनी के स्टेशन तक भेजना पड़ा, और वहां भी उनके डब्बे पर गाड़ी छूटने तक पहरा रहा। लेकिन लुधियाना में गाड़ी छह घंटे रुकी रही। डा. जाकिर हुसैन खीजते जा रहे थे। मजूर के अनुरोध पर वह खिड़की के पास वाली जगह से तो हट कर बैठ गए, लेकिन फिर इतने बेचैन हो उठे कि प्लेटफार्म पर उतर आए। मजूर ने, जो बराबर उन्हीं के

पास खड़ा रहा, फिर उसी तगड़े आदमी को उन्हीं 'वालंटियरों' के साथ देखा जो जलंधर में प्लेटफार्म पर चक्कर लगाते रहे थे और उनका असबाब उठा ले गए थे। साफ था कि वे जलंधर जानेवाली अगली रेलगाड़ी के मुसलमान मुसाफिरों को पहचानने के लिये ही लुधियाना आए थे ताकि जलंधर पहुंचने पर उनका सफाया कर डालें। कुछ स्थानीय मुसलमानों ने डा. ज़ाकिर हुसैन को देख उन्हें आगे न जाने की और लुधियाना में ही उनके साथ रुक जाने की सलाह दी। तभी न जाने कैसे और कहां से आकर एक बहुत ही काला नौजवान अचानक डा. ज़ाकिर हुसैन के पांवों पर गिर पड़ा। उन्होंने उस नौजवान को उठाया और पूछा कि वह कौन है। नौजवान ने बताया कि वह एक शरणार्थी है जो लाहौर से आ रहा है और उसके पिता जामिया मिल्लिया में पढ़े थे; अब वह बिलकुल ही निराश्रय था, लेकिन अगर वह उनके किसी काम आ सका तो इसे अपना सौभाग्य मानेगा। कुछ ही देर बाद वे नौजवान सिख जो जलंधर सिटी स्टेशन पर स्टेशन-मास्टर के दफ्तर में उनसे मिले थे, इसी गाड़ी से उन्हें सफर करते देख, उनकी हिफाजत करने के लिये आ पहुंचे। वे लोग अंबाला तक उनके साथ रहे, जिसके बाद तब तक कोई खतरा नहीं पैदा हुआ था।

दिल्ली स्टेशन पर डा. ज़ाकिर हुसैन सवेरे तीन बजे पहुंचे। उन्होंने कार्यालय की गाड़ी के लिये मंज़ूर को जामिया मिल्लिया फोन नहीं करने दिया क्योंकि इससे वहां बेकार के लिये फिक्र हो जाती, और 'वेटिंग रूमों' (प्रतीक्षालयों) की ओर चल पड़े कि कहीं जगह मिले तो बैठ जाएं। सभी कमरे भरे हुए थे; 'वेटिंग रूम' के चौकीदार ने कहा कि बरामदे में कहीं बिस्तरा खोल कर बिछा लें, लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन के पास बिस्तरा अब कहां था! उन्होंने उससे दर्याफ्त किया कि नजदीक कहीं क्या कोई सस्ता-सा होटल होगा। चौकीदार ने एक होटल का नाम बताया। डा. ज़ाकिर हुसैन वहां जा पहुंचे और उन्हें एक ऐसी कोठरी मिली जिसमें न कोई पंखा था और न हवा के लिये खिड़कियां ही। उन्होंने मंज़ूर को यह देखने के लिये छत पर भेजा कि वहां जगह हो तो वहीं जा सोएं। पता चला कि वहां न सिर्फ जगह है, बल्कि एक खाट भी है। लेकिन जब वह और मंज़ूर ऊपर पहुंचे तो देखते क्या हैं, सारी छत बकरियों से भरी है। मंज़ूर ने उन्हें एक ओर को खदेड़ दिया, और डा. ज़ाकिर हुसैन खाट पर लेट रहे। ओखला जाने वाली पहली बस लेकर वह उसके 'टर्मिनस' पर उतर गए और वहां

से खेतो के रास्ते घर पहुंचे ताकि कोई उन्हे देख न पाए।

उसी दिन या अगले दिन उन्होने प्रधान मंत्री और सरदार पटेल से मुलाकात की और जो कुछ हुआ था और जो कुछ उन्होने देखा था उससे उन्हे वाकिफ किया। उनके लिये यह एक बिलकुल ही नई जानकारी थी और एक भारी सदमा भी। अगले दिन ही प्रधान मंत्री हवाई जहाज से जलधर जा पहुंचे, और उनकी उस यात्रा की वजह से ही आम लोगो को यह पता चल सका कि एक कितनी बडी दुर्घटना होने से रह गई। लेकिन खून-खराबी, तकलीफ और शोक इतने बड़े पैमाने पर था कि एक घटना का असर कब तक रह सकता था? हिंसा की आग दिल्ली की ओर फैलती जा रही थी और उसके साथ ही साथ मानव भावनाओ का लोप होता जा रहा था, और उसे रोकने या उसकी गति धीमी करने के लिये कुछ भी नही किया जा सकता था।

कुछ आराम कर सकने की जब गुंजाइश नही रह गई तो डा जाकिर हुसैन मेरे घर आ छिपे। मैं तब बाहर लखनऊ था। मजूर पिछवाडे वाले दरवाजे से उनके लिये खाना लाता था, और कितने ही लोगो को उनकी तलाश रहने पर भी, उनका ठौर-ठिकाना किसी को नहीं मालूम हो पाया। लेकिन तभी दिल्ली मे भी दगे शुरू हो गए, और जामिया मिल्लिया के इर्द-गिर्द के गावो मे बाकायदा लूटपाट और मारकाट चल पडी। यह सारी कारगुजारी गाव वालो की कतई नही थी जिनके साथ जामिया के ताल्लुकात बडे ही दोस्ताना थे, बल्कि बाहर वालो के सुसगठित गिरोहो की थी जिनके हाथो हिंदू गाव वालो की भी दुर्गति ही होती अगर वे अपने मुसलमान पडोसियो को बचाने के लिये कुछ करते। शफीकुर्रहमान किदवई, जिनका सामाजिक शिक्षा और सामुदायिक केंद्र वाला छोटा-सा सगठन, और करौलबाग स्थित जिनके क्लब, अच्छा काम कर रहे थे, और हामिद अली खा, जो जामिया के मकतबा (प्रकाशन विभाग) के इनचार्ज थे, मुश्किल से अपनी जान बचा पाए। इन सारी खबरो ने डा जाकिर हुसैन को अपना एकातवास छोड़ बाहर निकल आने के लिये मजबूर कर दिया। और जब एक बार वह मैदान मे आ गए तो उनकी सारी मायूसी और सुस्ती गायब हो गई। जामिया की छोटी-सी जमात मे उन्होने विश्वास और साहस भर दिया, और अपनी स्त्रियो और बच्चों की रक्षा करने के लिये उन्हे संगठित कर डाला। गावों से भाग कर आने वाले मुसलमान शरणार्थियो को ठहराने का और पुरान किले

और हुमायू के मकबरे के शिवरों मे उन्हे पहुचाने का इंतजाम किया गया। बहुत-कुछ डा जाकिर हुसैन की वजह से, स्वाधीन भारत की सरकार और दिल्ली प्रशासन ने, जामिया मिल्लिया और ओखला पर हिफाजत की नजर रखी। एक रात काफी देर से डिप्टी कमिश्नर एम. एस. रधावा मुआइना करने के लिये आ पहुंचे और करीब एक दर्जन बदूको के लाइसेंस दे गए। एक रोज आधी रात को प्रधान मंत्री आ पहुचे, हिफाजत के लिये किये गए इतजाम का उन्होंने निरीक्षण किया और सुबह होने के कुछ पहले तक वही बने रहे। प्रधान सेनाध्यक्ष जनरल करियप्पा मद्रास रेजिमेंट के एक प्लेटून को, जो ओखला रेलवे स्टेशन पर फसा पड़ा था, ले आए और जामिया की बस्ती के लिये फौजी पहरे का इतजाम कर दिया। दिल्ली स्टेशन पर उतरते ही गाधी जी ने सबसे पहला सवाल यही किया था, "जाकिर हुसैन तो सही-सलामत है? जामिया तो सही-सलामत है?" अगले दिन वह खुद अपनी तसल्ली करने आ पहुचे। बाद को, इन दिनो का एक विवरण देते हुए, डा. जाकिर हुसैन ने उस दिन गाधी जी के आने की बात का बड़ा मार्मिक शब्दों में उल्लेख किया था :

"कार के दरवाजे मे उनकी उगलिया कुचल गई थी और उन्हे सख्त तकलीफ थी। इसके बावजूद वह हस रहे थे और दूसरो को भी हंसा रहे थे, हम सबका साहस बढा रहे थे और अपनी प्रकृति की पूरी गभीरता के साथ यही सलाह दिये जा रहे थे कि हम जहा हैं वही रहे जाएं। माध्यमिक स्कूल के चबूतरे पर जाकर उन्होंने मुसलमान शरणार्थियो से बात की, और एक यतीम बच्ची को अपनी गोद मे लेकर उसे छाती से लगा लिया और चूमा। फिर वह यह कह कर चले गए कि हम लोगो की हिफाजत के लिये जो कुछ भी जरूरी होगा वह करेंगे, नही तो खुद खत्म हो जाएगे। जामिया मे बापू का वह आना आखिरी था।

"बरज़मीं के निशाने क़फ़े पाए तो बुवद
सालहा सिजदए साहेब नज़रां ख्वाहद बुवद।"

यानी—जिस जमीन पर तेरे पाव का निशान मौजूद है उस पर सालों तक समझदार लोग सिर झुकाएगे।

हिफाजत के लिये किये जाने वाले बदोबस्त के बारे मे ज्यों ही डा. जाकिर हुसैन को इतमीनान हो गया, वह उन कामो मे हाथ बंटाने के लिये शहर जाने लग गए जो लोगों को बचाने, उन्हे दूसरी जगह ले जाने और उनकी हिफाजत

के लिये जरूरी थे। उनका मुख्यालय एक सेवानिवृत्त इंजीनियर एम. ए. अब्बासी का मकान था, जहा नई-नई समस्याओ पर विचार करने के लिये एक अर्ध-सरकारी समिति की बैठकें होती थी। जामिया के स्टाफ के कुछ सदस्यों ने, जिनमे प्रमुख थे शमसुर्रहमान मोहसिनी, प्रो मुहम्मद आकिल, अख्तर हसन फारूकी और अब्दुर्रज़ाक, हुमायू के मकबरे वाले शरणार्थी शिविर मे लोगो को ठहराने और उनके खाने-पीने का इतजाम अपने हाथ मे ले रखा था। अक्तूबर और नवबर मे डा जाकिर हुसैन और एम. ए अब्बासी ने निष्क्रात सपत्ति अभिरक्षक जे. एम लोबो प्रभु के मुस्लिम सलाहकारों के रूप मे काम किया। अन्य सलाहकार थे श्रीमती सुचेता कृपलानी, सर शोभासिंह और रघुनदन शरण। लोबो प्रभु तथा उनके सलाहकारो को जो काम करने पड़ते थे वे नाजुक और खतरनाक थे। जो मुसलमान दिल्ली मे रह गए थे उनकी सपत्ति को शरणार्थियो के कब्जे से छुडा कर उन्हे वापस दिलाना, आने-जाने वाले शरणार्थियों द्वारा उन पर दखल जमाने की नई कोशिशों को रोकना, और निष्क्रातो की भूमि तथा सपत्ति को जरूरतमंद शरणार्थियो के बीच बाटना। दिल्ली मे इस प्रकार की भूमि तथा सपत्ति की सख्या करीब 5,000 थी, और आवेदकों की सख्या, जिनमें से अधिकाश अपनी सुधबुध खो बैठे थे और किसी की कुछ सुनने को तैयार नही थे, लगभग 50,000। अभिरक्षक के स्टाफ के कर्मचारियो की नियुक्ति शरणार्थियो मे से ही की गई थी जिन्हें कि रोजगार देना था, और कभी-कभी तो सलाहकारों के बीच भी गहरे मतभेद पैदा हो जाते थे। अभिरक्षक के दफ्तर पर सदा ही घेरा पड़ा रहता था। लोबो प्रभु ने मुलाकात करने पर मुझे एक सिख शरणार्थी के बारे मे बताया, गैरकानूनी तौर पर एक मकान पर कब्जा कर लेने के बाद उसे जब उससे निकाल बाहर किया गया था तब वह एक 'कृपाण' लेकर उनसे बदला लेने आ पहुंचा था। डा ज़ाकिर हुसैन और सर शोभासिंह ने बडी मुश्किल से उसे रोका। डा. जाकिर हुसैन की निष्पक्षता के एक दृष्टात के रूप मे लोबो प्रभु ने 10, कर्जन रोड के मालिक की बात बताई जो पाकिस्तान चले जाने के बाद फिर लौट आया था। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसे निष्क्रात ही घोषित किया। लोबो प्रभु के इस्तीफे की सनसनीदार वजह थी सर दातार सिंह और लियाकत अली खा के बीच भूमि व सपत्ति की अदलाबदली के बारे मे हुए व्यक्तिगत समझौते का वैध न माना जाना। कानून के आधार पर यह अदलाबदली जायज नही

थी, और लोगों प्रभु को, उस वक्त भी और बाद को भी जब कि जांच का काम हुआ, डा. ज़ाकिर हुसैन का पूरा समर्थन मिला।

लेकिन, जहां तक कि भविष्य का सवाल था, सबसे महत्त्वपूर्ण काम तो शरणार्थियों और मुसलमानों को एक दूसरे को अपनाने और एक साथ शांतिपूर्वक भाइयों, दोस्तों और साथियों की तरह रहने के लिए तैयार करना था। यही उस रेडियो वार्ता का शीर्षक था जिसे डा. ज़ाकिर हुसैन ने सितंबर में प्रसारित किया था, जब दिल्ली में स्थिति सबसे ज्यादा खराब थी और जब कि एक ही देश में पैदा होते जाने वाले और रहने वाले मनुष्यों के प्राकृतिक संबंधों को अस्वीकार किया जा रहा था।

"हां, आप कह सकते हैं कि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है। वह पत्थर नहीं है, और न कोई पेड़ या पौधा या जानवर ही, जो ठीक वैसा ही बना रहे जैसा कि प्रकृति ने उसे गढ़ दिया। आदमी आदमी है; वह अपनी दुनिया को खुद ही गढ़ता है और खुद ही बिगाड़ भी डालता है। यह सही है। यही वजह है कि आप लोगों को 'दोस्त' कह रहा हूं। एक ही देश में आपको और मुझको रख कर प्रकृति ने भाई-भाई नहीं बनाया है। हम लोग अपनी स्वतंत्र इच्छा से ही सदियों से एक साथ रहते आ रहे हैं, एक-दूसरे के सुख-दुख में हिस्सा बंटाते आए हैं, एक-दूसरे के प्रति मेहरबान रहे हैं, एक-दूसरे के दोषों को हमने नजरदाज किया है, एक-दूसरे की अच्छाई ही हमने देखी है, एक-दूसरे से हम सीखते आए हैं और एक-दूसरे को सिखाते भी आए हैं, और एक-दूसरे की कमियों को हमने पूरा किया है। हम एक दूसरे के कंधे से कंधा भिड़ा कर काम करते आए हैं, एक-दूसरे को परखते और समझते आए हैं; प्यार किया है, निष्ठा से उत्पन्न दायित्वों को निभाया है, एक-दूसरे के दिल और आत्मा में घुलमिल गए हैं; गुलामी की अंधेरी रात हमने इन्हीं ताल्लुकात की टिमटिमाती रोशनी में गुजारी है। अब जब कि आजादी का सूरज निकला है, हमारे दिल क्यों जुदा हो रहे हैं, हमारी आंखें क्यों एक-दूसरे को पहचानने से इंकार कर रही हैं? दोस्तो। दोस्ती के कायदों पर चलो, दोस्तों को दुश्मन न समझो, पल भर के आवेश में आकर सदियों पुरानी दोस्ती को मत उखाड़ फेंको। यही सोचो कि जिन पर पागलपन सवार हो गया है उन्हें इस मर्ज से किस तरह छुटकारा दिला सकते हो; वे भी तुम्हारे भाई हैं, वे भी तुम्हारे दोस्त बन जाएंगे। उनसे दोस्ती और निष्ठा की ऐसी गारंटी मत मांगो जो सिर्फ

दुश्मनो से मांगी जाती है. अपनी दोस्ती से ही निष्ठा की नीव को पक्का कर दिखाओ। दोस्ती एक ऐसा पौधा है जो शक और शुबहा, अविश्वास और नफरत की मिट्टी में अपनी जड़े नही जमा सकता। प्यार करो और एतबार करो, मानव प्रकृति मे विश्वास रखो, फिर देखो कि दोस्ती का यह पौधा किस तरह पनपता है, किस तरह उसके फूल प्रतिशोध और विद्वेष के वातावरण को अपनी खुशबू से सुगधित कर देंगे, किस तरह उनके रगों की बहार आसपास की गंदगी को खत्म कर देगी। भाइयो। दोस्ती बढाओ, उसके सिद्धातो पर चलो, उसके तकाजो को पूरा करो और दूसरो से भी वैसा करने को कहो।"

जामिया मिल्लिया का काम जैसे ही फिर से शुरू हुआ उसने अपने दरवाजे शरणार्थी बच्चो के लिए खोल दिए। शफीकुर्रमान किदवई, धीरज के साथ अपने प्रयत्न किए जा रहे थे, और उस दिन के इतजार मे थे कि उनका कुछ तो नतीजा निकले और मेलजोल की दिशा मे एक भी कदम तो आगे उठे, और 10 जनवरी, 1948 को कही जाकर पडोस के बाड़ा हिंदू राव के शरणार्थी बच्चो और उनके माता-पिताओ को वहां स्थापित सामुदायिक केंद्र मे आकर, जो अब शफीक स्मारक स्कूल बन गया है, मुसलमान बच्चो और उनके माता-पिताओ से मिलने और उनके साथ बैठ कर फल और मिठाइया खाने के लिए आमत्रित किया जा सका।

13 जनवरी को डा ज़ाकिर हुसैन ने गाधी जी के उपवास से सबधित एक वक्तव्य उनके नाम प्रकाशित किया

"हमे इसमे सदेह नही है कि आप किसी ऊचे विचार से प्रेरित हैं, और अपने देशवासियो की हृदय की शुद्धि के लिए उन्हे प्रोत्साहित करने का आपने बिलकुल सही वक्त चुना है। ईश्वर ने आपको वह शक्ति और आत्मविश्वास दिया है जो विफल नही होता, और एक ऐसी आस्था भी जिसे विपरीत परिस्थितिया डिगा नही सकती। ईश्वर आपके साथ है और आपकी सफलता सुनिश्चित है। हमारे सिर शर्म से झुके हैं कि स्वाधीन भारत के पास कटुता और व्यथा को छोड आपको भेंट चढाने के लिए आज और कुछ भी नही है।...परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको वक्त दे, ताकि आप हमें उस ओर भी ऊची स्वाधीनता की ओर ले जा सकें जिसके लिए आप प्रयत्न करते रहे हैं और जिसके काबिल हमे आप, हमारे सारे अधेपन और कुकृत्यों के बावजूद, अब भी मानते हैं। अगर हमारे

अंदर कोई बात तबदीली ला सकती है तो आपकी यह आस्था ही कि हमारे अंदर की ऊंची से ऊंची भावना जाग्रत होनी चाहिए, और वह जाग्रत होकर ही रहेगी।"[1]

गांधी जी के उपवास के बाद तनातनी मे स्पष्ट कमी दिखाई देने लगी, लेकिन साम्प्रदायिक घृणा के दानव को शात करने के लिए उनके जीवन की ही बलि होना पड़ा।

30 अक्तूबर, 1948 को होने वाली जामिया मिल्लिया के अंजुमन (कोर्ट) की बैठक मे डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपनी रिपोर्ट का अंत इस अनुरोध के साथ किया कि शैखुल जामिया के पद पर उन्हें फिर से न चुना जाए।

"रजत जयंती के बाद से जामिया मे नए विभागो को खोलने की दिशा में कुछ भी नही किया गया है। जहां तक इसके लिए मेरी जिम्मेदारी थी, मैं अपना दोष स्वीकार करता हूं। आज की परिस्थितियों में, खासतौर से स्टाफ की कमी और स्थानाभाव के कारण, इसका विस्तार संभव नही दिखाई देता। जहा तक कि स्टाफ का सवाल है, वर्तमान वेतन दर पर स्टाफ मे सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति अगर असंभव नही तो कठिन अवश्य है, भले ही उन व्यक्तियो के अदर कुछ त्याग करके भी एक ध्येय की खातिर काम करने की आकाक्षा हो। दूसरे, मैं यह भी महसूस करता हूं कि हमारी जमात नए लोगो को अपने बीच खपाने की क्षमता खोती जा रही है, शायद अपने पिछले त्यागो की वजह से अपने को ऊचा मान बैठ लेने से, और या उस संस्था के भविष्य के बारे मे वस्तुनिष्ठ ढंग से न सोच सकने के कारण···

"पच्चीस साल से चले आने वाले एक अभ्यास के कारण मेरे अंदर सरकार से कुछ भी मागने मे स्वभावत एक झिझक है। लेकिन जब मैंने देखा कि मेरे सहयोगी यह चाहते हैं कि स्टाफ के वेतनो को बढाने के लिए सरकार से सहायता मागी जाए और इस तरह की मांग को स्वीकार करने के लिए कुछ जिम्मेदार सरकारी अधिकारियो को भी मैंने तैयार पाया, तो मैंने मौलाना आज़ाद के साथ सलाह करके शिक्षा मत्रालय को लिखा···लेकिन एक साल गुजर गया है, फिर

---

[1]प्यारेलाल, 'महात्मा गाधी—दि लास्ट फेज़' (महात्मा गाधी, अतिम अवस्था), खंड 2, 1968 वाला सस्करण, पृ. 712।

भी अभी तक कुछ नही हुआ है। शायद सरकारी काम का तरीका यही है; यह भी हो सकता है कि मेरा कही असर न होने की वजह से यह बात हो, या यह भी संभव है कि इस मामले की सुनवाई कराने मे मेरी ही ओर से ढिलाई हुई हो...

"आखिर मे मैं आपसे एक व्यक्तिगत अनुरोध करने की इजाजत चाहूंगा।...मैं एक ऐसा शख्स हू जिसकी सामर्थ्य बहुत ही सीमित है, और जामिया मिल्लिया के भविष्य के बारे मे मेरे कम-उम्र सहयोगियो के अदर जो ऊंची आकांक्षाए हैं उनकी पूर्ति के लिए मैं अपनी सामर्थ्य को अपर्याप्त मानता हूं। फिर, परिस्थितियों ने मुझे दूसरे तरह के कामो मे भी उलझने के लिए बाध्य कर दिया है...जिन्हे कि कुछ कारणो से मैं जारी रखना चाहता हूं।...मैं अब तक इसी भ्रम मे था कि बाहर मैं जो कुछ करता आया हूं। उससे भी अप्रत्यक्ष रूप मे जामिया की ही सेवा करता रहा हूं। इसकी वजह से अगर मैंने जामिया की प्रत्यक्ष सेवा के लिए कम ध्यान या शक्ति दी है तो इसका एक अच्छा नतीजा यह होगा कि जो लोग जामिया का काम करना चाहते हैं वे उस वक्त के लिए तैयार हो जाएगे जब कि स्वेच्छा से या अनिच्छापूर्वक मैं इसके साथ अपना नाता तोड़ लू। मगर देखता हूं कि ऐसा हो नही रहा है। बल्कि, मेरे बाहर वाले काम से बेचैनी और असतोष बढ़ रहा है। इस बात को मैं जल्द ही इसलिए कहे दे रहा हू ताकि रचनात्मक चिंतन के लिए रास्ता खुल जाए..."

मैं अपने अनुभव के आधार पर इस बात की तसदीक कर सकता हूं कि जामिया मिल्लिया के 'पुराने लोग' सभी नवागतुको के विरोधी थे, और यह भी कह सकता हूं कि नया खून डाले बिना जामिया मिल्लिया का न तो सुधार ही हो सकता था और न विस्तार ही। इस नए खून को लाने के लिए साधनों की जरूरत थी, और सहायता के लिए दी जाने वाली दरख्वास्तों मे से अधिकाश को चूकि मैंने ही तैयार किया था और बाद की कार्रवाइयो के सिलसिले मे भी मैं ही लोगो से मिलता-जुलता रहा था और तकाजे करता रहा था, इसलिए इस बात की भी मैं तसदीक कर सकता हूं कि डा. जाकिर हुसैन के शेखुल जामिया होने से भारत सरकार के शिक्षा मत्रालय के रूप मे कोई फर्क नही पडा था, हालाकि शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ही थे। अत मे जरूर भारत सरकार ने जामिया मिल्लिया को इस तरह की सहायता दी जिससे उसका आर्थिक सकट दूर हो गया, लेकिन आजादी के छह साल बाद जाकर ही यह हो पाया, और प्रधान मंत्री से दो-दो

शिष्टमंडलों के मिलने के बाद ही। इसकी वजह बिलकुल साफ थी। सरकार ऐसे मामलों मे तभी कुछ करती है जब कि उसे कार्रवाई करने का हुक्म मिलता है, और तत्कालीन नियमों के आधार पर किसी अधिकारी द्वारा जब तक कदम नही उठाए जा सकते, तब तक कि उच्चतर अधिकारी अथवा उच्चतम अधिकारी का दरवाजा नही खटखटाया जाता। जामिया मिल्लिया ने 1954-55 से लेकर जो सहायता प्राप्त करनी शुरू की उसकी स्वीकृति 1948-49 में ही हो गई होती अगर डा. ज़ाकिर हुसैन सीधे प्रधान मंत्री से मिल कर अपनी माग पेश करते। प्रधान मंत्री के पास 1946 में वह गए भी थे और रजत जयंती के अवसर पर अच्छी खासी सहायता मिल भी गई थी। 1948 में वह फिर यह करने के लिए तैयार नहीं थे।

इसमें ताज्जुब की कोई बात है भी नही। 1948 में डा. ज़ाकिर हुसैन, मौलाना आज़ाद और रफी अहमद किदवई के साथ-साथ, भारतीय मुसलमानो में सर्वोच्च माने जाते थे, और देश का शासन करने वालो के बहुत नजदीक। राष्ट्रीय सरकार के सामने बहुत बड़े-बड़े काम करने को पड़े थे और अपने मानव साधनो का उपयोग उसे बुद्धिमानी के साथ और अधिक से अधिक मात्रा मे करना था। लेकिन डा ज़ाकिर हुसैन ऐसे किसी भी काम के लिए उपयुक्त नही दिखाई दिए, हालाकि लोगो के नेता तथा संस्कृति के मूर्तिमान आदर्श के रूप में वह उच्चतम प्रतिष्ठा के भाजन बने हुए थे। कही न कही कोई गडबड़ी जरूर थी, वास्तविक योग्यता के प्रति किसी न किसी प्रकार दृष्टिहीनता, लोगों का चुनाव करने के बारे में कोई अनिवार्य दुविधा, या दुराग्रह या दबाव के सामने झुक जाने की कोई कमजोरी, अथवा प्रभाव अथवा सत्ता के हर पद से उन्हें अलग रखने का किसी का सुनिश्चित संकल्प।

7

पुरानी बोतल में नई शराब

यह बात निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि डा. जाकिर हुसैन को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का कुलपति बनाने का प्रस्ताव कब और किसके द्वारा रखा गया था। किंतु स्पष्ट ही वह इस पद के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति थे। खुद उन्होंने मुझे यही बताया था कि उन्हें इसीलिए राजी होना पड़ा कि उन्होंने अगर यह पद न स्वीकार किया होता तो यह एक ऐसे विशिष्ट व्यक्ति को दिया जाने वाला था जिन्हें न आखों से सुझाई पड़ता था न कानों से सुनाई देता था, और जिनकी बौद्धिक योग्यता भी कभी अधिक नहीं रही थी। डा. जाकिर हुसैन ने यह बात किसी सीधे सवाल के जवाब में नहीं कही थी, और संभव है कि यह भी उनकी वाचालता का ही नमूना हो जिसमें वह बहुत ही बढ़े-चढ़े थे। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उनसे इस पद को ग्रहण करने के बारे में पूछा गया था, और वह इस शर्त पर राजी हुए थे कि विश्वविद्यालय का 'कोर्ट' उन्हें सर्व-सम्मति से निर्वाचित करे। सरकार द्वारा नामजद होकर वह उस पद को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं थे। 'कोर्ट' की एक बैठक 28 नवबर 1948 को हुई। नवाब मुहम्मद इस्माइल खां ने, जो कि नियमित नियुक्ति के न होने तक कार्य-कारी कुलपति के रूप में काम कर रहे थे, इस्तीफा देते हुए डा. जाकिर हुसैन के

नाम का प्रस्ताव उस पद के लिए पेश किया। कोर्ट ने उनका इस्तीफा स्वीकार कर लिया और डा. ज़ाकिर हुसैन को सर्वसम्मति से चुन लिया। दो दिन बाद उन्होंने उस पद को संभाल लिया। 29 नवंबर 1951 को, 1951 के संशोधित अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिनियम के अंतर्गत, वह छह साल के लिए फिर उस पर नियुक्त हो गए।

कुलपति रहते हुए उन्होंने जिन अन्य उत्तरदायित्वों को भी निभाया उनका संदर्भ यहां दे देना उचित होगा। दिसंबर 1948 में वह भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के एक सदस्य नियुक्त हुए और अगस्त 1949 में उसकी रिपोर्ट पेश किये जाने तक इस दायित्व को निभाते रहे। 3 अप्रैल 1952 को वह राज्य सभा के एक सदस्य मनोनीत किये गए; अप्रैल 1956 में फिर उसके लिए मनोनीत हुए। अक्तूबर 1952 में वह प्रेस आयोग के एक सदस्य मनोनीत हुए और जुलाई 1954 तक उस दायित्व को निभाया। उन्हें नियुक्त या मनोनीत करनेवालों का इरादा हर बार यही था कि सर्वोत्तम व्यक्ति का चुनाव किया जाए, किंतु हमें यह भी याद रखना होगा कि सभी कार्यों को करने के लिए एक सीमा तक एकनिष्ठता की जरूरत होती है, और कोई व्यक्ति कितना भी योग्य क्यों न हो, कई कार्यों का भार उसके कंधों पर डाल देने से यह एकनिष्ठता नहीं आ सकती। डब्ल्यू. यू. एस. अर्थात् 'वर्ल्ड युनिवर्सिटी सर्विस' (विश्व-विश्वविद्यालय सेवा) के साथ उनका संबंध एक-दूसरे ही प्रकार का, और उनके लिए शायद दूसरे दायित्वों से अधिक संतोषजनक था। डब्ल्यू यू. एस. में उनकी दिलचस्पी इसीलिए शुरू हुई थी कि देश के विभाजन और स्वाधीनता के बाद भारत के कई विश्वविद्यालयों में पुनर्वास और विस्तार संबंधी प्रायोजनाओं में उसकी गहरी दिलचस्पी थी। एक संगठन के रूप में डब्ल्यू. यू. एस. की भित्ति युद्ध द्वारा पीड़ित देशों तथा विकासशील देशों के विश्वविद्यालयों की आवश्यकताओं के अध्ययन द्वारा सद्भाव, शांति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थायी नैतिक नींव पर खड़ी की गई थी। भारत में इसके काम की शुरुआत मैलकम और एलिजाबेथ आदिशेषिया[1] द्वारा

[1]मैलकम आदिशेषैया को सर जूलियन हक्सले ने बाद में यूनेस्को के स्टाफ में शामिल होने के लिये आमंत्रित किया था, और वह यूनेस्को के डिप्टी डाइरेक्टर-जेनरल (उप महानिदेशक) के पद तक पहुंच गए। वह एक विरल प्रतिभा और ऊर्जस्विता संपन्न व्यक्ति थे और लगभग दो दशकों तक एशियाई, अफ्रीकी और दक्षिण अमेरिकी देशों में उन्हीं के कारण यूनेस्को की गतिविधियों का विस्तार हुआ।

की गई थी जिनका मुख्यालय मद्रास में था। 1950 मे डा जाकिर हुसैन उसकी राष्ट्रीय समिति के सभापति चुने गए, और दिल्ली के बड़े ही कर्मठ और कल्पना-प्रवण छात्र नेता वीरेंद्र अग्गरवाला उसके प्रधान सचिव। डब्ल्यू यू एस, समितियां कई विश्वविद्यालयो मे बनाई गई और विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियो के स्थायी लाभ की कई बड़ी ही उपयोगी प्रायोजनाए शुरू और पूरी की गईं। एक-विश्व के विचार का निर्माण करने के लिए भारत तथा अन्य देशो मे अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार (विचार-गोष्ठिया) आयोजित हुए। डा जाकिर हुसैन ने भारतीय प्रतिनिधि के रूप मे तीन बार यूरोप की यात्रा की और 1956 मे हेलसिंकी मे होने वाली जनरल एसेंबली (साधारण सभा) की बैठक मे डब्ल्यू यू एस. की अतर्राष्ट्रीय समिति के सभापति चुने गए; वही एकमात्र व्यक्ति थे जिनके चुनाव पर पूर्वी और पश्चिमी गुट एकमत हो सके थे। 1957 मे, बिहार के राज्यपाल नियुक्त होने के कुछ ही काल बाद, उन्होने इस्तीफा दे दिया।

अक्तूबर 1949 मे डा. जाकिर हुसैन को दिल का बड़ा जबर्दस्त दौरा पड़ा। नागपुर विश्वविद्यालय के लिए उन्हे एक भाषणमाला तैयार करनी थी, और जैसी कि उनकी आदत थी, वे आखिर तक उसका लिखना टालते चले गए थे। मुलाकातियो से काम मे बाधा पड़ने के डर से वह प्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीकी के घर मे जा छिपे। लिखते-लिखते उन्हे ऐसे कुछ लक्षण दिखाई दिये जिन्हे वह 'कोरोनरी थोबोसिस' के लक्षण समझ गए। विश्वविद्यालय के डाक्टर को बुलवा भेजा गया, और वह ऐन वक्त पर पहुच गया जिससे उनकी प्राण रक्षा हो गई। यो तो वह करीब छह हफ्ते मे ठीक हो गए, लेकिन अगले दौरे के खतरे ने और उनके मधुमेह ने भी, जिससे वह लगभग पाच साल से पीड़ित थे, उन्हे डाक्टर की कड़ी देखरेख मे रहकर चलने के लिए मजबूर कर दिया। यह बात न सिर्फ कष्ट-कर थी, बल्कि अब वह अपने मन के मुताबिक न तो काम ही कर सकते थे, न खा-पी सकते थे।

लेकिन अलीगढ़ मे कुलपति के रूप मे उन्हे विशुद्ध रूप से जो शारीरिक सुख-सुविधाएं प्राप्त थीं उनकी जामिया मिल्लिया मे तो निश्चय ही कभी आशा तक नही की जा सकती थी। बेगम ज़ाकिर हुसैन ओखला वाले अपने घर मे जहां बकरियां पालती थीं वहां अब उनके पास एक गाय और एक भैंस थी, और जब पहलेपहल मैं उनके घर अलीगढ़ गया तो लगा कि इतने नौकरों के बीच, जब

कि उनके लिए करने को कुछ ज्यादा काम नहीं था, वह कुछ ज्यादा खुश नहीं थी। मगर वैसे पूरे परिवार ने इस नए परिवर्तन को सहज रूप मे ही स्वीकार कर लिया था। तब तक भले ही खाने पर एक साथ बैठने की आदत न रही हो, पर अब यह कुछ ज्यादा नई नहीं मालूम हो रही थी। एक बार जब एक अमेरिकी मेहमान डा. जाकिर हुसैन के यहा ठहरे तो पाखाने में 'फ्लश' वाली व्यवस्था का न होना उन्हें खल गया, जिसकी वजह से मकान मे कुछ तबदीलियां करानी पड़ गईं। जल्द ही पाखाने वगैरा, को आधुनिक रूप दे दिया गया, रहने वाले और अतिथियो वाले कमरों की सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा हो गई किताबो और 'फॉसिलो (जीवाश्मों) और कैक्टस (नागफनी) के पौधों का सग्रह और एक बागीचा भी जिसे उन्होंने खुद लगाया था, दिखाई देने लगा।

अलीगढ़ मे क्या हो रहा है इसके बारे मे उन्हें हमेशा गहरी चिंता रहती थी। इस विश्वविद्यालय के मुस्लिम लीग के प्रभाव मे आ जाने के बाद, और डा. जियाउद्दीन द्वारा 'कोर्ट' की सदस्यता से उनके वंचित कर दिये जाने के बाद भी, यह चिंता कितनी मात्रा मे बनी रही यह कहना मुश्किल है। जब जियाउद्दीन खुद भी हटा दिये गए तब ऐसा कोई भी वहां नहीं रह गया जिसे बिगड़ी हुई बातों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता, और न कोई ऐसा ही व्यक्ति रह गया जिसे सुधार की आशा करके, समर्थन दिया जा सकता। देश-विभाजन के सकट को तो यह विश्वविद्यालय किसी तरह झेल गया; स्वाधीनता के बाद भी यदि यह केवल उच्चतर शिक्षा देने वाली एक सस्था के रूप मे ही रह जाता तो भी इसका भाग्य कम-से-कम स्पृहणीय तो नहीं ही रहता। लेकिन अपने ढग की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी भारतीय मुस्लिम संस्था होने के नाते यह इस देश के मुसलमानों का एक प्रतीक भी बन गया था, उनकी प्रतिष्ठा का भी सूचक। किसी भी धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीय सरकार के लिए यह जरूरी होता कि अपनी खुद की प्रतिष्ठा के लिए और साथ ही शिक्षा के प्रसार और विद्या की उन्नति के लिए वह इसके रखरखाव और विकास के लिए पर्याप्त ध्यान दे और साधन जुटाए। मगर साथ ही, चूंकि यह एक प्रतीक के रूप में था, कुछ ध्येय और मूल्यांकन के मानदड भी आप-से-आप निर्धारित हो गए थे। एक पूरे-के-पूरे संप्रदाय को संतुष्ट रखने की बात थी और, इससे विपरीत, उस संप्रदाय को भी, इस विश्वविद्यालय के अधिकारियों के जरिये, अपने समय की सरकार को संतुष्ट रखना था—कम-से-कम राज्य के प्रति

अपनी मूलभूत निष्ठा के मामले मे। अधिकारियों की, जिनका प्रतिनिधित्व कुलपति करता था, सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि यह पारस्परिक सतोष किस सीमा तक प्राप्त होता है। कुलपति को 'नेता' बनना था, और उसका प्रभाव सरकार पर भी होना आवश्यक था और मुस्लिम लोकमत पर भी, और उसे इस तरह काम करना था कि दोनो मे से किसी एक को भी वह प्राथमिकता देता न दिखाई पड़े। उसकी सफलता इन बातो से जाची जाती कि सरकार से वह कितनी सहायता और गैर-सरकारी स्रोतो से कितना दान प्राप्त कर सका, कितने उच्चाधिकारी विश्वविद्यालय के दीक्षात भाषण देने के लिए या सम्मानिक उपाधिया प्राप्त करने के लिए आए, और विद्यार्थियो को काम और अपने सहयोगियो की महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के अवसर दिलाने के लिए वह क्या कर सका। ये सारी बातें स्पष्ट रूप से शैक्षिक महत्त्व वाली नही मानी जा सकती थी। किसी कुलपति का शैक्षिक क्षेत्र मे भी विशिष्टता प्राप्त करना आवश्यक था ताकि वह बौद्धिक कार्यकलाप को प्रोत्साहन दे सके और विशुद्ध विद्वत्ता के जगत मे अपने विश्वविद्यालय को विद्या के एक केंद्र के रूप मे मान्यता दिला सके। यही कारण था कि डा. जियाउद्दीन एक गणितज्ञ के रूप मे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति से मडित थे। दरअसल एक लबे अरसे तक तो एक शैक्षिक सस्था के रूप मे इस विश्वविद्यालय की ख्याति प्रो. एम. हबीब के ही कारण थी। डा. जियाउद्दीन के रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व ने, उनकी योग्यताओ और त्रुटियो ने, उन्हे एक ऐसे कुलपति का रूप दे दिया था जो अलीगढ के लिए उपयुक्त ही लगता था, लेकिन उन्होने अपने विरोधी भी पैदा कर दिये जिनका सामना करने के उनके तरीके कालांतर मे अधिकाधिक विफल होते गए। उनके समर्थक जहा उनको विश्वविद्यालय से अभिन्न मानने लगे थे और अपनी सारी आशाएं उन्ही पर केंद्रीभूत किये हुई थे, वहां उनके विरोधी यह मानने लगे थे कि विश्वविद्यालय को अब तभी बचाया जा सकता है जब कि वह अपने पद से हटा दिये जाए। नतीजा यह हुआ था कि तीन दशकों तक एक ऐसा सघर्ष चलता रहा जिसका चित्रण कोई ऐसा ही व्यक्ति कर सकता था जिसके अदर जार्ज इलियट, सर आर्थर कोनन डायल और मार्क ट्वेन तीनों की प्रतिभा मौजूद हो। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के मूल्य और महत्त्व के सबध मे प्रश्न उठाने वाले किसी सामान्य व्यक्ति को तो, अपने ही ढंग की पूछताछ और उनके फलस्वरूप मिले जवाबों के बाद, किसी ऐसे ही निष्कर्ष पर

पहुंचना पड़ता जैसे निष्कर्ष पर रूसी कवि तीयूतीव अपने देश के बारे में पहुंचा था :

रूस को मस्तिष्क मे नहीं पकड़ा जा सकता,
और न किसी सामान्य गज से नापा जा सकता है;
उसकी अपनी एक पृथक ही विलक्षणता है—
रूस में हम केवल आस्था रख सकते हैं।

प्राय: वे सभी लोग जिनकी शिक्षा अलीगढ में हुई है या वहां लंबे अरसे तक काम करते रहे हैं इसी आस्था को लिए हुए हैं। दूसरे लोगों को सिर्फ अचम्भा होता है। डा. जाकिर हुसैन आस्था रखने वालों मे ही थे। कुलपति के रूप में उनकी नियुक्ति की बात जब मालूम हुई तो जामिया के उनके अधिकांश सहयोगियों को या तो क्रोध आया और या उनके अंदर निराशा पैदा हो गई। वे लोग अपने और जामिया के बारे मे ही सोचते थे, और यह मान बैठे थे कि जामिया के साथ अपना संबंध वह खुद कभी नहीं छोड़ेंगे। मैं यह महसूस करता था कि जामिया को उनकी जितनी जरूरत थी उतना ही नही, उससे कहीं ज्यादा, वह उसे दे चुके थे, और अगर वह उससे मुक्ति चाहते थे तो वह उन्हे दी जानी चाहिए थी। लेकिन अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के प्रति मेरी कोई आस्था नहीं थी और इसलिए मैं उन्हें यह चेतावनी दिये बगैर नही रह पाया था कि अगर वह यह उम्मीद करके वहा जा रहे हों कि वहा उन्हें ऐसा सहयोग मिलेगा जो खुशी से दिया जाए और जिससे कोई लाभ हो, तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। उन्होंने जो भाव प्रकट किया उससे लगा कि मेरे इस रुख से उन्हें तकलीफ हुई थी और उसे उन्होंने पसंद नहीं किया था, वह बोले कि उन्हें यकीन है कि अलीगढ़ में उन्हेंकाम करने के बड़े मौके मिलेंगे। लेकिन मुझे लगा कि यह बात उन्होंने कुछ अधिक आत्मविश्वास या उत्साह के साथ नही कही थी।

लेकिन आस्था न रखने वाले को भी अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के लिए वही कसौटी रखनी होगी जो वह उन विश्वविद्यालयों के लिए रखता है जिनका कोई प्रतीकात्मक महत्त्व नहीं होता और जो विशुद्ध रूप से शैक्षिक संस्थाओं के रूप में ही होती हैं या जिन्हें वैसा होना चाहिए। अगर डा. जाकिर हुसैन किसी दूसरे विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त किये जाते तो निश्चय ही मैं उन्हें चेतावनी देता कि सही प्रतिक्रिया और सहयोग की उम्मीद करने में वह वास्तविकता

का ध्यान रखें। और यह बात भी सही है, जिसे हर निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा जोर देकर कहा जायगा, कि अपनी प्रतीकात्मक विशेषता के कारण अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय पर वे सभी लोग बडी आसानी से वार करते आए हैं जो किन्ही भी कारणो से उस सप्रदाय से खुश नही है जिसका कि वह प्रतीक है। 8 दिसंबर को होने वाले दीक्षात समारोह के अवसर पर, जिसके प्रधान अतिथि भारत के राष्ट्रपति थे, 1951 की वार्षिक रिपोर्ट पेश करते हुए उन्होंने विश्वविद्यालय की उस स्थिति का जो उन्हे 1948 मे देखने को मिली थी, और अपने उत्तरदायित्वो के दूसरे पहलुओं का, जिक्र किया था। उन्होने अपनी रिपोर्ट की शुरुआत इस प्रकार की थी .

"1951 साल की सालाना रिपोर्ट पेश करते हुए मुझे वह वक्त याद आता है जब तीन साल पहले मैंने इस विश्वविद्यालय के कुलपति का पद सभाला था। इस सस्था के लिए वे दिन कुछ ज्यादा अच्छे नही थे और अपने रोजमर्रा का काम चलाने मे भी उसे बडी-बडी मुश्किलों का सामना करना पडता था। विद्यार्थियो की सख्या बहुत घट गई थी, और यह डर पैदा हो गया था कि अगर हालत उसी तरह बिगड़ती गई तो इसके अखिल भारतीय स्वरूप को भी क्षति पहुच सकती है। इन तीन वर्षों के बीच मुझे इस संस्था के कार्य से सबद्ध सभी लोगो को, खास-तौर से इसके अध्यापकों और विद्यार्थियों को, मर्दानगी के साथ इन मुश्किलो का सामना करते और एक बार फिर इसे स्थायी प्रगति के मार्ग पर ले जाते हुए देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पिछले दो वर्षों के बीच विद्यार्थियो की सख्या में खासी वृद्धि हुई है और आज हमारे हाथो मे, अपने वर्तमान साधनो को देखते, जिनमे रिहाइशी जगह और शैक्षिक साजसामान भी शामिल हैं, इतना ज्यादा काम है कि उसे ठीक से निभा सकना भी मुश्किल हो रहा है···।"

और इस रिपोर्ट के आखिर मे उन्होंने कहा .

"इस रिपोर्ट के आखिर मे इस विश्वविद्यालय के काम और इसकी आशा-आकाक्षाओ के बारे मे कुछ आम बातें कहना चाहूगा। ऐसा मैं इसलिए कर रहा हूं कि कुलपति के रूप मे मेरे इस पद की पहली अवधि पिछले 28 नवंबर को खत्म हो चुकी है, हालाकि कुलाध्यक्ष (विजिटर) ने दूसरी अवधि के लिए भी मुझे ही इस पद पर नियुक्त करना उचित समझा है। मेरी आम धारणा यह है कि यह विश्वविद्यालय, जिसे एक बड़े ही नाजुक दौर के बीच से गुजरना पड़ा है, निश्चित

चित्र 5 : अपने नाती-पोतों के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन
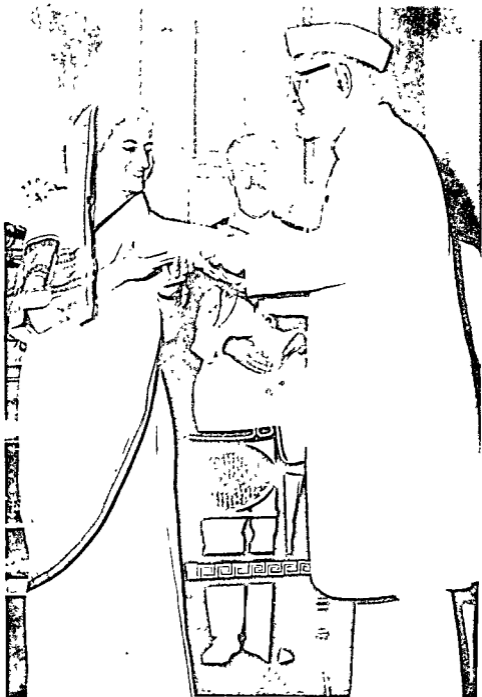
चित्र 6 : श्रीमती इंदिरा गांधी को 'अब्दुल गफ्फार खां—फेथ इज ए बैटल' (अब्दुल गफ्फार खां—निष्ठा एक युद्ध है) की एक प्रति भेंट करते हुए डा. ज़ाकिर हुसैन

सर्वसामान्य भविष्य के लिए उन्हें प्रेरित करे। इस महान देश के मुसलमान नागरिकों को इस भावना को लेकर अपनी वृद्धि करनी है कि उनका धर्म और भारतीय जीवन की स्वस्थ वृद्धि के लिए उनका विशिष्ट योगदान उनका एक अतिरिक्त उत्तरदायित्व और सेवा के लिए एक विशिष्ट अवसर है, न कि यह धर्मद्रोह है, या काफिर हो जाना। अदूरदर्शी और भ्रष्ट आलोचकों की वजह से अक्सर यह काम मुश्किल बना दिया जाता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में होते रहने वाले साम्प्रदायिक वैमनस्य की स्मृतियों को उभार कर संकीर्ण हृदय वाले ये सूझबूझहीन लोग द्वेष भाव से प्रेरित हो, बिना दूसरों के प्रति हमदर्दी रखे, जो गलतफहमियां फैलाते रहते हैं उनका मुंह बंद करना मुश्किल हो जाता है। आम भारतीय जनता, भारतीय पत्रपत्रिकाएं, अपर्याप्त जानकारी रखने वाले भारतीय लोकसेवक, हमारे बारे में किसी भी बुरी बात को मान लेने के लिए मानो पहले से ही व्यग्र रहते हैं। उनकी इस व्यग्रता को मैं समझ सकता हूं, लेकिन एक भारतीय के नाते मैं महसूस करता हूं कि इस देश के प्रति निष्ठा रखने वाले मुसलमान भारतीय नागरिकों के अंदर इस अस्वस्थ मनोवृत्ति के कारण पैदा होने वाले इस भाव को रोकने के लिए मुझे कुछ भी उठा नहीं रखना चाहिए कि वे अपने ही देश में विदेशी के रूप में देखे जा रहे हैं। इससे निराशा और कुंठा की एक भावना पैदा होती है जो उन्हें अंदर-ही-अंदर जकड़ देती है। यह न उनके लिए अच्छा है, और न देश के लिए ही। हमारे देश को, अपने पांवों पर खड़े होने और अपने एक समुचित राष्ट्रीय अस्तित्व का निर्माण करने के लिए, इस बात की सख्त जरूरत है कि उसके पास जो मानवशक्ति है उसका रत्ती-रत्ती उसकी सेवा में उल्लास के साथ समर्पित होता रहे। अलीगढ़ जिस तरीके से काम करता है, अलीगढ़ जिस ढंग से सोचता है, भारतीय जीवन के सभी अंगों में अलीगढ़ का जो योगदान होता है, वही अधिकतर यह निर्धारित करेगा कि भारतीय जीवन के ढांचे में मुसलमानों का स्थान क्या रहेगा। भारत अलीगढ़ के साथ जिस तरह पेश आता है, बहुत-कुछ वैसी ही हमारे राष्ट्र की स्थिति होगी। पहली बात पर मुझे भरोसा है। भारतीय जीवन में अपना उचित योगदान करने में अलीगढ़ कुछ भी उठा नहीं रखेगा, और अपनी योग्यता के बल और सेवा के अधिकार से वह, इस स्वाधीन गणराज्य में, जिसके राष्ट्रपति को अपने बीच पाने का सौभाग्य हमें आज मिला है, जो जीवन प्रस्फुटित हो रहा है उसमें अपने लिए एक

प्रतिष्ठित स्थान बनाने की वैध रूप से आशा करेगा।"

अब हम इस बात पर नजर डालें कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को इस आदर्श पर चलाने के लिये डा. जाकिर हुसैन ने खुद क्या-क्या किया।

देश के विभाजन की वजह से विश्वविद्यालय के उच्चस्तरीय स्टाफ में काफी कमी हो गई थी। 1948 के अंत में वहां सिर्फ तीन प्रोफेसर रह गए थे, और इनमें से भी प्राणिविज्ञान के प्रोफेसर डा. बाबर मिर्जा सक्रिय रूप से मुस्लिम लीग की विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। नीचे के स्टाफ और विद्यार्थियों में भी कम ही थे जो सांप्रदायिक महामारी की छूत से बच पाए हों। डा. जाकिर हुसैन का पहला काम था भय और संदेह को घटाना। बहुत जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि वह एक सद्भाव संपन्न व्यक्ति थे जिनकी प्रकृति में न तो प्रतिशोध या दंड देने की भावना का लवलेश भी था और न मस्तिष्क-प्रक्षालन की ही रंचमात्र प्रवृत्ति। इसकी वजह से विश्वास की एक ऐसी भावना पैदा हो गई जो कि मुस्लिम विश्वविद्यालय को फिर से प्रतिष्ठित रूप देने की दिशा में पहला कदम सिद्ध हुई। इसी बीच डा. जाकिर हुसैन नए खून की तलाश में रहे, और दूसरे विश्वविद्यालयों से चुन-चुन कर प्रोफेसरों, रीडरों और लेक्चररों को लाया जाने लगा और वहां के स्टाफ में वृद्धि की जाने लगी। यह एक तात्कालिक आवश्यकता की ही पूर्ति थी। आर्ट्स और विज्ञान के विषयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं पर डा. जाकिर हुसैन की नजर रही, और जो विद्यार्थी होनहार दिखाई दिये उन्हें भारत या विदेशों में आगे की शिक्षा दिलाने के लिये वह प्रयत्नशील रहे। यह एक दीर्घकालीन योजना थी जिसके परिणाम उनके चले जाने के बाद ही सामने आए। आज अगर कोई सर्वेक्षण किया जाए तो अधिक संभव यही है कि विभिन्न विभागों के प्राध्यापकों में अधिकांश लोग ऐसे मिलेंगे जिनके भविष्य को बनाने में उन्होंने मदद की थी।

उन्होंने नियम बना लिया था कि जो अध्यापक उनसे मिलने आते थे उनसे वह पूछते थे कि वह किस काम में लगे हैं। उनमें ऐसे लोग भी होते थे जिनके काम की प्रगति से वह सतुष्ट थे, लेकिन ऐसे भी लोग होते ही थे जिनसे उन्हें कहना पड़ता था, 'यह तो आपने पिछली मुलाकात के वक्त ही बताया था।' कुछ लोगों पर उनकी इस टिप्पणी का भी कोई असर नहीं पड़ता था और वे उसके बाद भी पूरी तरह निकम्मे बने रहते थे या बहुत ही कम प्रगति करते थे, पर कुछ लोगों पर इसका अच्छा असर पड़ता था। विभागाध्यक्षों को उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक काम

करने की पूरी छूट दे रखी थी, और किसी विभाग के अंदर मतभेद पैदा हो जाने पर भी वह हस्तक्षेप न करने की अपनी नीति का दृढ़तापूर्वक पालन करते थे। एक बार तो इसके बड़े ही बुरे परिणाम हुए। एक भौतिक-विज्ञानी डा. पी. एस. गिल, जिनकी ख्याति यह थी कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे उन्होंने उच्च कोटि का कार्य किया है, और जिनकी सेवाओं को प्राप्त करने के लिये डा. जाकिर हुसैन को बहुत ज्यादा मोलभाव करना पडा था, एक अजीब ढग के आदमी थे। डा जाकिर हुसैन ने उन्हे हर तरह की सहूलियतें और मौके दिये थे जिनमे गुलमर्ग स्थित एक अनुसधान वेधशाला भी थी जिसके लिये स रा. अमेरिका से साज-सामान और उपकरण मगाए गए थे। लेकिन भौतिक विज्ञान के विधिवत विस्तार के अतिरिक्त, जिसके लिये उस विद्वत्ता और योग्यता की जरूरत नही थी जिसका उनके बारे मे दावा किया जाता था, उनका काम बिलकुल ही आगे नही बढा। दूसरी ओर, अपने विभाग के लोगों के साथ वह जिस ढग से पेश आते थे और अपने विभाग के मामलों को जिस तरीके से निपटाते थे उसकी वजह से उनका विरोध होने लगा और वह इस हद तक बढ गया कि बडी तकलीफदेह स्थिति पैदा हो गई जो राजनीतिक दृष्टि से भी खतरनाक थी।

डा. जाकिर हुसैन को कई ऐसे काम भी मिलते रहते थे जिनकी वजह से उन्हें अलीगढ से बाहर जाना पडता था। कुलपति के पद पर काम करते हुए एक साल भी नही बीतने पाया था कि उन्हे दिल का दौरा पडा था। फिर भी, सभी देख रहे थे कि जिस व्यक्ति के हाथ मे अब वहा की बागडोर थी वह पुरानी लीक पर चलने वाला नही था। 1950-51 के बजट मे विश्वविद्यालय ने 5,81,375 रुपये का घाटा दिखाया था। लेकिन खर्च कम करने की जगह और भी बढा दिया गया। और इस तरह काम आगे बढने लगा। कितने ही काम करने को पडे थे, और उन्हे पूरा किया गया। इजीनियरिंग और टैकनालजी के कालेज की इमारतो का नक्शा जर्मन वास्तुशिल्पी, दिवगत मारटे फान हीइज द्वारा तैयार किया गया था, और उनका निर्माण शुरू कर दिया गया।[1] अजुमन तरक्कीए-उर्दू

---

[1] यह बताया गया है कि दिल्ली के दगो के दौरान डा जाकिर हुसैन एक सेवानिवृत्त सुपरिंटेंडिंग इजीनियर (अधीक्षक अभियता) एम ए अब्बासी के निकट सपर्क मे आए थे। उद्धार और पुनर्वास का काम पूरा हो जाने पर डा जाकिर हुसैन ने इजीनियर के रूप

की अलीगढ़ में फिर से स्थापना की गई। काजी अब्दुल गफ्फार मरहूम को 'हमारी जबान' का, जिसका प्रकाशन 1 जनवरी 1950 से फिर होने लगा, सचिव और संपादक नियुक्त किया गया।[1] 'इस्टीट्यूट गजट' को, जो कि कब का बंद हो चुका था, जुलाई 1951 से 'दि मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट' के नए नाम से फिर शुरू किया गया, और उसके शुरू वाले अंको मे उन सभी कामो की सूची दी गई जिन्हें कि नए कुलपति कर चुके थे या करने जा रहे थे। ऊपर बताई गई बातों के अलावा, अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन को पुनर्जीवित किया गया, और 'पुरातन विद्यार्थी संग' को पुनर्गठित किया गया। उसकी वार्षिक सभा 24 अप्रैल 1951 को की गई। 'पुरातन विद्यार्थी संघ' का पुनर्गठन देश-विभाजन के बाद विश्वविद्यालय और उत्तर भारतीय मुसलमानो के बीच फिर से संपर्क स्थापित करने का भी एक रास्ता था। लेकिन इससे 1951 के अलीगढ़ मुस्लिम विश्व-विद्यालय कानून में किये गए दो आवश्यक परिवर्तनो के विरुद्ध लोकमत प्रबल हो उठा। 1950 से लागू होने वाले भारतीय संविधान के अंतर्गत, भारत सरकार से अनुदान प्राप्त करने वाली कोई भी शिक्षा सस्था धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य नहीं

में अब्बासी की प्रतिभा और अनुभव का उपयोग करना चाहा था। दुर्भाग्यवश अब्बासी को हिसाब किताब और रुपयो की अदायगी के काम से नफरत थी जिसकी वजह से बड़ा घपला हुआ। डा. जाकिर हुसैन क्यों उनका इतना लिहाज करते थे या लिहाज करते जान पड़ते थे, यह कोई भी न तो समझ ही पाया और न समझा ही पाया; डा. जाकिर हुसैन खुद भी यह नही समझा सके। अब्बासी ने जामिया मिल्लिया के टीचर्स कालेज के छात्रावास का निर्माण किया था और अलीगढ़ के भी इंजीनियरिंग कालेज के निर्माण का काम उन्हीं को सौंपा गया था।

[1]काजी अब्दुल गफ्फार खिलाफत आंदोलन में (न कि 'के') 'लीडरों' में से थे और 1920 में मौलाना मुहम्मद अली के साथ लंदन गए थे। मौलाना आजाद के भी वह विश्वासपात्र बन बैठे थे और अंजुमन तरक्किए उर्दू को जो अनुदान दिया गया था उसकी एक अलिखित शर्त यह भी थी कि वह उसके सचिव बनाए जाएगे। दरअसल काजी अब्दुल गफ्फार बूढ़े और बीमार आदमी थे, और उनकी तनखा एक तरह से पेंशन के तौर पर थी। अंजुमन के अध्यक्ष के नाते डा. जाकिर हुसैन को, जब इलाज के लिये, बराबर उनके दिल्ली आते रहने पर उनके यात्रा-भत्तों और महगाई-भत्तों के बिलों की तसदीक करनी पड़ती थी तो वह खीज उठते थे, और मालूम यही होता है कि मौलाना आजाद और डा. जाकिर हुसैन के बीच गलतफहमी पैदा करने के लिये काजी अब्दुल गफ्फार हर मौके से फायदा उठाते थे। जान पड़ता है कि उनकी प्रकृति ही वैसी थी।

बना सकती थी। इसलिये अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय को भी अन्य संस्थाओं की भांति अनिवार्य धार्मिक शिक्षा को रद्द करना पड़ा। यह बात बहुत से मुसलमानो को पसद नही आई जो यो इस बात को खुशी से स्वीकार कर लेते कि जोर जबर्दस्ती से धार्मिक शिक्षा न तो कभी धार्मिक ही बन सकी और न शिक्षा ही, बल्कि बराबर हास्यास्पद ही बनी रही। इस कानून में होने वाले दूसरे परिवर्तन द्वारा गैर मुसलमान भी विश्वविद्यालय के 'कोर्ट' के सदस्य बन सकते थे। इसका भी घोर विरोध हुआ, क्योकि इससे यह डर पैदा हो गया कि मुसलमानों को 'कोर्ट' से निकाल बाहर किया जाएगा। जाकिर हुसैन दिल से इन परिवर्तनो के पक्ष मे थे और उन पर कितने ही अन्यायपूर्ण कटाक्षो के साथ-साथ यह इलजाम लगाया भी गया कि उन्होने एक 'नए' ही अलीगढ़ की सृष्टि की है जिसे कि भारत सरकार चाहती थी।

आबिदुल्ला गाज़ी से, जो जुलाई 1951 मे इस विश्वविद्यालय मे आए थे, मुझे पता चला है कि विद्यार्थियो का एक हिस्सा डा. ज़ाकिर हुसैन को तब तक भी घुसपैठिये के रूप में देखता था, और अलीगढ की 'शुद्धि'[1] के लिये भारत सरकार द्वारा थोपा हुआ मानता था। कुलपति के रूप मे उन्हे मिलने वाले वेतन की जामिया मिल्लिया वाले उनके वेतन के साथ तुलना की जाने लगी और यह मत प्रकट किया गया कि प्राणिविज्ञान के प्रोफेसर डा. बाबर मिर्जा या टीचर्स कालेज के प्रिंसिपल प्रो. हबीबुर्रहमान कुलपति के रूप मे अधिक उपयुक्त होते। अहमद सईद, जिनका तख़ल्लुस 'जर्रा' था और विद्यार्थी जिन्हे 'अंडा' कहते थे, विद्यार्थी सघ के सचिव थे और एक मौके पर उन्होंने कुलपति का स्वागत करते हुए अपने भाषण में बड़ी चुभती हुई बातें कह डाली थी। इसके पीछे वजह थी कुछ विद्यार्थियों के खिलाफ अनुशासन की कार्रवाई के फलस्वरूप उत्पन्न रोष और यह प्रस्ताव या अफवाह कि 'चेहलुम'[2] की छुट्टी रद कर दी जाएगी। 10 अक्तूबर, 1951 को जब रावलपिंडी मे लियाक़त अली खां की हत्या कर डाली गई तबकुछ विद्यार्थियो ने इस बात पर जोर दिया कि भोंपू बजाया जाए, जैसाकि आम मातम

---

[1]हिंदू धर्म में दीक्षित कर लेना।

[2]इमाम हुसैन की शहादत, जो हिजरी सन के पहले महीने, मुहर्रम, की 10 तारीख को हुई थी, के बाद का चालीसवां दिन।

के मौकों पर पहले से होता आया था। कुछ विद्यार्थियों ने इसका विरोध किया, और विरोध करने वालों में से एक लड़के को, जो जरा ज्यादा आगे था, पीटा गया। हुल्लडबाज लड़कों की एक भीड डा. ज़ाकिर हुसैन के मकान पर आ पहुंची और उसने माग पेश की कि वह भोपू बजाए जाने का हुक्म जारी करें। उन्होने इस माग पर जोर न देने के लिये उन लोगों को समझाने-बुझाने की कोशिश की, लेकिन उसके बाद भी जब वे लोग शोर मचाते रहे और अपनी माग पर अड़े रहे तो उन्होने तग आकर कह दिया कि उनकी जो मर्जी हो जाकर करें। जिस कमरे मे भोपू बंद था उसका ताला तोड़ डाला गया, और भोपू बजाया जाने लगा।

जो भी ऐसी घटनाए घटती हैं उनसे यह प्रकट है कि सभी जगहों के विद्यार्थी आवेश में आ जाने पर पूरी तरह वह जाते है, लेकिन हमेशा ही देखा गया है कि बहुत ही थोड़े विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो हिंसात्मक और निंदनीय कार्रवाइयों में खुद हिस्सा लेते और दूसरों को भी वैसा करने के लिए उकसाते हैं। अलीगढ में इससे भिन्न स्थिति नही थी। शरारत करने वाले वहा भी थे और उनसे प्रभावित होने वाले भी काफी लोग थे ही। बहुसंख्यक विद्यार्थी झगड़ों से दूर ही रहना चाहते थे, और काफी सक्रिय कुछ विद्यार्थी ऐसे भी थे जो अनुशासन कायम रखने के पक्ष मे थे और अधिकारियों की नीति के औचित्य को स्वीकार करते थे और विद्यार्थियो के हित में कही जाने वाली हर बात के और उनके हित मे किए जाने वाले हर काम के समर्थक थे। अलीगढ की नई सत्ता का अगर खुल्लमखुल्ला विरोध करने वाले लोग थे तो डा. ज़ाकिर हुसैन का खुल्लमखुल्ला समर्थन करने वाले भी थे ही। वह स्वयं भी बोलने की स्वतत्रता को बढ़ावा देते थे और किसी भी अच्छे शिक्षक की भांति आशा करते थे कि कुछ लोगो द्वारा भले ही इसका नाजायज फायदा उठाया जाए, मगर आखिर मे जाकर तो इसका शिक्षात्मक प्रभाव फायदेमंद होगा ही। जो लोग मदद चाहते थे उनकी वह अबाध रूप से सहायता करते थे, और इस तरह की सहायता मे कुलपति की विशेष निधि को ही नहीं अपने वेतन के भी एक बड़े हिस्से को खर्च कर डालते थे। उनके नौकर इशाक को एक ऐसा प्रसंग याद है जब कि उनके कुलपति नियुक्त होने के कुछ ही समय बाद कुछ विद्यार्थी उनसे मिलने के लिए आए हुए थे। फैशन के मुताबिक, उन लोगों की अचकन के ऊपर वाले बटन खुले हुए थे। डा. ज़ाकिर हुसैन को यह पसंद नही था। बिना कुछ कहे ही उन्होंने उनके साथ बातें करते हुए उनकी अचकनों

के बटन बंद कर डाले। लेकिन ऐसे विद्यार्थियो के बारे में उनके विचार क्या थे इसका पता उनके द्वारा दिए गए भाषणो से लग जाता है।

11 अगस्त, 1951 को जब विद्यार्थी सघ ने नए विद्यार्थियो का स्वागत करने के लिए अपनी एक बैठक की तो डा ज़ाकिर हुसैन से भी कुछ बोलने के लिए कहा। उन्होने जो कुछ कहा उसका साराश 24 अगस्त के 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी गज़ट' मे दिया गया था :

"हम सभी के अंदर, एक इसान भी मौजूद है और एक जानवर भी। शिक्षा का उद्देश्य है उस जानवर को दबाकर रखना। शिक्षा का सारा रहस्य अपने अंदर के इस जानवर को दबा कर रखने मे और इसानियत के गुणो का विकास करने में ही है।

"जो लोग इस संस्था मे यह सोच कर आए हैं कि वे इम्तिहान पास करके कोई डिग्री हासिल करेंगे उन्होने एक बहुत ही तुच्छ ध्येय और मानदड अपने सामने रखा है। उनका खयाल है कि उन्हे कोई नौकरी, या रोजी का कोई दूसरा जरिया, मिल जाएगा। यह बात कुछ गलत भी नही है। पर यही तो सब कुछ नही है। बड़ी बात तो है मस्तिष्क और अतरात्मा का सस्कार, जिस काम मे पूरी जिंदगी ही गुजर जाती है। यह काम तभी से शुरू हो जाता है जब हमें अपने आसपास की दुनिया का बोध होने लगता है। किसी शिक्षा सस्था का कार्य यही है कि लक्ष्य की ओर ले जाने वाले रास्ते पर हमे दृढतापूर्वक बढाती जाए। आप लोग यहा अपना विकास करने के लिए आए हैं, अपने अदर के जानवर को दबा कर रखने और अपने मनुष्यत्व को उन्नत करने के लिए। जानवर और आदमी के बीच का मूलभूत अंतर यही है कि जानवर पर किसी प्रकार का भी सामाजिक दायित्व नही है। जानवर एक स्तर से ऊपर नही उठ सकता। आपकी पढाई-लिखाई का उद्देश्य अगर यही है कि कुछ तथ्यों को रटरटा लें तो यह गलत है। विद्योपार्जन से जब तक विद्यार्थी के अदर एक बौद्धिक अवस्था नही आ जाती, जब तक वह ज्ञान की खोज के लिए लालायित नही होने लग जाता, और उसकी खातिर सख्तिया झेलने के लिए तैयार, तब तक उसका मस्तिष्क अपरिपक्व ही रहा आता है। इतिहास के सभी तथ्यो की जानकारी प्राप्त कर लेने से ही कोई व्यक्ति इतिहासकार नही बन जाता। अब तक रचित सारे काव्य की जानकारी काव्यानंद का उपभोग करने की क्षमता नही पैदा करती। उसमें परमानंद प्राप्त होना परम आवश्यक है।

"उच्चतम मूल्यो को आत्मसात् करके ही कोई व्यक्ति अपने को शिक्षित बना सकता है। हमारे रस्मरिवाज, हमारी भाषा, साहित्य, धर्म, इन मूल्यों के ही प्रतीक हैं और सफल उसी को माना जा सकता है जो उन्हे आत्मसात् कर लेता है, उन्हें अपने व्यक्तित्व का अंग बना लेता है। क्या आपके अदर कभी उन समस्याओं को हल करने की तमन्ना पैदा हुई है जिनका अभी तक हल नही मिल पाया है ? काव्य को पढ़ने के बाद क्या आपके अंदर काव्य-रचना की अभिलाषा उत्पन्न हुई है ? वैज्ञानिक प्रयोग करते समय क्या आपके अदर यह प्रेरणा पैदा हुई है कि आप स्वतः ही किसी वैज्ञानिक सत्य को खोज निकालें ?

"दोस्तो, शिक्षा प्राप्त करने वाले नौजवानो। शिक्षा को कोई सतही चीज न बना डालो। शिक्षा महज रट लेने की चीज नही है। काव्य हो अथवा कला, गणित हो या विज्ञान, उसके सौंदर्य का आविष्कार करके, उसके रहस्य का उद्घाटन करके, आप अपने ही मस्तिष्क को सुंदरता प्रदान करेंगे।"

"शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि मनुष्य जीविकोपार्जन योग्य बन सके। ऐसा करने वाले को स्वार्थी नही कहा जा सकता। अपने समाज में हमें प्रतिष्ठित व्यक्तियों की ही तरह रहना है, और वैसा करते हुए समाज की भी उन्नति करनी है। जिस स्थिति में हम अपने समाज को पाते हैं उसी में अगर उसे छोड़ देते हैं तो हम अपने दायित्व से च्युत होते हैं। भला आदमी वह है जो अपनी मृत्यु के समय अपने पीछे एक ऐसे समाज को छोड जाता है जो उसके जन्म के समय से बेहतर है।

"छात्रावास में आप लोगों का रहना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जिस छात्रावास में आप रहते हैं उसे आपको और भी अच्छा बनाना चाहिए। जो लड़के यहां पहले से हैं उन्हे अगर अपने दायित्व का बोध रहे तो नए लडके भी उनके साथ उसमे हिस्सा बटाना सीखेंगे। पुराने और नए विद्यार्थी एक साथ रहते हुए एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं। आपको नए समाज की भाषा सीखनी है, अपनी खुशी और नाराजगी का इजहार करने का तरीका सीखना है। जब आप अपने 'सघ' मे आते हैं, तब आपको न सिर्फ बोलने की बल्कि सुनने की भी कला सीखनी चाहिए। बोलना काफी आसान है, लेकिन दूसरे को बोलते सुनना मुश्किल है। फिर, जो कुछ कहा जाता है उससे सहमति या असहमति प्रकट करना भी आना चाहिए।

"परपरा कोई बनी बनाई चीज नही होती। परपराए बनाई जाती हैं और

उनमें नई परंपराएं जोड़ी जाती हैं। अगर परंपराओं में बुराइयां घुस आती हैं तो उन्हें दूर किया जाता है। स्वस्थ समाज स्वस्थ परंपराओं को जीवित रखता है और बुरी परंपराओं का त्याग कर देता है। हमारे मजहब में, जब शराब पीने की निंदा की गई है तो साथ ही उसके कुछ लाभ भी बताए गए हैं। इसे इसीलिए मना किया गया है कि शराब पीकर आदमी अपने होश-हवास खो बैठता है, और हर ऐसी चीज शराब और मुग्गालते है जो आवश्यक बंधनों को इस हद तक तोड़ देने की ओर ले जाती है, कि आदमी जानवर के स्तर पर रहने लग जाए।

"यहां जो लोग शिक्षा प्राप्त करने आए हैं उन्होंने एक बड़ा काम अपने हाथ में लिया है। उन्हें सबसे पहले तो खुद अपने को जानना होगा, अपनी क्षमताओं और प्रवृत्तियों का पता लगाना होगा और यह जानना होगा कि उनके व्यक्तित्व में कौन सी बात अनूठी है। अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उनके अंदर क्या प्रतिभा है, उन्हें क्या करना चाहिए, अपने लिए उन्हें कौन-सा रास्ता बनाना चाहिए। अपनी प्रवृत्तियों और क्षमताओं का, अपने व्यक्तित्व का, पता लगाना और जिन विभिन्न तत्वों से हम निर्मित हैं उनके बीच सामंजस्य स्थापित करना ही अपने चरित्र का निर्माण करना है। इस प्रकार निर्मित अपने चरित्र को जब किसी ऊंचे ध्येय के लिए कोई समर्पित कर देता है तब वह एक व्यक्तित्व का रूप ग्रहण कर लेता है, और यदि ऐसा व्यक्तित्व उच्चतर मूल्यों की उपलब्धि में ही तन मन से लग जाता है तो उसका हाथ खुदा का हाथ बन जाता है, उसकी जबान खुदा की जबान बन जाती है, क्योंकि उच्चतम मूल्यों की समष्टि को हम खुदा का नाम देते हैं।

"व्यक्तित्व का निर्माण केवल समाज में ही रह कर हो सकता है, लंबे अरसे तक और निरंतर एकांतवास करते हुए नहीं। लोगों के बीच रह कर ही और उनके लिए काम करके ही व्यक्तित्व का विकास होता है। अगर आप दूसरों का भला करने की आदत डाल लें तो आपका समाज एक बेहतर समाज बन जाएगा और अपने व्यक्तित्व का भी आप विकास करेंगे। समाज की भलाई मे ही आप अपनी भी भलाई देखें। नैतिक विधान को भंग करने वाली छोटी-मोटी हरकतें संपूर्ण समाज की ही प्रतिष्ठा को घटा देती हैं; हमी उसकी शोभा को बढाते या घटाते हैं। कुछ लोगो के दुर्व्यवहार के कारण पूरा समाज बदनाम हो जाता है। यह ठीक है कि हममे से कुछ अगर बुरे है तो हम सभी बुरे नहीं हो जाते, लेकिन

ये कुछ लोग भी, हकीकत मे, हमारे ही तो हिस्से हैं, हमारे ही रक्त मास, और उनके लिए भी हमारी जिम्मेदारी है ही। अपनी संस्था और अपने समाज को सुधारने के लिए आपको कोशिश करनी ही होगी। आपकी संस्था की अच्छाइयां आपकी अच्छाइया बन जाएंगी, और अगर आप अपने अंदर अच्छाइयां पैदा करते हैं तो आनेवाली पीढ़ियों को एक बेहतर समाज मे रहने का मौका मिलेगा।"

"अपने अध्यापकों के प्रति आपका आचरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बुरे विद्यार्थी किसी अच्छे अध्यापक को भी मिट्टी का लोंदा बना डालेंगे, और अच्छे विद्यार्थी किसी साधारण अध्यापक को भी बुद्धिमत्ता की साकार मूर्ति मे परिणत कर देंगे। विद्यार्थी और अध्यापक के बीच का भावात्मक सूत्र वही है जो बच्चे और मा के बीच रहता है। अध्यापक के दिल में वही स्नेह और ममता होनी चाहिए जो बच्चे के लिए मा के दिल मे होती है और जो उसके दूध के जरिये, जिसे पीकर ही बच्चा बढ़ता है, उस तक पहुचती रहती है। विद्यार्थी की अच्छाइया अध्यापक को भी प्रोत्साहित करती हैं और उसे उन्नत बनाती हैं, और उसके जरिये समूचे समाज को।

"आपके साथ लड़कियां भी पढ रही हैं। उनके प्रति आपका सलूक अच्छा होना चाहिए। उन पर छींटाकशी करना और भद्दे ढग से पेश आना आपके अपने छिछोरेपन का द्योतक है। किसी लड़की मे मा, बहन और पत्नी तीनों का समावेश रहता है। एक दिन ये लड़किया पत्नियां बनने वाली हैं। क्या आप यह पसंद करेंगे कि आपकी पत्नी को कोई ठेस पहुंचाए ?

"लिखना पढना तो सामान्य प्रकार के ही काम हैं; मानव प्रकृति की पूर्ण उच्चता की प्राप्ति ही वास्तविक ध्येय है। इस ध्येय तक पहुंचना ही आपके दिल की तमन्ना होनी चाहिए। धूल के भी जर्रे-जर्रे मे कोई रहस्य छिपा पड़ा है, अगर कोई उसे खोज निकालना चाहे; कितने ही दरवाजे खुलने के इतजार मे हैं, अगर कोई उन्हें खटखटाए। मौलाना रूमी का वह शेर आपने जरूर पढा होगा जिसमे उन्होने कहा है कि पानी तक को प्यासे की तलाश रहती है।"

डा. जाकिर हुसैन ने जब अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का कुलपति होना स्वीकार किया था तब उनके सामने दो प्रकार के अवसर थे। इनमे से एक था उस विश्वविद्यालय मे शिक्षा की विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले नौजवान, उद्यमी और प्रतिभाशाली लोगो को एकत्र करके उसे बौद्धिक तथा वैज्ञानिक

क्रियाकलाप का एक केंद्र बनाना; और दूसरा था उसके मैदान को एक बगीचे की शक्ल दे देना।

उसे बगीचे की शक्ल दे देने वाला काम ही डा. ज़ाकिर हुसैन पूरी तरह और अपने संतोष लायक कर पाए। बागवानी का शौक उन्हें हमेशा से था, लेकिन ओखला मे, जमीन काफी होते हुए भी, साधनो का अभाव था, और मवेशियो से उसकी रक्षा करने का कोई उपाय नही था। फूलो और बागवानी का उनका अपना ज्ञान सीमित था। इस कमी की पूर्ति उन्होंने रामपुर मे की जहा वह अपने दिल के दौरे के बाद कर्नल बी एच. जैदी के घर पर आराम करने के लिए गए थे। बेगम कुदसिया के शौक ऊचे दरजे के थे और बढ़िया चीजो के संग्रह मे उनकी रुचि थी जिसे अपनी साधन सपन्नता के कारण वह पूरा भी कर सकती थी। डा ज़ाकिर हुसैन ने मामूली चीजों मे भी, चादी-सोने की कलात्मक चीजो की जगह काठ और मिट्टी और तांबे की बनी चीजो मे भी, सौंदर्य देखने की कला उन्हे सिखाई, और इस सौदर्य साधना के माध्यम से उन दोनो के बीच एक कोमल सबध स्थापित हो गया। रामपुर के दीवान के नाते कर्नल जैदी ने वहां के बाग तैयार कराए थे, और डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनके और बेगम जैदी के फूलपौधो के और बागवानी के ज्ञान से लाभ उठा कर बागवानी सीखना शुरू कर दिया। जहा कही भी वह जाते, बागबगीचो और 'नर्सरियो' मे ज्यादा से ज्यादा वक्त बिताते और स्थानीय पेड़-पोधों और फूलो के बारे मे जानकारी हासिल करते। इस तरह कुछ ही वक्त मे, अलीगढ के अपने बागवानी विशेषज्ञो को वह आत्मविश्वासपूर्वक सलाह-मशविरा और मार्गदर्शन देने योग्य बन गए। विश्वविद्यालय का अहाता बूगन विलीय (बेगमबेलिया) फूलो वाली झाडियो और गुलाबो से हर वर्ष अधिकाधिक रंगीन होता चला गया, और उसकी हर सड़क के दोनो ओर शानदार दरख्तों की कतारें खड़ी होती चली गई।

अब हम कालानुक्रम को छोड़ यहा एक ऐसी बात का जिक्र करना चाहेगे जिसका डा. ज़ाकिर हुसैन को बडा शौक था और जिससे उन्हे ज्यादा से ज्यादा खुशी हासिल होती थी—दक्षिण के पहाडी सैरगाहो और खूबसूरत जगहो की यात्रा की, जिसकी योजना उन्होने और कर्नल बी एच. जैदी ने 1955 की गर्मियो के लिए बनाई थी।

मगर उस पर कितना खर्च आएगा यह जान लेना तो जरूरी था ही।

डा. जाकिर हुसैन ने जब कर्नल जैदी से पूछा कि उन्हे कितना खर्च करना पड़ेगा, तो वह बोले कि इस सफर मे करीब 500 रुपये खर्च हो जाएगे। चूंकि खजांजी का काम उन्ही को करना था इसलिए उन्हे उम्मीद थी कि जो भी कमी पड़ेगी उसे वह अपने पास से पूरा कर देंगे और डा. जाकिर हुसैन को पता भी नही चल सकेगा। मगर जब अपने पहले पडाव बंबई तक पहुंच कर ही डा. जाकिर हुसैन ने उनसे हिसाब मागना शुरू कर दिया तब वह घबड़ा गए। पर जब यह सफर पूरा हुआ तो दरअसल 500 रुपये से भी कम खर्च हुआ था। संसद सदस्य होने के नाते रेल भाड़ा उन्हें नही देना पडा था, और जहा-जहां भी वे गए प्राय: सभी जगह उनकी ऐसी मेहमानवाजी हुई कि रहने और खाने-पीने का खर्च भी बच गया। खर्च की हुई रकम का अधिकांश भाग तो बख्शीशो और पौधो की खरीद पर सिर्फ हुआ था।

बंबई मे चार दिन रुककर डा. जाकिर हुसैन और कर्नल जैदी एक पखवारे के लिए पचगनी गए। डा. जाकिर हुसैन पैदल चलना नापसद करते थे, लेकिन कुछ कसरत तो जरूरी थी। कर्नल जैदी की यह आदत बन गई कि वह अकेले ही करीब मील भर दूर किसी ऐसे दरख्त की तलाश मे निकल जाते जिसमे कोई खूबी हो। फिर वह डा जाकिर हुसैन से उसका जिक्र कर बैठते। यह एक ऐसा प्रलोभन था जिसे डा. जाकिर हुसैन रोक नही सकते थे, और अगले दिन सवेरे ही वे दोनों उसे देखने के लिए चहलकदमी करते, और बीच-बीच मे कई जगह रुकते, उस दरख्त तक जा पहुंचते।

अगला पडाव था शिवाजी की मातृभूमि-महाबलेश्वर, प्रतापगढ़, सिंहगढ़, सतारा और अंत मे, पूना। शिवाजी और प्रारभिक काल के मराठा इतिहास पर लिखी पुस्तकें उनके साथ थी, और घूमने-फिरने की शारीरिक कसरत के अलावा, वे मराठा इतिहास के पुनर्निर्माण की दिमागी कसरत भी किया करते। पूना से वे बंगलोर गए, और तीन दिन बाद मैसूर। मैसूर से वे कुर्ग जाना चाहते थे, जो तब चीफ कमिश्नर वाला प्रात था, और जिसकी राजधानी मर्कारा थी, लब्ध प्रतिष्ठ भारतीय सेनाध्यक्षों—करियप्पा और थिमैया—का अपना देश। रेल का रास्ता न होने की वजह से वहां जाने का इरादा वे लोग प्राय: छोड ही बैठे थे, कि उनके मेजबान से मिलने के लिए मैसूर आने वाले एक व्यापारी को इस बात का पता चला और उन्होंने उन्हें अपनी कार और स्टेशन वैगन को, जो उनके घर

वालो को वहा छोड़ खाली वापस जाने वाले थे, उनके हवाले कर दिया। यह न केवल एक वरदान था, बल्कि उनकी बाकी यात्रा के लिए भी शुभ सिद्ध हुआ। हर जगह ही उनके उस मेजबान ने अगले पड़ाव तक उन्हें पहुचाने के लिए किसी न किसी कार की व्यवस्था कर दी।

कुर्ग पहुचकर वे लोग उस व्यापारी के ही घर पर ठहरे जिसने उन्हे अपनी कार सफर के लिए दी थी। वह एक चाय बागान वाला था, और उसकी बदौलत उन लोगो ने चाय और काफी के बागानो की सैर की। फिर वे कालीकट गए। उनके वहा आने की सूचना एक मलाबारी नौजवान मुहम्मद इशाक ने, जो कि जामिया मिल्लिया मे ही पढा था और सामाजिक कार्यों मे बहुत अधिक भाग लेता था, पहले से ही लोगो को दे रखी थी। वहा पहुंचने पर उन्होने देखा कि कालीकट के जानेमाने लोगो द्वारा उनके स्वागत की पूरी तैयारी की गई थी, और उस अवसर के उपयुक्त भाषण भी उन्हे देने पड़े। यहा एक स्थानीय ब्राह्मण ने भी उनके आगमन की सूचना पाकर उन्हे भोजन के लिये निमत्रित किया, और जब उसे बताया गया कि हर बार के खाने के निमत्रण पहले से ही स्वीकृत हो चुके हैं तो वह बोला, "तब कृपा कर सवेरे के नाश्ते के पहले ही आ जाइये, और यह देखने का कष्ट उठाइये कि किसी ब्राह्मण की काफी कैसी होती है।" सचमुच ही वैसी स्वादिष्ट काफी उन्होंने पहले कभी नही चखी थी।

कालीकट को अपना पड़ाव बनाकर उन्होने पश्चिमी नीलगिरि की छानबीन की, जिसका असाधारण सौंदर्य देख वे चकित रह गए। इसके बाद वे लोग कोचीन और एलेप्पी गए, जो भारत का वेनिस माना जाता है। यह नगर पंबियार और अचयोविल नदियो के समुद्रप्रवेश के समय बने समुद्रतालो के ऊपर बना है। उन्होने मलाबार के ईसाई इलाके का दौरा किया, और पेरियार झील और विख्यात वन्य पशुविहार को देखा। उनका अगला पड़ाव था क्विलन, जहा भारत के काजू उद्योग के सबसे बड़े उद्योगपति डा. ज़ाकिर हुसैन से मिलने आए और एक मुस्लिम आर्ट्‌स और साइंस कालेज के निर्माण के लिए उन्होंने 15 लाख रुपये का चेक उन्हें भेंट किया। इसके लिए उन्होंने दलील यह दी कि सिवा मुसलमानो के सभी संप्रदायों के इस तरह के अपने कालेज हैं, डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें समझाना चाहा कि इस रकम को वह ऐसे काम पर खर्च न करें जो कि पहले से ही हो रहा है किसी दूसरे ढग की सस्था पर क्यों न खर्च करें, मसलन,

इजीनियरी के कालेज पर। काज़ू-उद्योगपति ने जवाब दिया कि इंजीनियरी के एक कालेज की स्थापना के लिए वह 15 लाख रुपये और दे देंगे, लेकिन मुसलमानो का एक आर्ट्स और साइंस का कालेज तो होना ही चाहिए। डा. ज़ाकिर हुसैन को राजी हो जाना पड़ा, और अब उनके नाम पर ऐसा एक कालेज मौजूद है।

क्विलन से डा ज़ाकिर हुसैन और कर्नल जैदी त्रिवेंद्रम होते हुए कन्याकुमारी गए, और लौटते वक्त त्रिवेंद्रम से रेल से मद्रास आए। उनके साथ अपनी यात्रा की यादगार के रूप में 250 पौधे थे।

बागवानी के अलावा, अलीगढ में रहते वक्त, डा. ज़ाकिर हुसैन का एक दूसरा शौक हो गया था जीवाश्मों (फॉसिल) और असाधारण किस्मो के पत्थरो और स्फटिको का संग्रह। उन्होने मुझे बताया था कि इसके लिए पहली प्रेरणा उन्हे विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग में जाने पर मिली थी। उसके बारे मे उन्होंने जिस तरह बात की उससे लगता था कि एकमात्र वही विभाग ऐसा है जिसमें एक ऐसे उत्साह का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जो ज्ञान के उपार्जन और प्रगति के काम में लगे रहने का दावा करने वालो को विशिष्टता प्रदान करता है, और उससे वह अत्यंत प्रभावित थे। इस विभाग के संग्रह को समृद्ध बनाने के लिए उनसे जो कुछ भी हो सकता था उन्होने किया, और फिर अपने लिए भी उस प्रकार का सग्रह करने लग गए।

अलीगढ विश्वविद्यालय को उन्नत करने के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन ने जो प्रयत्न किये उनके परिणामो का पता लगाने की मैंने कोशिश की है। अनुसंधान की प्रचलित प्रविधियों की माग यह थी कि एक विस्तृत प्रश्नावली तैयार करके उसे जानकार लोगों की ज्यादा-से-ज्यादा बड़ी संख्या के पास भेजा जाता और उन्हें उत्तर देने के लिए प्रवृत्त किया जाता, ताकि वैज्ञानिक निष्पक्षता के साथ यह निर्धारित किया जा सकता कि अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति रूप मे डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे में, उनके ध्येयों के स्वरूप, संख्या और महत्त्व के बारे मे, जो कुछ वह करना चाहते थे उसमें मिलने वाली उनकी सफलता या विफलता की मात्रा के बारे मे, और उनके कारणो के बारे में लोगों के विचार क्या हैं। लेकिन मैं तो यही मान कर चल रहा हूं कि कुलपति के रूप मे अपने कार्य के बारे में सबसे अच्छे पारखी स्वयं डा. ज़ाकिर हुसैन ही थे, और,1951 में

विद्यार्थियों के समक्ष दिए गये उनके उस अभिभाषण के अलावा, जिसे कि पहले ही उद्धृत किया जा चुका है, उनके कुछ अन्य भाषणों से भी, अगर उनकी ठीक-ठीक व्याख्या की जाए, अपने मतलब की सारी बातें हमे मालूम हो जाएगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका के दौरे पर से लौटने के बाद, 11 अगस्त 1952 को, सर सैयद हाल मे उनके सम्मानार्थ दिये गए भोज के अवसर पर उन्होंने कहा था :

"मैं चार महीने बाद अलीगढ लौट रहा हू और मुझे बडी खुशी है। जब भी मैं अलीगढ आता हू मुझे खुशी होती है। जब मैं विद्यार्थी था तब अलीगढ को ही अपना सबकुछ मानता था। यह तब मेरा घर था, मेरा बाग था, मेरा वतन था। अलीगढ जब किसी भी वजह से, कुछ वक्त के लिए भी, मुझसे छूट जाता था तब मेरा दिमाग अपने इस घर, इस बाग, इस वतन के ही खयालों मे डूबा रहता था। मैं सिर्फ इसी के बारे मे सोचा करता था, यही मेरी बननेवाली जिंदगी का एक हिस्सा था। (लेकिन) जब मैं विद्यार्थी था तब भी मैं अलीगढ से बिछुड़ा हुआ था। मैंने और मेरे कुछ दोस्तो ने इस सस्था के खिलाफ बगावत कर दी थी। इस सस्था को हम जो कुछ बनाना चाहते थे, यहा के अधिकारी उसके खिलाफ थे, हम इसका जो सही उद्देश्य समझते थे उमसे वे सहमत नही थे।…तब मैं साहेब बाग मे रहता था। पुलिस ने आकर मुझे एक ट्रक मे बिठा दिया और रेलवे स्टेशन ले गई। यहा मेरे आने पर रोक लगा दी गई। इसके बाद मैं और मेरे सहयोगी जामिया मे काम करने लगे। यहां से विद्रोह करने के बाद ही हमने जामिया की स्थापना की थी, मगर हम जामिया मिल्लिया को इससे अलग कभी नही समझते थे। मैंने पूरे दिल से जामिया मिल्लिया मे 27 साल तक काम किया क्योंकि मैं महसूस करता था कि वहां भी मैं अलीगढ के लिए ही काम कर रहा हूं। मुझे यकीन था कि किसी न किसी दिन हम अलीगढ़ लौटेंगे ही और इसे अपनी आशाओं और सपनो का केंद्रबिंदु बनाएगे…"

यह उद्धरण 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट' से लिया गया गया है और ऐसा लगता है कि उसने उनके भाषण का विवरण पूरा और शब्दश: नही दिया है, हालांकि उसका सारांश बहुत करके ठीक ही दिया गया है। किंतु शिक्षा के जिस आदर्श का प्रतिनिधित्व अलीगढ करता है उसकी उस तीव्र आलोचना के साथ, जिस पर एक पिछले अध्याय में हम विचार कर चुके हैं, घर की इस याद का कोई मेल नही

बैठता। और उपर्युक्त भाषण के कोई आठ दिन बाद ही डा. जाकिर हुसैन ने 'विद्यार्थी संघ' के समक्ष बोलते हुए कहा था :

"किसी देश के सबसे अधिक मेधावी लोगों के नाते आप उन थोड़े से लोगों में से हैं जो अपनी जिंदगी का एक खासा हिस्सा ज्ञानोपार्जन और (जीवन के लिए) प्रशिक्षण में बिताते हैं। आपसे यह उम्मीद की जाती है कि आपका चरित्र अच्छा होगा। दूसरे विश्वविद्यालयों में क्या हो रहा है, और वहां के विद्यार्थी क्या कर रहे हैं, यह आपको नही सोचना है। हमारे यहा अभी भी ऐसे विश्वविद्यालय नही हैं जो सचमुच अच्छे हों। अगर किसी विश्वविद्यालय मे हमें ऐसे (आचरण के) उदाहरण मिलें जो अशिक्षित और असंस्कृत लोगो मे देखने को मिलते हैं, तो यह कितने अफसोस की बात है। हम किसी भी चीज को परखते नहीं हैं, हमारे अंदर आत्मसयम नही है। अगर चौदह पद्रह साल तक शिक्षा पाने के बाद भी कोई आदमी अपने ऊपर नियंत्रण नही रख सकता तो वह जानवरो से किस मानी में बेहतर है···? उतावलापन और आत्मसम्मान का अभाव ऐसी बुराइयां हैं जिनसे हर भले आदमी को बचना चाहिए। हमें (मनुष्य होने के नाते) एक प्रतिष्ठा मिली हुई है जिसका तकाजा है कि हम आत्म निरीक्षण मे लगे रहें। आपको अपने चरित्र का, अपने व्यक्तित्व का, निर्माण करना ही होगा, नही तो आपका यहां आना, और शिक्षा प्राप्त करना, सभी अपने को धोखा देना है।"

जो लोग डा. जाकिर हुसैन के बोलने के तरीके को जानते थे उन्होंने देख लिया होगा कि 11 अगस्त 1951 के उनके भाषण, जिन्हे पहले उद्धृत किया जा चुका है, उनकी प्रकृति और संस्कृति के हिसाब से अधिक से अधिक भर्त्सनापूर्ण थे, और 19 अगस्त 1952 के उनके भाषण से ऐसा नही प्रतीत होता कि विद्यार्थियों मे आमतौर पर अच्छी दिशा मे कोई परिवर्तन हुआ था। इससे भी ज्यादा आम, और समझ सकने की क्षमता रखनेवालों के लिए उतनी ही कटुतापूर्ण थी, उनकी यह शिकायत कि उन्होने जो कुछ किया था और जो वह तब भी करना चाह रहे थे उसका कोई असर नही हो रहा था। उन्होने यह भाषण सर सैयद अहमद खा के व्यक्तित्व और उनकी उच्च आकांक्षाओ की ओट मे दिया था। इसके लिए उन्होंने जो मौका चुना वह था 17 अक्तूबर 1954 को मनाया जाने वाला सर सैयद दिवस। 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट' ने कुछ अचरज के साथ ही यह विवरण दिया कि डा. जाकिर हुसैन सारी सुबह उस सभा के लिए प्रबंध करने में ही व्यस्त

रहे थे, और जैसे-जैसे अतिथि लोग आते गए थे वह उनकी इतनी ज्यादा खातिर करते गए थे जितनी कि मुतवल्लि के रूप में स्वयं उनकी किसी भी मौके पर नहीं की गई थी।

"सर सैयद कुछ कर दिखाना चाहते थे।[1] वह सिर्फ एक जिंदगी ही नहीं बिताना चाहते थे, वह बराबर के लिए जिंदा रहना चाहते थे। लेकिन उनके लोग उन्हें मार डालने पर तुले हुए थे। अपने किये हुए काम के बल पर ही हम जिंदा रहे आते हैं, मगर लोग काम से जी चुराना चाहते थे, उससे दूर ही दूर रहना चाहते थे।

"सर सैयद वह सब करने के लिए आगे बढ़े जो दूसरे नहीं करना चाहते थे। वह चाहते थे कि खेती के बारे में किताबें लिखी जाएं। जब कोई भी इसके लिए तैयार नहीं हुआ तो वह खुद उन्हें लिखने बैठ गए। इस सभा में कई बड़े-बड़े विशेषज्ञ मौजूद हैं जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहें लेते हैं। अपने-अपने विषयों पर उन्होंने कितनी किताबें लिखी हैं? सर सैयद ने एक वैज्ञानिक समाज स्थापित किया और अनुवाद का काम शुरू कर दिया। वह काम बंद कर दिया गया। उन्होंने उर्दू साहित्य की श्रीवृद्धि करनी चाही। लोगों ने उनका विरोध किया। उन्होंने एक कालेज खोला। उसके काम को उन्होंने बढ़ाना चाहा, उसे एक उर्दू विश्वविद्यालय का रूप देना चाहा, अंग्रेजी की शिक्षा एक दूरदर्शी पैमाने पर देनी चाही, फारसी और अरबी के अध्ययन का एक केंद्र खोलना चाहा। उन्होंने बहुत कुछ करना चाहा, लेकिन एक आदमी अकेला कितना कर सकता है? उनके साहस, उनकी उच्च आकांक्षा, उनके दृढ़ संकल्प को लोग बरदाश्त नहीं कर सके। उन्होंने अपने संप्रदाय को ऊंचे स्तर तक उठाना चाहा, निकम्मे लोगों ने उन्हें खींचकर अपने स्तर तक ले आना चाहा। सर सैयद ने उनके साथ समझौता किया। जो लोग आराम की जिंदगी बिताना चाहते थे वे डिप्टी कलक्टरों और तहसीलदारों के ओहदे मिलने से ही संतुष्ट हो गए; जो किरानी का काम करके ही संतुष्ट रह सकता था उसे किरानी का काम मिला। जिनके अंदर महत्त्वाकांक्षा और हिम्मत थी उन्होंने उन्हें सहयोग दिया…"

इस खरी आलोचना के जरिये अपने दिल का गुबार निकालने के इस इरादे को

---

[1] यह विवरण शब्दशः नहीं जान पड़ता।

सामने रखकर ही उन्होंने उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में उस समारोह की व्यवस्था मे इतनी ज्यादा दिलचस्पी ली थी और अपने पद के गौरव को ध्यान में रखते हुए अधिक से अधिक शिष्टता और नम्रता बरती थी। एक साल और बीत जाने पर वह इस नतीजे पर पहुंच गए कि उनके बस मे जितना था वह कर चुके। उनके कागजों मे कुछ ऐसी खतकिताबत मिली है जिससे यह प्रकट होता है कि उनके दोस्तों को यह पता चल गया था कि मार्च 1956 में वह इस्तीफा दे देने वाले हैं। लेकिन हमे यही मानकर चलना होगा कि अपना यह फैसला उन्होंने 1955 के ही मध्य मे कर लिया था। वह सिर्फ इस्तीफा ही नही देना चाहते थे। अपने पद की अवधि के सूर्यास्त के समय विश्वविद्यालय के समूचे चित्रपट पर वह इतने रंगो की छटा बखेर देना चाहते थे कि हर कोई यही समझे कि यह दिन एक खुशी और बहार का दिन था। और यह कोई भी न समझ पाए कि डा जाकिर हुसैन का असल मशा तो अपने सभी कर्जों को, बिना जरा भी इस बात का खयाल किये कि दरअसल उन पर कोई कर्ज था भी या नही, इस तरह चुका देने का था कि रचमात्र भी न्यायभावना रखनेवाला हर व्यक्ति यही देखे कि हिसाब-किताब को साफ करने की अब कोई गुजाइश ही नही रह गई। नवंबर 1955 में प्रधान मत्री जवाहरलाल नेहरू को, जो तब अपनी कीर्ति के शिखर पर थे, मौलाना आजाद लाइब्रेरी और सैफी होस्टल के शिलान्यास के लिए निमंत्रित किया गया था, और उनका स्वागत करते हुए डा. जाकिर हुसैन ने कहा :

"मेरा कितना बडा सौभाग्य है कि मुझे एक प्यारे और सम्मानित अतिथि, भारत के प्रधान मत्री, पडित जवाहरलाल नेहरू का, इस विश्वविद्यालय में स्वागत करने का अधिकार प्राप्त हुआ है। किंतु इस अधिकार के साथ एक कठिन कर्त्तव्य भी जुड़ा हुआ है। किसी औपचारिक स्वागत की अभिव्यक्ति किसी न किसी प्रकार शब्दो के माध्यम से की जा सकती है। लेकिन जब पानी से लबालब भरे हुए बरसात के काले बादल सूखी और प्यासी धरती के ऊपर मंडराने लगते हैं, और उसका जर्रा-जर्रा जिंदगी की किसी छिपी हुई धारा से स्पंदित हो उठता है, तब बादलों का स्वागत करने के लिए धरती किसी प्रकार की भाषा को काम में नही लाती। पतझड़ की घातक हवा जब दरख्तों के ऊपर होकर गुजर जाती है और उनकी शिराओ में होकर फिर से जब रस बहने लगता है, तब बसंती हवा का स्वागत करने के लिए कलिया टहनियों के अंदर से झिझकती और सकुचाती

की झांकने लगती हैं और फिर आनंद के ज्वार में अचानक खिल उठती हैं; पेड़-पौधे पिराग के अपने प्रचंड उल्लास को प्रकट करने के लिए स्वागत भाषण की अपेक्षा नहीं रखते। वसंत के आगमन के साथ-साथ जब पहला पक्षी बाग में आ पहुंचता है तो समूचे बाग में मुस्कुराहट खिल उठती है और खुशी की मस्ती में वह झूम उठता है, फिर भी वह मुंह खोलकर कुछ कहता नहीं है। लेकिन इंसान ऐसा बेवकूफ है कि ऐसे क्षणों में भी वह यही सलाह को भूल जाता है कि इस तरह के रंगीन भावों की अभिव्यक्ति प्यार और हसरत भरी चितवन के जरिये ही होनी चाहिए। वह शब्दों के जरिये कुछ कर डालने की तमन्ना रखता है, और फिर अपनी अक्षमता पर बेहद शर्मिंदा हो उठता है। मैं भी ऐसा भोंदू और बेवकूफ हू कि अच्छे से अच्छे शब्दों में अपने भावों को प्रकट करने के लिए उठ खड़ा हुआ हू, मगर यह भी जानता हूं कि ऐसा करने में मैं असमर्थ ही रहूंगा। फिर भी, मुझे उम्मीद है कि मैं जो कहना चाहता हू उसे पंडित जी समझ लेंगे।

"पंडित जी, इस विद्यालय की ओर से, इसके अधिकारियों की ओर से, जो अच्छी तरह जानते हैं कि इस विश्वविद्यालय जैसे शिक्षा केंद्र चीजों की बिक्री नहीं करते बल्कि ये ऐसे स्थान हैं जहां मस्तिष्कों और चरित्रों का निर्माण होता है, मैं आपका हार्दिक स्वागत करता हू। वे जानते हैं कि अपने ध्येयों की पूर्ति के लिए अच्छे से अच्छे अध्यापकों को, अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग वालों को, यहां इकट्ठा कर सकना उनके लिए सौभाग्य की बात होगी। ऐसे लोगों को पाकर उन्हें चाहिए कि विचार और अभिव्यक्ति की उनको पूरी स्वतंत्रता दें, क्योंकि केवल स्वतंत्रता के ही वातावरण में ज्ञान और मानव व्यक्तित्व फलफूल सकते हैं। ऐसे लोगों को राष्ट्र के जीवन निर्माताओं के रूप में देखा जाना चाहिए, उनके साथ शिष्टता और सम्मान का व्यवहार किया जाना चाहिए और नवयुवकों को शिक्षा देने के अपने आकर्षक किंतु कठिन कार्य को संपन्न करने के लिए उन्हें हर तरह की सहूलियत दी जानी चाहिए। अधिकारियों को इस बात का भी खयाल रखना चाहिए कि विद्यार्थी आराम से रह सकें और एकनिष्ठता के साथ अध्ययन और अनुसंधान में दत्तचित रहें। अच्छे शिक्षकों और उत्साही विद्यार्थियों को उन्हें इस तरह एक दूसरे के नजदीक लाना चाहिए कि शिक्षक का ज्ञान और विद्यार्थी की ज्ञानपिपासा, शिक्षक की बुद्धिमता और विद्यार्थी की कल्पना शक्ति, शिक्षक का स्नेह और विद्यार्थी की आस्था अच्छे दिमागों और

अच्छे व्यक्तित्वों का निर्माण करने के लिए एक साथ आ मिलें और जीवन के ऐसे दृष्टिकोण की साकार मूर्ति बन जाएं कि उनकी सेवा राष्ट्र के जीवन की सुंदरता को रूपांतरित, विकसित, पवित्र और प्रकाशित करे। इस विश्वविद्यालय के अधिकारियों की ओर से, जो यह जानते हैं कि उनके विचारों और योजनाओं की आप कद्र भी कर सकते हैं और उन्हें पूरा करने में मदद भी कर सकते हैं, मैं आपका स्वागत करता हूं।

"इस विश्वविद्यालय के अध्यापकों की ओर से मैं आपका स्वागत करता हूं। वे अपने को जनता का सेवक मानते हैं और अपने कार्य के सामाजिक महत्त्व को पूरी तरह समझते हैं। वे यह महसूस करते हैं कि उनके कंधों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, और जानते हैं कि उसे वह जितनी खूबी के साथ निभाएंगे उतना ही उनके समाज का भविष्य उज्ज्वल होगा। अपने विद्यार्थियों को वे राष्ट्र की सबसे कीमती संपत्ति मानते हैं, और इन विद्यार्थियों की सही शिक्षा और विकास को उच्च आध्यात्मिक महत्त्व का स्रोत समझते हैं। वे जानते हैं कि शैक्षिक स्वतंत्रता के वातावरण में पूर्ण विचार स्वातंत्र्य को कायम रखते हुए अपने सामाजिक दायित्वों के साथ पूरा न्याय किस तरह किया जाता है। कक्षा के अंदर या खेलकूद के मैदान में, छात्रावास की जिंदगी में या मनोरंजन वाले क्षेत्र में, वे अपनी पूरी शक्ति से काम करने को तैयार रहते हैं, और इसका यही पुरस्कार चाहते हैं कि उनके विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का निर्माण हो। उन सभी की ओर से मैं आपका स्वागत करता हूं, और यह निवेदन करना चाहता हूं कि आपके व्यक्तित्व में उन्हें एक प्रबुद्ध मस्तिष्क और स्नेहशील हृदय का उत्कृष्ट सम्मिश्रण दिखाई देता है; समाज सेवा के मार्ग पर निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ आपका व्यक्तित्व इस तरह आगे बढ़ा जा रहा है कि उनके लिये वह एक अमोघ और जीता-जागता उदाहरण बन गया है, और वे अपने हर काम में उसे अपना आदर्श समझते हैं।

"और सबसे ज्यादा, पंडित जी, मैं उन होनहार नवयुवकों और नवयुवतियों की ओर से आपका स्वागत करता हूं जिनके लिये ही इस विश्वविद्यालय को चलाया जा रहा है। आज उनकी आंखों में हमेशा से कहीं ज्यादा चमक है क्योंकि आज आप उनकी आंखों के सामने हैं, लेकिन जब आप सामने नहीं होते तब भी वे आपके प्रति अपने प्यार को, आपके प्रति अपनी आस्था को, दिल के अंदर एक कीमती खजाने की तरह छिपा कर रखते हैं।

"आजादी हासिल करने के लिये आपने जो कुरबानियां की हैं, गुलामी की जंजीरो को तोड़ने के लिये आपने जो जोखिम उठाए हैं, उनकी वजह से उनके दिल आपके लिये श्रद्धा से परिपूर्ण हैं। आजादी मिल जाने के बाद उसे कायम रखने के लिये, और, लोगों की निगाह में, उसकी कीमत बढ़ाने के लिये, आप बराबर जो कड़ी मेहनत करते आ रहे हैं उससे इन विद्यार्थियों के अंदर बार-बार यह ख्वाहिश पैदा होती है कि अपनी पढ़ाई पूरी करके वे आपके काम मे खुद भी हाथ बंटाएं। लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि इनके दिल में आपके लिये इतना लगाव और इतनी मोहब्बत है, आपके प्रति ऐसी निष्ठा है, कि नौजवान होने के नाते अपने जोश खरोश मे, या जल्दबाजी मे ही, वे परिस्थितियो के चपेट मे आकर दुविधा मे पड जाते हैं और अपने बुजुर्गों की ओर से निराश हो उठते हैं और उनकी दुविधा और निराशा के भाव को भला आपके ज्यादा जानने वाला दूसरा कौन होगा ?—तो भी आपके प्रति उनकी श्रद्धा मे कमी नही आ पाती। आपको वे अपनी कामनाओ, अपनी महत्त्वाकाक्षाओ और अभिलाषाओं की साकार मूर्त्ति के रूप मे देखते हैं, जिसकी वजह से ही यह बात होती है कि उनके वर्ग, यानी विद्यार्थियो, के बारे मे आपके निराश हो जाने से उनके दिल टूट जाते हैं, वे घबडा उठते हैं; तब वे गलत काम भी कर बैठते हैं। लेकिन, पडित जी, हम बुजुर्ग लोग क्या इस मामले मे कम दोषी है ? और मैं, जो पैंतीस साल से उनकी सेवा करता आ रहा हूं, इस बात का गवाह हूं कि हमारे नौजवान बड़े ही अच्छे नौजवान हैं। उनके दिल सोने के हैं, नही, उससे भी ज्यादा कीमती धातु के बने हैं, क्योकि अपने देश के प्रति उनका प्रेम, उसकी प्रतिष्ठा को बढाने की उनकी आकांक्षा, उसके भविष्य में आस्था, और अच्छाई, उत्कृष्टता और न्याय के प्रति उनकी निष्ठा उनके अस्तित्व के कण-कण मे व्याप्त है। यह कह कर मैं किसी गूढ रहस्य का उद्घाटन नही कर रहा हूं कि आप उनकी आंखों के तारे हैं। उनकी ओर से मैं आपका स्वागत करता हूं, हालांकि मैं जानता हूं कि अपनी चमकती हुई आंखों की रोशनी, फरिश्तो के से अपने चेहरों की रौनक, अपने रूमानी दिलो की धड़कन से वे आपका जैसा स्वागत कर रहे हैं उनके मुकाबले मेरे ये शब्द कुछ भी नही हैं।"

इसमें आत्मश्लाघा कही नही थी। डा. जाकिर हुसैन ने खुद जो कुछ किया था उसका कोई उल्लेख नही किया; वह तस्वीर में कही थे ही नहीं। यथार्थता की

उपेक्षा भी नहीं थी, क्योंकि सर सैयद दिवस वाले उनके भाषण के बाद गुजरने वाले इस एक साल के अंदर कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। चापलूसी भी उसे नहीं कहा जा सकता था। हम इसे एक आदर्शीकरण ही कह सकते थे, भाव-शून्य जड़ पदार्थ पर हृदय की, विषाद पर आस्था और आशा की विजय, एमिली डिकिसन के विरोधाभास में प्रतिबिंबित होने वाली यह परम असंगति :

बिछोह ही स्वर्ग की हमारी जानकारी है...

सफाई और सुघड़ता के साथ किसी काम को न करना या न होते देखना डा. ज़ाकिर हुसैन को बिलकुल बर्दाश्त नहीं था। और बहुत कम मौके आते थे जब वह किसी काम से सचमुच संतुष्ट होते थे। जब कभी हम दोनों एक साथ किसी मुस्लिम मृतक संस्कार में शामिल होते थे तो मुझे याद है कि उसके बाद अक्सर ही वह मुझ से कहने लगते थे, "मुजीब साहब, अगर मुझे दफनाते वक्त ऐसे ही भोंडे ढंग से यह सब हुआ, तो बताए देता हूं कि मैं उसी दम उठ खड़ा हूंगा और चिल्ला उठूगा।" उनका इरादा यह था कि 'विजिटर' को अपना इस्तीफा भेज देने पर, जिस बीच उस पर विचार होता रहेगा, वह सऊदी अरब के अपने सफर के एक पहले के वादे को पूरा कर डालेंगे, फिर अलीगढ लौट कर चुपचाप वहां से खिसक जाएंगे। लेकिन उनके पद की अवधि का अंत उतने सुंदर ढंग से नहीं हुआ जैसा कि उन्होंने चाहा था। प्रधानमंत्री के स्वागत वाले उनके भाषण और सऊदी अरब के लिये उनके विदा होने के बीच कई मौके आए जब उनका विरोध मुखर ही नहीं उत्तेजक भी हो उठा। शैक्षिक समिति कीएक विशेष रूप से अप्रीतिकर बैठक के बाद वह बोले कि "उन्हें कुछ कहने भर की देर है, कि मैं मर मिटूगा।" अलीगढ छोड़ने से कुछ ही पहले उन्होंने एक भाषण दिया था जिसे अखबारों में उद्धृत किया गया था; उसमें उन्होंने अपनी प्रकृति से कहीं ज्यादा साफ तौर पर यह कह डाला था कि अलीगढ़ मे कुछ भी सुधार होने की आशा वह खो बैठे हैं। 1957 को उन्होंने वहां जो दीक्षांत भाषण दिया था और अपनी विद्यादायिनी संस्था के प्रति जिस प्रकार वह स्नेह-गद्‌गद हो उठे थे, वह आंशिक रूप में कुलपति के रूप में वहां बिताए गए अपने अंतिम दिनों की कटुता के प्रक्षालन के ही रूप में था।

एक अंतराल

अलीगढ छोड़ते समय डा. जाकिर हुसैन को उम्मीद थी कि कम-से-कम कुछ वक्त तक तो वह अपने मन के मुताबिक जिंदगी गुजार सकेंगे। जिस ढग से यह बात वह कहा करते थे उससे यही लगता था कि सिर्फ यही उम्मीद उन्हे जिंदा रखे हुए थी। लेकिन तब तक वह पूरी नही हो पाई थी, और आगे की भी संभावनाएं उज्ज्वल तो कदापि नही मानी जा सकती थी, खासतौर से इसलिये कि वह खुद भी एक निष्क्रिय जीवन बिताने मे स्वभाव से ही असमर्थ थे। उनकी योग्यताओ की भी कही अधिक व्यापक रूप मे कदर थी, और जो अवसर उन्हे मिलने चाहिये थे उनसे उन्हे वंचित रखना भी अक्षम्य था।

इसलिये, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, योजना आयोग और यूनेस्को से डा. जाकिर हुसैन को अलग रखे जाने की कोई सफाई देने की कोशिश कोई ऐसा शख्स ही करेगा जिसकी दफ्तरशाही के निर्णयो और कार्यों की परम बुद्धिमत्ता में पूर्ण आस्था होगी। अलीगढ छोड़कर जब वह जाने ही को थे और उन्हे, एक के बाद एक, विदाई के कितने ही प्रीतिभोज दिये जा रहे थे, तब डा. खलीक अहमद निजामी ने भी शाम के खाने की उन्हे दावत दी। उन्होने उसे नामंजूर कर दिया, पर साथ ही वादा किया कि जब वह अकेले में और आजादी के साथ उनसे बातें

कर सकेंगे, जरूर आएंगे। एक या दो दिन बाद वह डा. निजामी के घर पर सवेरे की नमाज के बाद जा पहुचे, और मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ हुई अपनी एक मुलाकात के बारे मे बताया जिसमें कि उन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिये कहा गया था। उन्होंने कहा कि किसी भी पद को प्राप्त करने की बात उन्होंने कभी भी नही सोची थी, लेकिन जब यह पद देने की बात उठी तो वह उसकी ओर आकृष्ट हो गए। बाद को मौलाना आजाद का विचार बदल गया, हालाकि इस मतपरिवर्तन का उन्होंने कोई आभास नही दिया। अचानक ही एक दिन रेडियो पर डा जाकिर हुसैन ने सुना कि डा. देशमुख की उस पर नियुक्ति हुई है। उन्हे बड़ी घृणा हुई।[1] शिक्षा मंत्रालय ने जब उनके साथ फोन पर संपर्क स्थापित करना चाहा तो उन्होंने बात करने से इंकार कर दिया। हो सकता है कि फोन पर कोई सफाई पेश की जाने वाली थी। कुछ दिनों बाद, जब कि वह दिल्ली मे थे, प्रो. हुमायू कबीर उनसे मिलने के लिये आए, और बोले कि मौलाना आजाद भी उनसे मिलना चाहते हैं। उन्होंने जवाब दिया, 'मेहरबानी करके मौलाना आजाद से कह दें कि उनके मकान से मेरे मकान का फासला उतना ही है जितना कि मेरे मकान से उनके मकान का फासला।' काफी वक्त बाद, किसी सार्वजनिक समारोह के अवसर पर वे दोनो जब मिले तो मौलाना आजाद ने यह कह कर अपने कार्य का औचित्य सिद्ध किया कि विश्वविद्यालयों के मौजूदा हालात मे किसी कड़े आदमी की बड़ा जरूरत थी। डा. जाकिर हुसैन कितनी ज्यादा सूझबूझ वाले अध्यक्ष सिद्ध हुए होते, यह इसी से जाहिर है कि भारत सरकार को, और वि. अ आ.(यू जी. सी.) को, जिसके कि वह भी एक सदस्य थे, उन्होंने किस तरह, इस सदी के छठे दशक के अंत मे जिन विश्वविद्यालयों की शताब्दियां मनाई गई उनके लिये, एक-एक करोड रुपये के अनुदान के लिये राजी किया।

वि. अ. आ. के अध्यक्ष का चुनाव करते वक्त न तो एक 'कड़े' आदमी की

---

[1] जान पड़ता है कि प्रधानमंत्री भी उत्सुक थे कि डा जाकिर हुसैन ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सभापति हो। वीरेंद्र अग्रवाल, एम पी ने मुझे बताया है कि खबर यह थी कि उन्होंने मौलाना आजाद से कहा कि उनका मतपरिवर्तन पीठ मे छुरा भोंकने जैसा था।

जरूरत ने, और न महज राजनीतिक दबाव ने, मौलाना आजाद को प्रभावित किया था। मुझे याद है कि डा. जाकिर हुसैन ने मुझे यह बात बताई थी कि योजना आयोग में मौलाना आजाद उन्हें इसलिये नहीं चाहते थे 'कि तब मैं उन्हीं के सिर पर जा बैठता।' मौलाना आजाद डा. जाकिर हुसैन को दिल्ली में प्रभाव या सत्ता के किसी पद पर क्यों नहीं चाहते थे, इसके कारणों पर विचार करने में अब कोई तुक नहीं है। लेकिन योजना आयोग के लिये वह बड़े ही लाभदायक सिद्ध होते। पर अब हमारे सामने जो कुछ रह गया है वह इस क्षेत्र में उनकी चहलकदमी भर है—योजना के तरीकों और दूसरी पचवर्षीय योजना के ध्येयों की एक कडी और खरी आलोचना मात्र। सितबर 1956 में जब इस योजना पर बहस हो रही थी तब राज्य सभा में उन्होंने निम्नलिखित भाषण दिया था।[1]

शुरुआत उन्होंने योजना मंत्री को औपचारिक रूप में बधाई देते हुए की थी। "···लेकिन उन्हें बधाई देने के बाद, मैं समझता हू कि मैं यह बात न उनसे छिपा कर रख सकता हू और न अपने से, कि गिरते-पडते ही हम सफलता की ओर बढते आए है। क्योंकि, उनसे ज्यादा और कौन इस बात को जानता होगा कि उस (अर्थात्, प्रथम) योजना को बनाते वक्त जानकारी के मामले में हम कितने कच्चे थे? उनसे ज्यादा और कौन यह जानता होगा कि उस योजना को लचीला बनाए रखने के लिये उसके कार्यान्वयन पर साधारण रोकथाम रखने के मामले मे कितनी ज्यादा त्रुटियां हुई? उनसे ज्यादा और कौन जानता होगा कि उस वक्त विशिष्ट परियोजनाओं और प्रायोजनाओं को स्पष्ट रूप मे और बारीकी के साथ पेश करने तक के मामले मे कितनी कठिनाइयां सामने थी? सभी कुछ तो अस्पष्ट था। आकडे असतोषजनक थे, जो जानकारी दी गई थी वह, अधिकाश मामलों में, अविश्वसनीय थी, और, लोगों को यह मालूम ही नहीं था कि उन्हें करना क्या है। इसलिये इसे दरअसल डगमगाते हुए ही सफलता की ओर बढना कहा जायगा और इसके लिये हमें अल्लाह का शुक्र मानना चाहिये। चूंकि अब हम गरीबी, अज्ञान और रोग ही नहीं, अधकार की सभी जमी हुई शक्तियों के

[1]'पार्लियामेंटरी डीबेट्स इन दि फोर्टींथ सेशन आफ दि राज्य सभा' (राज्य सभा के चौदहवें अधिवेशन में हुए ससदीय वाद विवाद), खड 14 (1-13 सितबर 1956), पृ 3532-42।

खिलाफ छेड़े जाने वाले जंग के दूसरे दौर की ओर बढ़ रहे हैं, मैं समझता हूं कि यह मान लेना महज बेवकूफी होगी कि एक बार अगर हम भूलों के बीच भी आगे बढ़ आए तो हम बार भी उसी तरह बढ़ जाएंगे। पहली योजना की सफलता *संतोषजनक रही है, लेकिन उस सफलता के बारे में क्या हमें* यह नाजुक सवाल पूछने से अपने को रोक देना चाहिये कि यह सफलता क्या और भी बड़ी नहीं हो सकती थी, या यह, कि क्या वह सफलता इससे कहीं कम बलिदान या कीमत पर उतने ही अंश में नहीं पाई जा सकती थी, जिसका मतलब यह हुआ कि हमें अपने से यह सवाल करना चाहिये कि उस योजना के कार्यान्वयन में जितने घटकों का हाथ था वे क्या अपने सर्वोत्तम रूप में थे, और क्या उनका संयोजन अधिक से अधिक मात्रा में हुआ था।

"जब किसी ऐसी बड़ी योजना पर काम शुरू होता है जिसके अंतर्गत जनता की करीब-करीब पूरी जिंदगी ही आ जाती है—आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जिंदगी—तब घटकों के असंख्य संयोजन संभव हो सकते हैं और यह आवश्यक है, कम-से-कम संसद का तो यह आवश्यक कर्तव्य है कि इन संयोजनों और समाधानों की विभिन्न संभावनाओं को देखा जाए, उनका अध्ययन हो और सोच-समझ कर तथा स्पष्ट रूप से उसका पता लगाया जाए, और अनेक सुस्पष्ट कारणों में से एक का चुनाव हो। मुझे इसमें संदेह है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के बारे में ऐसा किया गया था। मुझे इसमें संदेह है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बारे में ऐसा किया जा रहा है। मुझे बेहद खुशी होगी अगर मुझे यह बताया जाए कि हमने जो प्राथमिकताएं निर्धारित की हैं, जो विभिन्न ध्येय अपने सामने रखे हैं, उनके पहले बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया था, और अगर यह भी बताया जाए कि हमारे सामने जो ध्येय हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए जिन घटकों के संभाव्य संयोजनों को हमने स्वीकार किया है उनके पहले काफी बड़ी मात्रा में, विश्लेषण के उस साधन का उपयोग किया गया है जो 'आपरेशन एनालिसिस' (क्रियापरक विश्लेषण) के नाम से प्रसिद्ध है और जो अधिकांशतः रैखिक कार्यक्रमों पर ही निर्भर करती है। हम यह जानना पसंद करेंगे कि क्या योजना के किसी बौद्धिक प्रणालीविज्ञान का विकास किया गया है, या हमने कुछ आंकड़ों को, अस्पष्ट और संदिग्ध आंकड़ों को, ही अपना आधार बनाकर, महज सरल अंकगणित से, दूसरे आंकड़े तैयार कर लिए हैं। क्या हमारा प्रयास एक युगपत्

समस्या का कोई ऐसा समाधान खोज निकालने की ओर है जिसमें हर चीज़ हर दूसरी चीज़ को प्रभावित करे, क्योंकि किसी योजना में इससे कम कोई बात तो होनी नहीं चाहिए? यहां जो बहस मैंने सुनी है उससे, और बाहर भी कुछ विख्यात लोगों के साथ मेरी जो बातचीत हुई है उससे, मुझे यह महसूस हुआ है कि इस योजना के बारे में लोगों का खयाल यही है कि किसी भी एक आंकड़े को लेकर इसकी शुरुआत हो रही है, और बाकी सब आंकड़े उसी के परिणामस्वरूप हैं। लेकिन सच पूछा जाए तो यह एक युगपत् समीकरण है जिसमें 'अज्ञातों' की संख्या अनेक है, और निर्धारक घटकों की जब तक अच्छी तरह जानकारी न हो तब तक उन अनेक 'अज्ञातों' के बारे में, जिन्हें कि जानना बाकी है, किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है। मेरा खयाल है कि हमें अगर यह बता दिया जाए कि इस योजना को बनाते वक्त इस तरह की चीज़ें की गई हैं तो यह सदन अत्यन्त आभारी और आश्वस्त महसूस करेगा, क्योंकि इस योजना को हमारे सामने रखे जाते समय यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि यह सब किया गया है या नहीं। सच पूछें तो, इस योजना के ढांचे या योजना के साथ मिलान करने पर मेरी अपनी धारणा यही बनी है कि ऐसा नहीं किया गया है। मुझे लगता है कि इसमें कुछ परिवर्तन किये गए हैं। इस स्पष्ट विचार को, कि उत्पादन के साधनों को उत्पन्न करने वाले उद्योगों की स्थापना ही आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण कारक है, तिलांजलि दे दी गई है। आधारभूत उद्योगों पर लगी हुई पूंजी घटा दी गई है और ज्यादा जोर परिवहन पर दिया गया है।...मेरी राय में इसका मतलब है आर्थिक विकास की नीति में ही परिवर्तन। जान पड़ता है कि इस योजना में उत्पादन के साधनों को उत्पन्न करने वाले उद्योगों की उन्नति को, जिसे मैं कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता हूं, आर्थिक विकास महत्त्वपूर्ण कारक नहीं माना गया है, बल्कि परिवहन के विकास को ही आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण कारक मान लिया गया है। मूल नीति में किया जाने वाला यह परिवर्तन मुझे गैरसरकारी और सरकारी क्षेत्रों की भूमिका के बारे में सरकार के ही विचार में हुआ परिवर्तन जान पड़ता है, मेरी राय में यह भूमिका इस योजना के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम समाजवादी ढांचे के समाज को गढ़ने जा रहे हैं।...सरकारी क्षेत्र को गैरसरकारी क्षेत्र का ताबेदार बना दिया गया है। आपको गैरसरकारी क्षेत्र में मांग उत्पन्न करनी है और गैरसरकारी क्षेत्र को आप परिवहन की सुविधाएं देना चाहते हैं।

सरकारी क्षेत्र वाले उत्पादन के भी कार्यक्रम में आपको रेल-उपकरण, पोत-निर्माण, लोहा, कोयला और कोक वगैर, का उत्पादन बढाना है। और गैरसरकारी क्षेत्र के पास मशीनो, रसायनों, उर्वरको के उत्पादन के माधन रहेगे।···इस तरह, गैर-सरकारी क्षेत्र को सरकारी क्षेत्र के उत्पादन सस्ते दामों पर मिल सकेंगे, हालांकि सरकारी क्षेत्र स्वयं भी देश के विकास मे वह भूमिका नही ले रहा है जो उसे लेनी चाहिए। मेरा खयाल है कि योजना निर्मातागण अगर इस योजना की समूची भावना को ही नही बदल देना चाहते और अगर इस योजना को समाजवादी योजना बनना है, तो इस बात को उन्हें अच्छी तरह अपने सामने रखना होगा। खासतौर से, अगर सरकारी क्षेत्र के उद्योगीकरण को ही देश की एक जबर्दस्त आर्थिक क्रांति का आधार बनना है, तब तो गैरसरकारी और सरकारी क्षेत्रों की भूमिकाओं की अदलाबदली एक बहुत ही खतरनाक कदम है। और इसमें मजेदार बात तो यह है कि इस योजना मे साधारण विकास के लक्ष्यों को नही बदला गया है।···अगर मैं उन पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल करू जिनके बारे में कुछ लोगो के दिमाग पूरी तरह साफ नही हैं, तो प्रारंभिक अवस्थाओ मे पूजीवाद बड़ी चालाकी से समाजवाद का अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल कर लेगा। इसलिए समाजवाद को सावधान हो जाना है। किसी सुविकसित पूजीवादी जैसी मानव जाति की, कोई भी दूसरी संतान ऐसी नही है जिसमें मुनाफे को सूघ लेने की ओर अपने स्वार्थ को इतनी स्पष्टता के साथ समझ सकने की क्षमता हो। उसके पक्ष मे यह बात तो माननी ही होगी कि उद्योग और मुनाफे के बारे मे उसने अपनी बुद्धि को इतना पैना बना लिया है कि वह किसी वक्त भी आपको परेशानी मे डाल दे सकता है। इसलिए आपको बहुत ज्यादा होशियार रहने की जरूरत है। आप आज एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग कर रहे हैं, आप एक समाजवादी अर्थव्यवस्था को लागू करना चाहते हैं, ओर आप समाज का एक समाजवादी ढाचा तैयार कर रहे हैं। ऐसी स्थिति मे अगर प्रारंभिक अवस्थाओ मे ही सरकारी क्षेत्र गैरसरकारी क्षेत्र की तावेदारी करने लगा तो, मैं समझता हूं, समाज के हमारे समाजवादी ढाचे के भावी विकास के लिए यह घातक होगा।

"कुछ और भी दूसरे खतरे हैं जो मुझे दिखाई पड़ रहे हैं। 48 अरब रुपयो की लागत को प्राप्त करने के लिये जो तरीका अपनाया जाने वाला है उसमे भी एक और खतरा है। जैसा कि आप जानते ही हैं, 12 अरब रुपये बजट के स्रोतों

से मिलने को हैं, 12 अरब रुपये ऋणों से, 12 करोड रुपये घाटे की वित्तीय व्यवस्था से, 8 अरब विदेशी सहायता से, और 4 अरब की जो कमी रह गई है उसके बारे मे कुछ भी साफ नही बताया गया है। ऋण तथा घाटे की वित्तीय व्यवस्था क्रमश संदिग्ध और खतरनाक है। घाटे की वित्तीय व्यवस्था को पचा सकने की क्षमता अधिक माल उत्पादन करने की क्षमता पर निर्भर करती है। उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन बढना चाहिये। तभी घाटे की वित्तीय व्यवस्था सफल होगी। हम जानते है कि हमारे देश मे अन्न के उत्पादन मे एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है वर्षा,और हर साल कितना अन्न उपजेगा, यह बात,न्यूनाधिक मात्रा मे, एक जुआ जैसी है। इस बात को हम नजरदाज नही कर सकते। जरूरी नही कि खाद्यान्नो का उत्पादन हर साल वही होता जाए जैसा कि हमने अपनी योजना मे मान रखा है। 12 करोड रुपये की घाटे की वित्तीय व्यवस्था का मतलब होगा नोटो के चलन मे 75 प्रतिशत की वृद्धि। योजना के ढाचे वाले प्रस्तावो मे आपने जो परिवर्तन किये हैं उनसे मुझे तो यही लगता है कि आपकी वार्षिक आय 5 प्रतिशत की दर से नही बढ पाएगी। अगर इसमे कुछ भी वृद्धि न हो तब भी आप बहुत समझें, मगर वृद्धि हुई भी तो ज्यादा से ज्यादा 3 प्रतिशत की ही हो पाएगी। अगर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की इससे अधिक दर की ही आशा लेकर चलना है, और साथ ही अगर नोटो के चलन मे भी 75 प्रतिशत की और वृद्धि होती है, तो निश्चय ही इससे तो विदेशी मुद्रा का अनुत्पादक उपयोग होगा, या आप नकद आधार पर विदेशी सहायता पाना चाहेगे, मूल्यो मे वृद्धि हुई तो लागत वाला खर्च भी बढ जाएगा, और इसलिये लागत को ही शायद घटाना पड़ जाएगा। और अगर लागत को ही घटाना पड़ गया, तो राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर और भी कम हो जाएगी। भारतीय लोकतंत्र के अदर इस बात का इतना बडा जोश पैदा कर देने के बाद, कि बहुत-से काम होने जा रहे हैं और अगर ये काम होते हैं तो आर्थिक स्थितियो मे भारी परिवर्तन होगा, आप अगर एकाएक लागत को घटा डालते हैं, तो मुद्रास्फीति होने पर, मैं नही कह सकता उस मोह-भग और निराशा से कितनी राजनीतिक उलझनें पैदा होगी। गैरसरकारी क्षेत्र जिस चालाकी से आज सरकारी क्षेत्र को अपना ताबेदार बनाने की कोशिश मे लगा हुआ है उसे देखते, इस सभावना के चरितार्थ होने पर, इस देश मे इस बात के प्रचार को रोक सकना प्राय असंभव हो जाएगा कि हम अबंध नीति की ओर

वापस जा रहे हैं और तब सभी प्रकार की आयोजित अर्थव्यवस्था का मार्ग रोक दिया जाएगा। यह ठीक है कि लोकतन्त्र मे निर्णयो को वदला भी जा सकता है। लेकिन लोकतन्त्र कभी-कभी वड़े बुरे काम भी कर सकता है। कभी-कभी लोकतन्त्र बहुत दूर तक नही देख सकता, और एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों में, अगर लोकतंत्र का पूरी तरह मोहभंग हो जाए तो लोकतन्त्र, भविष्य मे, गैरसरकारी क्षेत्र को मजबूत बनाने के लिये, जो भी किया जा चुका है, उसे रद्द कर दे सकता है···

"···मेरी राय यह है कि अगर साधनो को जुटाने के लिये कही ज्यादा साहसपूर्ण कदम उठाए गए होते तो हम और भी बड़े कदम उठा सकते थे, शायद तब इतने जोखिम भी न उठाने पड़ते। हम भारत की जनता की गरीबी की बात करते हैं, भुखमरी तक की नौबत पहुंच जाने की बात करते हैं। गरीबी तो एक जानी मानी बात है और बार-बार उसकी याद दिलाने की जरूरत नहीं। भुखमरी की बात भी किसी से छिपी नही है। जिसे इसकी खबर न हो वह बिलकुल अंधा ही होगा। लेकिन बड़े अफसोस की बात तो यह है कि कभी-कभी इस गरीबी और भुखमरी की दुहाई इसीलिये दी जाती है कि गरीबी हमेशा बनी रहे। इस देश में गरीबी है लेकिन वह श्रमजीवी वर्ग की है, संपत्तिशाली वर्ग की नही, जिसका राष्ट्रीय आय मे 23 प्रतिशत का ही योगदान है।···यह प्रतिशत करीब-करीब उतना ही ऊंचा है जितना कि अमेरिका में या ब्रिटेन में। जब ऐसी बात है, तो मुझे कोई वजह नही दिखाई देती कि और अधिक साधन क्यों नहीं जुटाए जा सकते। राष्ट्रीय आय का कम-से-कम पद्रह प्रतिशत तो विकास के कार्यों के लिये काम में लाया ही जा सकता है, और उसे अगर उन क्षेत्रों मे लगा दिया जाए जिनसे हमें सर्जनात्मक क्षमता प्राप्त होती है, तो मेरा खयाल है कि वृद्धि की दर 5 प्रतिशत की जगह आसानी से 10 प्रतिशत के हिसाब से आकी जा सकती थी। हिसाब का आधार ही जब अधूरा और दोषपूर्ण है, रोकथाम के तरीके ही जब, जैसा कि हम सभी जानते हैं, त्रुटिपूर्ण हैं, अर्थव्यवस्था मे असाधारण रूप मे बड़ी लागत का समावेश किया जा रहा है, और धन का वितरण करने वालों के अंदर जब यह विचार बहुत ही व्यापक रूप से फैला हुआ है कि योजना के कार्यान्वयन के लिये धन राशि के आवंटन के सिवा और कुछ भी करने-धरने का नहीं है, तब अधिक संभावना इसी की है कि उत्पादित माल के मुकाबले खर्च की जाने वाली

रकम ही ज्यादा होगी। मूल्यों में वृद्धि ही होती चली जाएगी और बंधी-बंधाई आमदनी वाले वर्ग, जिनमें प्राध्यापक और शिक्षक और सरकारी नौकर आते हैं, वे सभी लोग जो, जैसा कि किसी ने कहा है, किसी सभ्य समाज को किसी जंगली समाज से अलग करते है—मुसीबत उठाएंगे—बहुत ज्यादा मुसीबत उठाएंगे; सट्टेबाजों की जीत होगी और वे रुपया बनाएंगे, और नुकसान यह योजना उठाएगी। यह सब मैं किसी को घबडाहट में डालने के लिये नही कह रहा हूं। मुद्रास्फीति के प्रश्न पर विचार किया गया था। मैं समझता हू कि यहां यह जिक्र प्रासंगिक है क्योंकि किसी ऐसी योजना में, जो गरीबी के खिलाफ एक लड़ाई जैसी है, हमें उन स्थितियों के लिये तैयार रहना चाहिये जो सामने आ सकती हैं। किसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने के बाद आप योजना नही बना सकते, क्योंकि तब वह कारगर नही हो सकती। योजना-निर्माताओं के लिये यह जरूरी है कि वे संकट काल के लिये कमर कसे रहें, और मेरा सुझाव है कि करों की एक योजना पहले से तैयार रखी जानी चाहिये ताकि ज्योंही जरूरत आ पड़े, प्रगतिशील कठोर कर लगाए जा सकें; और एक योजना मजदूरों की खपत की प्रमुख चीजों के स्थिरीकरण की; और जरूरत पड़ने पर अन्न और वस्त्र का राशन और नियंत्रण करने की भी। किसी संकट काल के आ जाने पर अगर आप, बिना ठीक योजना बनाए, उन्हें लागू करते हैं तो, पहले तो, आप उन्हें सफल नही बनाते और उनसे वह लाभ नही उठाते जो उठाना चाहिये, बल्कि कितनी ही कठिनाइयां पैदा कर देते हैं। अगर उन पर ठीक से विचार हो चुका रहता है तो वे पहले से ही उस मूल्यवृद्धि को कारगर ढग से रोक सकते हैं जिसकी कि संभावना का पता रहता है…

"अब, जनाब, मैं शिक्षा के बारे में कुछ शब्द कह कर अपनी बात खत्म करता हूं। महोदय, इस योजना को जैसा मैंने समझा है, राष्ट्र द्वारा अपने सामने रखे गए ध्येयों को प्राप्त करने की उसकी नीति का यह एक उदाहरण है। राष्ट्रीय ध्येयों को जितनी स्पष्टता और विस्तार और सुनिश्चितता के साथ और समझ-बूझकर 6 से 14 वर्ष के बीच की अवस्था वाले लड़के लड़कियों की शिक्षा के क्षेत्र में सामने रखा गया है, उस तरह अन्य किसी भी क्षेत्र में, मेरे खयाल से, नहीं रखा गया है। संविधान में एक निदेश यह है कि दस वर्षों के अदर 6 से 14 साल की उम्रों के बीच के सभी लड़के लड़कियों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा निश्चित

रूप से मिलने लग जानी चाहिये। रेलवे लाइनें कितने मील बढ़ा दी जाएं इसके बारे में उसमें कोई निदेश नहीं दिया गया है; इस्पात के उत्पादन के बारे में कोई निदेश नहीं है और न ही, इतनी निश्चितता के साथ और इस रूप में, किसी दूसरी चीज के ही बारे में। संविधान में आपको यह निदेश दिया गया है, और इधर योजना आयोग जानबूझकर और खुल्लमखुल्ला और बेशर्मी के साथ उस निदेश को न मानने के लिये चल पड़ा है। मैं समझता हूं कि योजना आयोग की इससे ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाली और कोई आलोचना नहीं हो सकती। एक पवित्र दस्तावेज में एक ध्येय का उल्लेख किया गया है और वह आपके सामने मौजूद है, लेकिन फिर भी आप जानबूझ कर एक ऐसी नीति निर्धारित करने जा रहे हैं जिसके अंतर्गत हम 6 और 14 साल के बीच की उम्र वाले इन लड़के लड़कियों को अगले पंद्रह साल तक भी स्कूलों में नहीं भेजने वाले हैं। मुझे याद है कि जब मिस्टर सार्जेंट ने 'सार्जेंट स्कीम' के नाम से मशहूर हो जाने वाली अपनी स्कीम पेश की थी तो उन्होंने सबको शिक्षित कर डालने के लिए चालीस साल की मियाद मांगी थी। स्वाधीनता के बाद हम इसे लेकर परेशान से भी दिखाई दिये। मुझे याद है कि माननीय शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने इस बात का बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से उल्लेख किया था और कहा था कि हमारी गुलामी की वजह से ही यह मुमकिन हो पाया कि शिक्षा की यह तुच्छ-सी मात्रा भी चालीस साल बाद मिलने वाली थी। और उन्होंने कहा कि यह काम दससाल में हो जाना चाहिये। उस वक्त भी अविश्वासी और निंदक लोगों ने कहा था कि शायद बीस साल बाद भी हम यही बहस करते दिखाई देंगे कि यह काम दस साल में होना चाहिये या बीस साल में। लेकिन असल बात तो यह नहीं थी। असल बात यही थी कि राष्ट्र का यह संकल्प है कि दस साल के अंदर 6 से 14 साल की उम्र के सभी बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दे दी जाए, लेकिन इस योजना में उसकी कोई व्यवस्था नहीं है। न सिर्फ यह कि इसकी व्यवस्था नहीं है, बल्कि लगता तो यह है कि शिक्षा के साथ हमारा बर्ताव सौतेली मां जैसा है। राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे में राष्ट्र के इस निर्णय के महत्त्व को मैं यहां नहीं समझाने जा रहा हूं, क्योंकि वह तो सबके सामने साफ है ही। फिर भी मैं बताना चाहूंगा कि बुनियादी शिक्षा समिति द्वारा जब 'सात साल' (की अवधि) वाली यह बात रखी गई थी, तब सार्जेंट कमेटी ने आठ साल की

अनिवार्य शिक्षा वाली अपनी स्कीम पेश कर दी। वे और भी आगे ही बढ़े। हम सात साल की अनिवार्य शिक्षा चाहते थे। उन्होंने कहा था कि इसकी अवधि आठ साल की हो। सभी इस बात पर एकमत थे कि सात साल से आठ साल वाली बात ज्यादा बढ़िया है। लेकिन भारतवासियों के साथ तब एक चालाकी की गई थी और आठ साल की उस अवधि को पांच और तीन साल की दो अवधियों में बांट दिया गया था, जिसका नतीजा यह हुआ कि हर कोई यही समझता है कि आठ साल की जगह पांच साल की ही निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा दी जायगी और हर कोई पांच साल की ही बात सोचता जान पड़ता है। लेकिन उस निदेश का अभिप्राय यह नहीं था और न बुनियादी शिक्षा समिति ही यह चाहती थी। कम-से-कम वह सात साल की होनी चाहिये, और अब जब कि राष्ट्र की इच्छा आठ साल की है तो वह आठ साल की ही हो, लेकिन आंकड़ों से हमें पता चलता है कि हर कोई यही माने बैठा जान पड़ता है कि 11 साल की उम्र तक वह खत्म हो जानी चाहिये। दूसरी पंचवर्षीय योजना के आंकड़ों को 501 पृष्ठ पर देखने से आपको पता चलेगा कि 6 और 11 साल के बीच की उम्र वाले बच्चों की जितनी संख्या पिछली योजना के दौरान स्कूलों में गई थी उसके मुकाबले इस योजना के दौरान स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या 25 प्रतिशत ज्यादा होगी। 25 प्रतिशत की वृद्धि बहुत संतोषजनक नहीं है, लेकिन यह वृद्धि सिर्फ 6 से 11 साल के बीच की उम्र वाले बच्चों तक ही सीमित है। क्योंकि, जरा देखिये तो सही, दूसरी पंचवर्षीय योजना वाली अवधि के दौरान 11 से 14 साल के बीच की उम्र वाले बच्चों की संख्या पिछली पंचवर्षीय योजना के दौरान बढ़ने वाली संख्या से भी कम हो जायगी। इससे ज्यादा भयंकर भूल और क्या होगी…।"

अपने भाषण में डा. जाकिर हुसैन ने ऐसे मूलभूत प्रश्न उठाए थे कि उसने बहुत ज्यादा सार्वजनिक दिलचस्पी पैदा कर दी। अखबारों में टिप्पणियां लिखी गईं और चिट्ठियां भी प्रकाशित हुईं जिनमें इस बात पर खेद प्रकट किया गया कि योजना की उन्होंने जो आलोचना की उसका सरकार की ओर से उचित उत्तर क्यों नहीं दिया गया, और इसकी वजह भी पूछी गई। लेकिन जहां तक उनका अपना सवाल था, उन्होंने अपनी राय पहली और आखिरी बार जाहिर की थी। अपने दामाद खुर्शीद आलम खां से उन्होंने कहा था कि उनके इस भाषण के कुछ काल पहले प्रधानमंत्री ने उनसे पूछा था कि वह लगातार चुप क्यों रहे आते हैं।

प्रायोजना कही धुंधली न हो जाए। यह माना गया है कि पूरब और पश्चिम तो कोई भौगोलिक सत्ताएं तक नही हैं। इससे कही ज्यादा अंतर तो उत्तर और दक्खिन के बीच, ऊंची जमीन और नीची जमीन के बीच, ज्यादा ठंडे और ज्यादा गरम इलाकों के बीच है। पूरब और पश्चिम के बीच कोई विभाजन रेखा नही है, कोई स्थिर सीमात नही है। यह बात कितने ही क्षेत्रों पर लागू हो सकती है। लेकिन किसी भौगोलिक अंतर की बात दरअसल सोची भी नही जा रही है। जो अभिप्राय निहित है वह तो संस्कृति और चरित्र के बीच, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच, व्यक्ति और समाज संबंधी धारणाओं के बीच पाए जाने वाले अंतर का है, सभ्यतापूर्वक अपना अस्तित्व स्थापित करने के मार्गों में से किस पर जोर दिया जाता है इस संबंध के अंतर का है : अंतर्मुखी मार्ग या सामाजिक सदाचार का मार्ग, और आगे की ओर ले जाने वाला मार्ग या तर्कमूलक शिल्पविधियों वाला मार्ग।

"पूरब की महानता उसके आचारशास्त्र के संबंध में मानी जाती है, पश्चिम की उसकी शिल्पविधियों के बारे में। ये कथन सर्वथा सुनिश्चित कदापि नही है, और हमारे जगत के आधुनिक जीवन की स्थिति का जबर्दस्त तकाजा यही है कि इनमें जो भी सुनिश्चितता हो उसे भी खत्म कर दिया जाए। हमारे सामने जिस जगत का आविर्भाव हो रहा है उसकी चुनौती यह माग पेश करती है कि संत और शूरवीर, बुद्ध और साइगफ्रीड, तर्कमूलक शिल्पविधि और आचार संबंधी संयम एक जगह आ मिलें। मानव समाज आचारशास्त्र द्वारा नियंत्रित है और तर्कसंगत कर्मकुशल जीवन की ओर बढ़ता जा रहा है। इसलिये यह जरूरी है कि आधुनिक जीवन के विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण तत्व एक दूसरे को समझना और एक दूसरे का सम्मान करना यत्नपूर्वक सीखें और एक दूसरे से शिक्षा लें।

"इसलिये भारतीय प्रतिनिधि मंडल का विचार यह है कि यूनेस्को द्वारा इस काम का हाथ में लिया जाना उचित और सही है। लेकिन, इस बड़ी प्रायोजना के लिये हमारे साधन जितने क्षुद्र हैं उन्हे देखते हुए एक ऐसा कार्यक्रम तैयार करना जरूरी है जो विभिन्न स्थानों में पहले से हो रहे कामों से पूरा लाभ उठाए, और जहां-जहां वह सबसे अधिक व्यापक रूप में कारगर हो सके वहीं-वहीं इन क्षुद्र साधनों का उपयोग करे। कोई व्यावहारिक बुद्धि संपन्न समिति इस प्रायोजना के अंतर्गत किसी व्यावहारिक और उपयोगी कार्यक्रम को तैयार करने

में विशेषज्ञों की सलाह का सदुपयोग कर सकती है।

"मैं समझता हूं कि मैंने आपका काफी वक्त ले लिया है, और उन शोचनीय परिस्थितियों का उल्लेख करके मुझे अब अपनी बात खत्म करनी चाहिये जिनके बीच हम यहां इकट्ठे हुए हैं। यूनेस्को का सविधान 1945 के जिस लंदन सम्मेलन मे तैयार किया गया था उसमे मैं मौजूद था। दुनिया उसी समय एक बहुत बड़ी विध्वंस-लीला के बीच से गुजर कर निकली थी। उस विध्वंस का उसे पूरा अनुभव था और इस बात पर वह तुली जान पड़ती थी कि फिर से उसकी आवृत्ति न होने पाए; और इस संगठन का निर्माण इसलिये हुआ था कि लोगों के दिमागों के अंदर शांति की रक्षा के लिये मोर्चेबंदी की जाए। इन वर्षों के दौरान जो कुछ हो पाया है उसके लिये हमें कृतज्ञ होना चाहिए, लेकिन पिछले हफ्तों के दौरान आक्रमण की जिन नग्न कार्रवाइयों ने उस नवीन मानव के इतिहास को विकृत कर डाला है जिसका आविर्भाव होता हमें दिखाई देने लग गया था, और इस सम्मेलन मे हमारे भाग लेते-लेते भी मिस्र और हंगरी में जो कुछ होता आया है, उन सबसे यह पूरी तरह साफ हो गया है कि शांति की रक्षा के लिये हमने लोगों के दिमागो में जो मोर्चेबंदी करनी शुरू की थी वह बहुत ही कमजोर थी।

"लेकिन हमारा सगठन तो एक शिक्षा संगठन है, और दुनिया मे दो ही लोग ऐसे होते हैं जो कभी उम्मीद नही छोडते, एक तो अपने बच्चे के बारे मे मा, और दूसरा, अपने छात्र के बारे मे कोई सच्चा शिक्षक। हम उम्मीद करना नही छोड़ेंगे, लेकिन हाथ पर हाथ रखे बैठे भी नही रहेंगे। हम जानते हैं कि हमारा यह सगठन एक अंत र सरकारी संगठन है, और कोई भी सरकार आखिर तो सरकार ही होती है। लेकिन हमे यह भी याद रखना चाहिये कि हमारे संविधान के आमुख का आरंभ इन शब्दों से होता है: 'इस संविधान की रचना मे भाग लेने वाली राज्य सरकारें, अपने-अपने राज्यों की जनता की ओर से, घोषित करती हैं…' जनता के प्रति हमारा दायित्व है कि हम यह भी देखते रहे कि हमारी सरकारें सीमा का उल्लंघन तो नही कर रही हैं; इस सगठन मे सम्मिलित हम लोगो को यदि विश्व के अंत.करण का प्रतिनिधित्व करना है तो साथ ही हमें अपने अंत:-करण के प्रति निष्ठावान रहना है।

"बौद्धिक क्षेत्र के नेताओ का, शिक्षा देने वाले का, वैज्ञानिक और कलाकार का सचमुच ही यह बहुत बड़ा दायित्व है कि यही देखते रहने मे उनकी शक्ति का

अंतिम मात्रा तक उपयोग हो कि मानव समाज सर्वनाश का अनुसरण न करने पाए। मेरी यह आशा और प्रार्थना है कि यहां एकत्र हुए हम लोगों में से कोई भी इस बोझ को संभालने से नहीं चूकेगा।"

अगर हम उन सुझावों पर विचार करें जो यहां दिये गए थे, और उन सुझावों पर भी जिन्हें डा. जाकिर हुसैन ने यूनेस्को के कार्यकारी मंडल की बैठकों में, जिसके कि वह 1956 से 1958 तक एक सदस्य थे, दिया था, तो नीति संबंधी अविच्छिन्नता की, जिसका मतलब ही है ऐसे व्यक्तियों का उसमें बराबर कायम रहा आना जो उस नीति का पूरे दिल से और योग्यतापूर्वक समर्थन कर सकें, आवश्यकता स्पष्ट हो जाएगी। लेकिन जो बात स्पष्ट होती है अक्सर उसी की उपेक्षा की जाती है, जब कि किसी नीति पर चलने की जगह ऐसे व्यक्तियों को खुश करने या खुश रखने की इच्छा बड़ा स्थान ले लेती है जो अवसर तो चाहते हैं पर यह नहीं जानते कि उन्हें पाकर वे उसका इस्तेमाल किस तरह करें। यूनेस्को की बैठकों में डा. जाकिर हुसैन का शामिल होना किसी स्थायी योगदान से कहीं ज्यादा एक तफरीह या सैर जैसा था, अपनी योग्यताओं का एक प्रदर्शन भर।

मातृभूमि की रूप-रचना

1. बिहार के राज्यपाल

डा. जाकिर हुसैन यूरोप में थे जब, 1957 में, प्रधानमंत्री और संघ मंत्रिमंडल ने[1] उन्हें बिहार का राज्यपाल नियुक्त करने का फैसला किया। उनकी आंख का आपरेशन हुआ था और बैड विंमिजन में वे विश्राम द्वारा उपचार करा रहे थे। उनका पता जानने की जबर्दस्त खोज के बाद उन्हें एक समुद्री तार भेजा गया; उन्होंने इस समाचार को बड़े ही प्रशांत भाव से ग्रहण किया और जवाब दिया कि भारत लौटने के बाद ही वह अपना निश्चित उत्तर देंगे। इस दौरान निश्चय ही उन्होंने इस मामले में विचार किया होगा, और भारत लौटने पर वह राजी हो गए। 6 जुलाई 1957 को उन्होंने राज्यपाल के रूप में अपना पद ग्रहण कर लिया।

राजनीतिमत्ता की एक कसौटी यह भी है कि विशेष प्रकार के कार्यों के लिए सही किस्म के व्यक्तियों का चुनाव किया जाए, और यह एक विवादास्पद प्रश्न

---

[1] मुझे एक विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि मौलाना आजाद इस प्रस्ताव से बहुत ज्यादा खुश नहीं थे।

ग्रहण करने पर राज्य की जनता के नाम अपना संदेश देते हुए उन्होंने कहा था, "आज दोपहर से कुछ ही पहले, मैंने बिहार राज्य के राज्यपाल का पद ग्रहण किया है, और ईश्वर को साक्षी बनाकर यह शपथ ली है कि मैं इसके संविधान का प्रहरी बनकर रहूंगा और अपनी सारी शक्ति इस राज्य की जनता की सेवा में अर्पित कर दूंगा। अब मैं यही घोषणा आप लोगों के सामने भी करता हूं और चाहता हूं कि अपनी प्रार्थनाओं द्वारा आप मेरी मदद करें ताकि मैं अपनी इस शपथ को निभा सकूं···

"यह कठिन दायित्व मैंने एक ऐसे दिन ग्रहण किया है जो बिहार में हम सभी लोगों के लिए, और सभी भारतवासियों के लिए, एक शोक का दिन है। एक बुजुर्ग नेता से, एक पुराने साथी से, आज हमेशा के लिए हमारा बिछोह हो गया है। अनुग्रह बाबू[1] के जीवन के पीछे सेवा की एक दीर्घकालीन गाथा है। गांधीजी के चंपारन आने के वक्त से लेकर अपनी मृत्यु तक वह हर प्रकार से और हर रूप में बिहार की सेवा करते रहे थे। बिहार राज्य के लिए ही नहीं, समूचे देश के लिए, उनके स्थान की पूर्ति कठिन होगी। लेकिन कोई यह न मान बैठे कि सेवा की यह सच्ची दास्तान, अनुग्रह बाबू के जीवन की कथा, खत्म हो गई। जो जाति स्वयं जीवित है वह अपने भले और बड़े आदमियों को मरने नहीं देती। सेवामय जीवन का एक सूत्र जैसे ही टूटता है, कई निष्ठावान साथी उसे फिर पकड़ लेते हैं, काम जारी रखा जाता है, कहानी चलती रहती है, क्योंकि हमारे सामने जो कठिन काम है यह पूरी तरह तो कभी खत्म हो ही नहीं सकता। आजादी को हासिल करना ऐसा पहला काम था, इस आजादी को कायम रखना, इसे अपने जीवन के पुनर्निर्माण के एक अवसर में परिणत कर डालना, एक ऐसा काम है जिसमें हजारों काम समाए हुए हैं। हम बिहार को भारत की आंख की पुतली बना देंगे। सद्भाव, अच्छाई, सचाई, मिलनसारी, नि:स्वार्थ सेवा को हम अपने अंदर इस ढंग से विकसित करेंगे कि हमारा देश इस राज्य पर गर्व करे, और हम सब मिलकर इस देश को भले, सच्चे और सच्चरित्र लोगों का देश बनाएंगे, एक ऐसा देश, जो जिंदगी की दौड़ में तेजी से

---

[1]बिहार के एक मंत्री श्री अनुग्रह नारायण सिंह, मुख्यमंत्री के साथ जिनके मतभेद तनाव की स्थिति के कारण रूप बने हुए थे।

आगे बढ़ता जाएगा, दूसरों को पीछे धकेलकर नही बल्कि उन सबको भी साथ लेते हुए, एक ऐसा देश, जिसकी ताकत उतने ही ताकतवर दूसरे देशो का सम्मान तो प्राप्त करे पर उनकी ईर्ष्या को बढाए बगैर, एक ऐसा देश जिससे कमजोर राष्ट्र डरेगे नही, मगर जिसकी मदद वे चाहेगे। हममें से हर कोई अगर यह संकल्प कर ले, तो अनुग्रह बाबू की सत्तर वर्ष की तीर्थयात्रा विफल नही सिद्ध होगी।

"मैं आपके पड़ोसी राज्य, उत्तर प्रदेश, का रहने वाला हू। बिहार के लिए मैं अपरिचित हो सकता हूं, पर मेरे लिये बिहार अपरिचित नही है। आपके मुख्य मंत्री को मैं बरसों से जानता हूं और एक बुजुर्ग के रूप मे उनकी कद्र करता हू। अनुग्रह बाबू अब नही हैं, लेकिन कल ही जब कि मैं उनकी मृत्यु से तीन घटे पहले उनके यहा जाकर उनसे मिला था तब मुझे देख उन्होने जो खुशी जाहिर की थी वह कभी भुलाए नही भूल सकती। और भी कुछ विख्यात व्यक्ति हैं जिन्हे पहले से जानने का सम्मान मुझे प्राप्त है। ऐसे नौजवान भी हैं जिन्हे मैं जानता हूं। मुझे याद है कि जब मैंने जामिया मिल्लिया का काम सभाला था, और ब्रिटिश सरकार के विरोध के कारण हमारी मदद करने वाले लोग बहुत कम थे, तो हकीम अजमल खा के साथ मैं बिहार आया था, और सबसे पहली मदद हमे बिहार से मिली थी। आज जामिया एक फूलती-फलती सस्था है, लेकिन मुझे तंगी और सख्ती वाले शुरू के दिन याद हैं जब कि बिहार के दोस्त उसकी मदद के लिए आगे बढे थे। और, यदि ये मेरे व्यक्तिगत, सबध न भी रहे होते, तब भी मैं कहता कि एक प्रकार से बिहार भारत का हृदय है। अगर आप इसके प्राचीन इतिहास पर नजर डालेंगे तो देखेंगे कि लगभग 900 वर्षों तक का भारत का इतिहास मगध का ही इतिहास है। इस प्रारभिक काल के बौद्धिक और राजनीतिक इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्थान उसकी उपलब्धियों की याद दिलाने के लिए आज भी मौजूद हैं। और प्राचीन काल मे ही नही, बल्कि आज भी, यह राज्य देश के अधिक विशाल राज्यो मे से है। लोग कहते है, वे लोग जो जानकार हैं, कि आतरिक प्रशासन की दृष्टि से यह राज्य सबसे अधिक कर्मकुशल राज्यो मे है; इसकी जमीन के अदर कितने ही खजाने छिपे पडे हैं जो उद्यमी लोगो के लिए चुनौती के तौर पर हैं। यहा दामोदर, कोसी और गगा प्रायोजनाओं जैसी नदी-घाटी प्रायोजनाएं है जो, पूरी हो चुकने पर, सारे देश की शक्ल बदल दे सकती है। यही सिंदरी है, और जमशेदपुर। थोड़े मे ही कहा जाय, तो यहां बहुत

काम हो रहा है और इससे भी ज्यादा की गुंजाइश है। जरूरत है साहस और उच्चाकांक्षा की, लेकिन, उससे भी ज्यादा, ईमानदारी की और सहायता और सहयोग की आदत डालने की—यह गुण अपने अंदर उत्पन्न करने की, कि उनमें जो अच्छाई है उसकी हम कद्र करें, और यह दृढ संकल्प करने की, कि जब तक समूचे देश के गरीब लोगों को भरपेट खाना न मिले और कपड़े और मकान की व्यवस्था न हो तब तक हम चैन नहीं लेंगे।

"मैं उम्मीद करता हूं कि नए युग का जो अरुणोदय हो रहा है उसमें बिहार देश के गौरव को बढ़ाएगा, उसके वर्तमान को अपने अतीत के सामने लज्जित होने का कोई कारण नहीं रहेगा। आप सबके सामने मैं यह घोषित करता हूं कि बिहार अपना यह गौरव प्राप्त कर सके इसके लिए मैं काम भी करूंगा और प्रार्थना भी। प्रार्थना से हमारे प्रयत्नों को सफलता मिलती है, और काम प्रार्थना को प्रभावशाली बनाता है।"

डा जाकिर हुसैन के कागजात में जिस मसविदे की पांडुलिपि मुझे मिली उसी का यह अनुवाद* है। संभव है कि भाषण देने से पहले इसमें कुछ संशोधन भी किए गए हों और भाषा भी कुछ बदली गई हो, लेकिन जिस भावना की इसमें अभिव्यक्ति हुई है उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ होगा। मौका ऐसा था कि किसी प्रकार की आलोचना की गुंजाइश नहीं थी, उसका वक्त बाद को आता, और यदि आता, तो उसके लिए जमीन तैयार कर दी गई थी। तब वह आलोचना न लगकर, एक ऐसे व्यक्ति द्वारा आत्म-आलोचना ही प्रतीत होती जिसने कि अपनी जनता और अपने राज्य के साथ पूरी एकात्मता स्थापित कर दी हो। समसामयिक भारत के प्रति बिहार के योगदान की बात बढ़ीचढ़ी दिखाई देती है। यह डा. जाकिर हुसैन की साधारण शैली के अनुरूप ही है, और इस तरह की बात पहलेपहल यहीं नहीं कही गई, और शायद विचारपूर्वक भी नहीं। प्रायः सदा ही वह सुदूर या निकटतम अतीत की उपलब्धियों की बात, या जिंदगी के किसी ऐसे पहलू की बात जो प्रशंसनीय थी, इसलिए कुछ बढ़ाचढ़ा कर ही सामने रखते थे ताकि कर्त्तव्यों और दायित्वों के बोध को तीव्रता दी जा सके। जमशेदपुर और

*मूल अंग्रेजी पुस्तक में अंग्रेजी अनुवाद दिया गया है। यहां उसी का हिंदी रूपांतर दिया जा रहा है :—अनुवादक।

सरकारी क्षेत्रों वाली प्रायोजनाएं आखिर हैं तो बिहार में ही, किसी दूसरी जगह नहीं, और बिहार की सरकार और जनता उन्हें अपना तो कह ही सकती है।

डा. ज़ाकिर हुसैन जब राज्यपाल हुए थे तब तक ऐसी सूरत नहीं आई थी जिसकी वजह से राज्यपाल को स्पष्टतया दिये गए, या उनकी संवैधानिक स्थिति में निहित, अधिकारों और कार्यों की परीक्षा करने और फिर से उनकी परिभाषा करने की जरूरत दिखाई देती। लेकिन किसी राज्यपाल का व्यक्तित्व, उसके विचार, यहां तक कि उसकी रुचियां भी एक अंतर पैदा कर दे सकती थी। उत्तर प्रदेश में जब श्रीमती नायडू राज्यपाल थी तब वहां एक प्रकार का वातावरण था, जब डा. के. एम. मुंशी थे, तब दूसरे प्रकार का। डा ज़ाकिर हुसैन बिहार के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर गहरी छाप डाल सकते थे और प्रकृति से ही एक धीर और व्यवहारकुशल सधिकर्त्ता होने के नाते वह, केवल अपने व्यक्तित्व के ही बल और राजनीति से दूर रहते हुए भी, राजनीति और राजनीतिज्ञों को प्रभावित कर सकते थे।

वह किस हद तक कार्यव्यस्त रहते थे इसका पता उनकी मुलाकातों की और अन्य कामों की सूचियों से नहीं लग सकता, हालांकि ये सूचियां भी काफी बड़ी हैं। उनसे मुलाकात करने के लिये आने वालों में कितनी ही तरह के लोग थे: राजनीतिज्ञ, सरकारी अफसर, कुलपति, प्राध्यापक, शिक्षक, लेखक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक और लोक-कल्याण संगठनों के प्रतिनिधि, विदेशी उच्चाधिकारी और विद्वान, दोस्त और रिश्तेदार। प्रायः सभी राज्यपालों के मुलाकाती इन्हीं श्रेणियों के लोग रहते हैं, और साथ ही औपचारिक तथा अनौपचारिक गोष्ठियों और सभा-सम्मेलनों की अध्यक्षता करने और अभिभाषण देने का काम भी सभी करते हैं। लेकिन अंतर उनकी मनोवृत्ति में रहता है। जहां तक डा. ज़ाकिर हुसैन का सवाल है, उनके लिये ऐसा हर काम शिष्टाचार, ज्ञान और सहानुभूति में सबसे आगे बढ़ जाने के लिए चुनौती के रूप में था। औपचारिकता और नयाचार (प्रोटोकोल) की आड़ में भी वह मैत्री और अनौपचारिकता बरतते थे, चेहरे पर एक ऐसी मुसकान लिये, जो मुलाकाती को इतमीनान दिला देती थी कि सामान्य और अतर्बाधाहीन मनुष्यों के रूप में परस्पर मिलने के मार्ग में जो बाधाएं थीं उनके दूर हो जाने की उन्हें खुशी हुई है। जो मुलाकाती सिर्फ इसलिए उनसे मिलने आते थे कि वह राज्यपाल हैं, उनके लिए इतनी कृपा ही बहुत थी। बाकी

लोग, इसके अलावा यह भी पाते थे कि उनके विशिष्ट कर्मक्षेत्र के बारे में वह अगर उनसे ज्यादा नही तो उनके बराबर तो जानते ही हैं, या यह कि अपने काम को आगे बढाने के लिए उन्हे प्रोत्साहन के रूप मे जिस बौद्धिक और यथार्थ जिज्ञासा की जरूरत थी ठीक वही उनके अदर है, या, बातचीत अगर किसी संगठनात्मक या व्यक्तिगत समस्या पर है, तो यह कि उनके अंदर स्थिति की वह पकड़ है जिसकी बदौलत चीजो को ज्यादा साफ देखा जा सकता है, और उनके पास ऐसे सुझाव हैं जिन पर अमल करना फायदेमंद होगा। लेकिन सिवा उन थोडे से लोगो के, जिनके साथ उनकी अतरगता थी और जो उनकी जरूरतों और इच्छाओ के प्रति सवेदनशील थे, दूसरे किसी को भी यह पता नही चल सकता था कि लगातार कितना अधिक परिश्रम वह कर रहे थे। मुलाकातियों की उनकी सूची में ऐसे लोगो के नाम बार-बार मिलते हैं, लेकिन इतनी ज्यादा बार भी नही कि इस बात का कुछ भी आभास मिलने पाए कि औरो के मुकाबले उन्हे मिलने के ज्यादा मौके मिलते होंगे। इन थोडे से लोगो की मुलाकातो को बहुतो की मुलाकात से जो बात अलग करती है वह इनकी अधिक सख्या नही बल्कि उन मुलाकातो की अपनी विशिष्टता।

जिन लोगो ने राज्यपालो और मत्रियो तथा अन्य विख्यात लोगों को ऐसे सभा-सम्मेलनो मे बोलते सुना है जिनके उद्देश्यो से वे अपरिचित हैं या उन्हे वस्तुत. कोई महत्त्व नही देते, उन्हे यह बताने की जरूरत नही है कि इस प्रकार के लोगो को चूकि उनके पदो के कारण ही निमत्रित किया जाता है, इसलिये उनकी उपस्थिति साधारणत अप्रासगिक ही होती है और केवल शोभा के लिए। लेकिन निरुद्देश्य रूप मे बोलना डा जाकिर हुसैन की निगाह मे ईमानदारी और सचाई का हनन करने जैसा अपराध था। वह अपने भाषण लिख लेते थे और, जैसा कि देखा ही जा चुका है, लिखना उनके लिए बेहद अरुचिकर था। लेकिन जब कोई निमत्रण स्वीकार कर लेते थे तब वह नैतिक रूप से अपने को इस बात के लिए बाध्य समझते थे कि जिस उद्देश्य के लिए उन्हे निमत्रित किया गया है उनका कुछ न कुछ बौद्धिक योगदान अवश्य रहे।

27 अप्रैल, 1958 को उन्होने श्री स्वामी मधुसूदन आचार्य द्वारा स्थापित योग विद्या संवर्द्धक मंडल का उद्घाटन किया। जहा तक मुझे मालूम है, योग मे उनकी कोई दिलचस्पी नही थी, हालाकि इस तरह का सकेत देने वाली कोई भी बात

उन्होने कभी नही कही थी। लेकिन उनकी कार्यसूची को देखने पर लगता है कि इस मडल के प्रतिनिधि लोग उनसे मुलाकात करने एक से अधिक बार आए थे, जैसा बहुत करके इसलिए जरूरी हो गया होगा कि उनके काम की प्रशंसा करनेके साथ उन्होंने जरूर उनसे यह अनुरोध किया होगा कि इस उद्घाटन का सम्मान वे किसी अधिक योग्य व्यक्ति को दें। जब इसमे उन्हें सफलता नही मिली होगी तब उन्होने निश्चय ही योग के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन किया होगा, और अपने भाषण के लिए उन्ही पहलुओं को चुना होगा जो उन्हें सचमुच ही सार्वभौम महत्त्व के लगे होगे, ऐसे पहलुओ को, जिन्हे मडल के उन आयोजकों ने जो योग-शास्त्र के रहस्यो से पूरी तरह अवगत रहे होंगे, आनुषंगिक ही माना होगा। ऐसा ही 1961 मे महावीर जयंती के अवसर पर हुआ। जैन धर्म के सिद्धातो पर होने वाले विचारविमर्श मे भाग लेने से भला किसी मुसलमान से ज्यादा और कौन घबडा सकता था, मगर यह बात उन सब पर भी उतनी ही लागू होती है जिनकी तत्त्वमीमासा मे या तो रुचि नही है, या उसे समझ सकने की क्षमता नही है। लेकिन जैन धर्म को समझने की सच्ची लगन रहने पर जहां कोई भी यह समझ लेगा कि उनकी तत्वमीमासा से कुछ ही प्रतिभाशाली लोग प्रभावित हो पाएगे, वहा जैन आचार शास्त्र का स्वरूप सार्वभौम है, और हिंसा के कुछ पागल समर्थक ही इस बात से इकार करेंगे कि अगर हम आत्मविश्वास और साहस के साथ चल सकें तो अहिंसा का मार्ग हमेशा ही अधिक अच्छा मार्ग है। उस अवसर पर जिन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन को बोलते सुना होगा उन्होंने महसूस किया होगा कि जैन धर्म सिर्फ किसी एक धार्मिक सप्रदाय की मान्यताओ और आचारों वाला धर्म नही है बल्कि एक ऐसी नैतिक शक्ति है जो भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन के मानदड को ऊंचा उठा सकती है और शिल्पविधि तथा आचारशास्त्र के मूल्यों के बीच इस प्रकार एकत्व स्थापित कर सकती है कि वह एक आदर्श समाज की आधारशिला बन जाए।

चीजों के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण सद्भाव-संपन्न लोगो को शक्ति प्रदान करता है, और भिन्नताओ को समझ सकने और उनके परे धार्मिक मान्यताओ और आचार व्यवहार—और इसलिए राजनीतिक मान्यताओ और आचार व्यवहार के भी—सामान्य और सार्वभौम तत्वो को देख सकने की क्षमता पर आधारित सद्भाव का विकास किसी बहुसस्कृति-सपन्न समाज के एकीकरण

ा सर्वोत्तम उपाय है। सद्भाव का विकास डा जाकिर हुसैन के लिए एक वैसा ा सुनिश्चित नैतिक समादेश था जैसा कि अहिंसा गाधी जी के लिए था। लेकिन च्छे जीवन की प्राप्ति के लिए सभी का सभी के प्रति सद्भाव बढ़ाना जरूरी ा। इस सद्भाव की मुसलमानों के लिए कसौटी थी—सरकार मे मिलने वाली ोकरियों मे हिस्सा पाना, अपनी सस्थाओ और सास्कृतिक सगठनो को चलाने ौर उनका विकास करने के लिए सरकार से मिलने वाली सहायता, और उर्दू ो दिया जाने वाला स्थान और उसके विकास मे सघ और राज्य सरकारो द्वारा ी जाने वाली दिलचस्पी। डा जाकिर हुसैन यह कसौटी अल्पसख्यक सप्रदायो ़ सभी नागरिकों के लिए सही मानते थे, और इसलिए मुसलमानो के लिए भी।

मुसलमानों के रोजगार या नौकरी की समस्या रोजगार की आम समस्या का ी हिस्सा है, और वह इतनी बडी और जटिल है कि यहां उस पर विचार नही केया जा सकता। फिर, इसके बारे मे हमारी जानकारी भी अपर्याप्त है। इस ामस्या से प्रत्यक्ष और विशिष्ट रूप मे संबद्ध कोई भी सरकारी विभाग न तो केंद्र मे है और न राज्यो मे ही, और बारोजगार मुसलमानो के कोई भी विश्वस-ीय आकडे उपलब्ध नही है। जिन्हे नौकरी की तलाश रहती है वे जहा से और जो भी मदद मिल सकती है पाने की कोशिश करते हैं। यह अदाज लगाने का ोई तरीका नही है कि डा जाकिर हुसैन ने, जबकि वह राज्यपाल थे या उसके बाद भी, कितने लोगो की, गैरमुसलमान और मुसलमान दोनो की ही मदद की। जहा तक कि मुसलमानो की शिक्षा सस्थाओ और सास्कृतिक सगठनो की मदद करने की बात है, शायद ही कोई ऐसा हो जो उनसे मदद माग कर निराश हुआ हो। लेकिन इस बात की आम जानकारी नही थी। मुस्लिम जनता के पास डा. जाकिर हुसैन के बारे मे अपनी पूरी राय कायम करने की एक ही कसौटी थी—औपचारिक और सार्वजनिक अवसर हर उनके द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषा।

सार्वजनिक भाषणों मे उनके द्वारा प्रयुक्त हिंदी शब्दो पर एतराज करने वाले मुसलमान दरअसल देश की पूरी हालत पर ही नाखुश थे। किसी दूसरे सदर्भ मे वे लोग यही दावा करते कि उर्दू एक संग्राहक भाषा है, किसी दूसरी भाषा के लिए उसमे कोई दुर्भावना नही है और समूचे इतिहास के दौरान उसने सभी भाषाओ के शब्द स्वच्छंदतापूर्वक ग्रहण किये हैं। दूसरी ओर हिंदी, उनके अनु-

सार, उर्दू का खुल्लमखुल्ला विरोध करती है और अपने शब्दकोश से वह सभी उर्दू शब्दो को निकाल बाहर करने के लिए तुली हुई है, भले ही वे शब्द सबसे अधिक प्रचलित क्यों न हों। हिंदी भाषाभाषी राज्यो की भाषानीति उन्हें शिक्षा एवं राजनीति के क्षेत्र वाले ही द्वेषभाव की द्योतक प्रतीत होती थी। इसके बावजूद डा. ज़ाकिर हुसैन द्वारा अनावश्यक रूप से हिंदी शब्दो का इस्तेमाल उन्हे एक ध्येय के प्रति विश्वासघात जैसा लगता था। उधर डा. ज़ाकिर हुसैन, प्रचलित उर्दू शब्दो की जगह हिंदी शब्दों का इस्तेमाल करते हुए भी, उर्दू के बारे मे भी अपने विचारो को व्यक्त करने से नही चूकते थे। 27 नवबर 1959 को पटने के इदारा तहकीकाते-उर्दू के पुस्तकालय का और उर्दू किताबों की नुमाइश का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा था :

"मुझे कही ज्यादा खुशी और गर्व है कि यहा जो कुछ हुआ है उसका संबध उर्दू से है—उस भाषा से जिसे पहलेपहल मैंने अपनी मां से सीखा था, उस भाषा से जिसके माध्यम से ही मेरा दिमाग पुष्ट हुआ, जिसके माध्यम से ही मैं अब भी विचार करता हूं, और जिसके बौद्धिक और साहित्यिक खजानो से मैं अब भी, अपनी योग्यता के अनुसार, फायदा उठाता हूं। लेकिन सिर्फ इसलिए नही कि उसके साथ मेरा व्यक्तिगत प्रेम है बल्कि एक निष्ठावान भारतीय नागरिक के नाते भी मैं महसूस करता हूं कि यह भाषा उस नए जीवन के भावी विकास को, जिसकी कि हम भारतवासी अपने देश की स्वाधीनता के इस युग मे कामना करते हैं, सूचित करने वाली है। कौन-सी है वह भावना जो इस जीवन को प्रेरणा प्रदान करेगी? वह भावना, सदा की ही भांति, भिन्नता में एकता की खोज वाली भावना है, विशिष्ट और विभिन्न तत्वो को लेकर एक सामान्य संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा, जिस प्रकार कि गंगा और यमुना दोनों मिलकर एक प्रचंड धारा का रूप ले लेती हैं, एक ऐसी संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा जिसमें बगीचे का सौंदर्य फूलों के तरह-तरह के रंगो के रूप मे दिखाई देता है, जिसमे अलग-अलग रंगों के ये फूल ऐसी माला के रूप मे पिरोए जा सकते हैं जिसे अगर मानव समाज अपने गले मे डाल ले तो उसकी खूबसूरती और भी दमक उठेगी, जिसमे यह घोषित करने का साहस है कि पोस्ता और गुलाब और केसर के फूलों के अपने-अपने रंग जरूर अलग हैं, फिर भी उनमे मे हर एक अपने ही ढंग से बसत के आगमन का साक्षी है, एक ऐसी संस्कृति जिसमें संपूर्ण अपने किसी अश को अपना

की बात है और न अक्लमंदी की ही…।"

किसी राज्यपाल से अपने राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग लेने की आशा नहीं की जाती। किसी संकट काल में ही यह आशा की जाती है कि वह अपने विवेक का और अपने अधिकारों का प्रयोग करेगा। किसी राज्य के राजनीतिक नेताओं के बीच अगर सघर्ष मौजूद हैं और फिर भी उसकी राजनीति सकटों से बची रहती है, तो सभव है कि परदे के पीछे कोई ऐसा प्रभाव काम कर रहा है जिसकी वजह से शांति कायम रही आती है। पटने में नियुक्त प्रशासन के एक अधिकारी ने मुझे बताया था कि डा. जाकिर हुसैन जैसा व्यक्ति बिहार के लिए बेमेल-सा लगता है। उसने मुझे बताया था कि गगा के एक ऐसे घाट पर जब वह पहुंचे जिसका काफी ऐतिहासिक और धार्मिक महत्त्व है तो वहां के अधिकारियों ने उन्हें बताया कि जो भी राजनीतिज्ञ वहां आए उन सबसे वे लोग उसकी मरम्मत कराने का अनुरोध करके हार गए हैं। वादे तो सभी कर गए, पर किया किसी ने भी कुछ नहीं। लौटते वक्त डा. जाकिर हुसैन बोले कि उनके सामने भी यही कठिनाई है। उन सब ने भी फौरन ही मान लिया कि वह न तो कुछ कह ही सकते हैं और न करा ही सकते हैं। शायद एक ही ऐसा मामला था जिसमें वह कुछ करा सकने में सफल हो पाए थे, और वह था बिहार विश्वविद्यालय (संशोधन) विधेयक, जो मूलरूप में जिस तरह तैयार हुआ था उससे सभी विश्वविद्यालय छोटे-मोटे सरकारी विभाग ही बन कर रह जाते। उन्होंने इस सबध में जो किया उसके दो अलग-अलग विवरण मैंने सुने हैं। एक विवरण के अनुसार, उन्होंने मुख्य मंत्री से अनुरोध किया कि राज्यपाल पद की उनकी अवधि जब तक पूरी नहीं हो जाती तब तक के लिए वह इस विधेयक को पेश न करें; दूसरे विवरण के अनुसार, उन्होंने मुख्य मंत्री से कहा कि अपने इसी रूप में अगर यह विधेयक पास हो गया तो उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ेगा, क्योंकि उनका अतःकरण यह गवारा नहीं करेगा कि कुलाधिपति के नाते वह उन अधिकारों का प्रयोग करें जो कि उन्हें इस विधेयक द्वारा दिये जा रहे हैं। उसके बारे में अपनी राय जाहिर करने के लिए उन्होंने तरीका जो भी अपनाया हो, यह स्पष्ट है कि बिहार सरकार डर गई और उसे विश्वविद्यालयों में प्रशासनिक हस्तक्षेप के अवसरों को घटाने के लिए उस विधेयक में परिवर्तन करने पड़ गए।

भारत के उपराष्ट्रपति होकर डा. जाकिर हुसैन जब दिल्ली आ चुके थे उसके

दो या तीन साल बाद मुझे राची का एक पार्क देखने का मौका मिला था। खरपतवार से वह भर गया था और बिलकुल सूखा और उजाड दिखाई दे रहा था। साहित्यिक कार्य के लिए उनके द्वारा दी गई ऐसी रकमो का भी मुझे पता है जिनका इस्तेमाल नही किया गया। पार्टियो और राजनीतिज्ञो पर उन्होने जो प्रभाव डाला था उसका नामोनिशान भी उनके चले जाने के बाद वहा नही रह गया था और राची तथा जमशेदपुर मे भी भयानक दगे हुए। लेकिन दूसरी ओर ऐसे भी सार्वजनिक और निजी बाग मौजूद थे ही जहा 'जाकिर हुसैन गुलाब' अन्य गुलाबो के साथ-साथ खिले रहते हैं, और सैकडो लोगो के दिल मे उनकी मोहब्बत और सौजन्य की जो छाप पडी हुई है वह कितने ही मौसम बीत जाने पर भी ताजी है। अपने समाज की प्रकृति को बदलना या उसकी जीवन धारा को दूसरा मोड देना किसी एक आदमी के बस का नही है। लेकिन डा जाकिर हुसैन के बारे मे यह कहा जा सकता है कि ठेठ भारतीय व्यक्तित्व के एक स्थायी रूप की रचना करने मे उन्होने कुछ भी उठा नही रखा, एक ऐसे व्यक्तित्व की, जिसने अपने सद्भाव से, उदारता की भावना से, और हर तरह की हैसियत वालो का समान रूप से खयाल रखने की अपनी आदत से हर किसी को प्रभावित किया।

2. भारत के उपराष्ट्रपति

1962 मे जब उपराष्ट्रपति पद के लिये चुनाव करने की बात उठी तो जान पडता है कि प्रधानमत्री को आखिर अपनी इच्छा पूरी करने का मौका मिल गया। दूसरे उम्मीदवार और कौन-कौन थे इसकी अटकलबाजी अब अप्रासगिक होगी, प्रधानमत्री ने अपना फैसला कर लिया था, और डा जाकिर हुसैन भारत के उपराष्ट्रपति चुने गए, और 13 मई को उन्होने अपने पद की शपथ ली। बिहार मे उन्होने जो नीव डाली थी उस पर वह अब अपना निर्माण कार्य कर सकते थे, और भारतवासी की जो तस्वीर उन्होने रची थी उसे व्यापक रूप देकर भारत की ही तस्वीर मे बदल दे सकते थे। बिहार के राज्यपाल के नाते वह भारत की राजधानी से काफी दूर थे, उपराष्ट्रपति के रूप मे वह लोगो के ही बीच और जिंदगी की भवर के बीचोबीच थे।

अपने सरकारी निवासस्थान, 6, मौलाना आजाद रोड, में ठीक से बस जाने में उन्हें कुछ वक्त लगा। श्रीमती रत्ना फाब्री ने आभ्यतरिक सजावट की जिम्मेदारी ली; यह मुख्यतः सौम्य धूसर वर्ण की थी, आंखों के लिये सुखद और विशिष्टतापूर्ण। अपने बागीचे के लिये निश्चय ही उन्होंने विशेषज्ञों की सलाह ली होगी, लेकिन उसे संवारने और ठीक रखने का काम लोक निर्माण विभाग के हाथों मे था। सभी कामों में पूर्णता के हिमायती तो वह थे ही, और यहां भी वह खर-पतवार का एक तिनका तक नही उगने देना चाहते थे, खासतौर से मोठ नामक घास का, जो बडी तेजी से बढ़ती है और रोकथाम न की जाने पर पूरे मैदान पर छा जाती है। डा. जाकिर हुसैन ने अहाते के पूरे मैदान को ही दो फुट गहरा खोद देने और फिर उस मिट्टी को बारीक छलनी में छानने का हुक्म दिया, और उसके बाद उस मिट्टी मे सर्वोत्तम दूब लगाने का। जमीन खोद डाली गई, मोठ की जड़ें पुराने तरीके से जल्दी-जल्दी उखाड दी गईं, और जमीन को समतल कर दिया गया। इससे ज्यादा कुछ करने की बात लोक निर्माण विभाग ने न तो जरूरी ही समझी और न सभव ही। डा. जाकिर हुसैन संतुष्ट नही हुए और वह क्या चाहते थे इसे फिर दुहराया। लोक निर्माण विभाग ने उनका हुक्म मान कर जमीन को तो फिर एक बार खोद डाला, लेकिन अपने इस आश्वासन पर यकीन कर लेने का अनुरोध किया कि सभी प्रकार के पेड पौधों के बीज भी निकाल दिये गए हैं और उनकी जडेंभी उखाड़ फेंकी गई हैं। इस पर डा जाकिर हुसैन की जो प्रतिक्रिया हुई वह यह कि उन्होंने अपने कर्मचारियों को हुक्म दिया कि लोक निर्माण विभाग के जिस अधिकारी के सुपुर्द यह काम है वह उनके सामने फिर कभी न आने पाए। जब वह यह हुक्म दे रहे थे तब मैं वहीं मौजूद था। कुछ मिनट बाद ही बहुत ही धीमी आवाज मे उन्हें बताया गया कि लोक निर्माण विभाग का वह अधिकारी बाहर बैठा है और उनसे मिलने की इजाजत चाहता है। आखिर उस अधिकारी की ही जीत हुई, और डा. जाकिर हुसैन के सामने उसके दिये इस आश्वासन को स्वीकार करने के सिवा कोई रास्ता नही रह गया कि उनके हुक्म की तामील पूरी सावधानी के साथ की गई है और उनके मैदान मे खर-पतवार का एक भी तिनका कभी नहीं दिखाई देगा। कुछ काल बाद माली ने आकर उनसे कहा कि दो ट्रक खाद भेजी गई है और चालीस ट्रक की रसीद लिख देने के लिये उससे कहा गया है। रसीद नही दी गई और नतीजा यह हुआ

कि जिनका इस तरह नुकसान हुआ उन्होंने माली का नाम काली सूची में लिख लिया।

सविधान के अनुसार, उपराष्ट्रपति राज्य सभा का अध्यक्ष भी होता है और जरूरत के वक्त राष्ट्रपति का भी काम करता है। पदानुक्रम मे उसका स्थान राष्ट्रपति के ही बाद आता है और इस नाते उसे सरकारी या राजनयिक नयाचार के अनुरूप अपने कर्त्तव्य निभाने होते हैं। सविधान मे उपराष्ट्रपति के सामाजिक कर्त्तव्यों का उल्लेख नही है, कितने ही सगठनो का उसे किसी पदनाम के अतर्गत सरक्षक अथवा औपाधिक होना होता है, कितने ही दीक्षात समारोहों मे भाषण देने होते हैं, कितने ही प्राक्कथन और प्रस्तावनाए लिखनी होती हैं, कितने ही सदेश देने होते हैं, कितनी ही सभाओ की अध्यक्षता करनी होती है और वहा बोलना पडता है, कितने ही विवाहो के स्वागत-समारोहो मे भाग लेना होता है, और यदि, थोड़े मे कहा जाय तो, तरह-तरह से उसकी दुर्गति की जाती है—सिर्फ इस अधविश्वास के कारण, कि कोई काम तब तक ठीक ढग से नही हो सकता, कम से कम दिल्ली मे, जब तक कि राष्ट्रपति या प्रधान मत्री उसमे शामिल होकर उसे इतनी विशिष्टता न प्रदान करें कि अखबारो मे उसका जिक्र हो। हठपूर्वक किये गए इस तरह के निमत्रणो को उपराष्ट्रपति कहा तक अस्वीकार करता चला जा सकता है यह अवश्य स्वय उपराष्ट्रपति पर ही निर्भर करता है, लेकिन उम्मीद यही की जाती है कि वह हर नियत्रण को स्वीकार करने का अनुग्रह करेगा। डा जाकिर हुसैन का व्यक्तिगत सौजन्य था भी ऐसा, कि वह इनके शिकार बनने के परम उपयुक्त थे।

राज्य सभा के अध्यक्ष के अपने कर्त्तव्यो को निभाने मे उन्हे उपाध्यक्षा श्रीमती वॉयलेट आल्वा की जो सहायता मिलती थी उसे करीब-करीब उनके प्रति उनकी व्यक्तिगत श्रद्धाभक्ति ही कहा जा सकता है। लेकिन उन्हे प्रश्न-अवधि मे अध्यक्षता करनी होती थी, और वह कोई कम बडी चुनौती नही थी। जिन सदस्यो को सही ससदीय आचरण की अवहेलना करने मे ही मजा आता था उन्हे आत्मसयम से काम लेने के लिये वह बाध्य नही कर सकते थे। कभी उन्हे मेज को पीटना पड़ता, कभी उन सदस्यो से भी कही ज्यादा ऊची आवाज मे चिल्लाना पडता, कभी हुक्म देकर रोकना पडता - वे सारे काम, जिन्हें करने की सामर्थ्य का न कभी वह खुद गुमान तक कर सकते थे और न वे लोग ही जो उन्हे जानते थे।

लेकिन पूरी गरमागरमी के बीच भी, और जब कि पल भर में ही कोई फैसला कर लेना पड़ता था, उनकी निष्पक्षता में किसी को शक नहीं हो सकता था और न इस मामले में उन पर उंगली उठाई जा सकती थी। उनके राजनीतिक संबंध तो ज्ञात ही थे। फिर भी, अल्पसंख्यकों को वह अपने दिल की बात कह डालने का अधिकार देना चाहते थे, बल्कि इस हद तक, कि जिनकी संख्या ज्यादा थी उन्हें उस अनुपात में कम मौका मिल पाता था, जिसकी क्षतिपूर्ति तभी हो सकती थी जब कि उनके पीछे अधिक बड़ा बुद्धिबल हो और अपनी बात को समझा सकने की अधिक क्षमता। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे काफी अफसोस के साथ बताया था कि शासक दल के सरकारी और गैर सरकारी प्रतिनिधि सवालों का जवाब देने के लिये काफी तैयार होकर नहीं आते थे। विरोधी पक्ष के उन दो सदस्यों के नाम भी उन्होंने मुझे बताए थे जो अपनी तैयारी पूरी तरह और ईमानदारी के साथ करके आते थे, और अक्सर ही वे अपने प्रतिपक्षियों से बढ़े चढ़े रहते थे।

अपने देश की सेवा करने और उसके एक ऐसे रूप की रचना करने का, जिसे कि दूसरे देश संजो कर रखें—अवश्य पाकिस्तान को, और निश्चय ही चीन को भी, छोड़कर—डा. जाकिर हुसैन का सबसे बड़ा माध्यम था कूटनीतिज्ञता की उनकी प्राकृतिक प्रतिभा। भारत-चीन युद्ध के कारणों की छानबीन करना यहां अप्रासंगिक होगा। हकीकत यह है कि उसे रोका नहीं जा सका, हालांकि प्रधानमंत्री नेहरू और चाऊ एन-लाई के बीच निकट मैत्री दिखाई पड़ती थी और उन दोनों ने निश्चय किया था कि वे पंचशील का अनुसरण न केवल स्वयं करेंगे बल्कि दूसरे राष्ट्रों से भी कराना चाहेंगे। जैसा कि घटनाओं से प्रकट है, पाकिस्तान का शत्रुभाव किसी रोगग्रस्त का सा है। उसने महज मुखालफत करने के लिये ही भारत को अपना दुश्मन मान लिया है, मगर लगता यह है कि वह और भी बड़ा दुश्मन भारतीय मुसलमानों को मानता है, जिन्हें कि इस देश में हैसियत भी मिली हुई है और प्रतिष्ठा भी, और जो, सिर्फ अपने अस्तित्व की असलियत से ही, इस सारे प्रचार को गलत साबित कर देने में समर्थ हैं कि यहां की हिंदू सरकार भारतीय मुसलमानों को सता रही है। भुट्टो और उनके जैसे दूसरे लोगों की राय में ऐसे मुसलमानों की उपेक्षा की जानी चाहिये, उन्हें झिड़कना या अपमानित तक किया जाना चाहिये—जब वैसा करने का मौका हो। 'इंडिया इंटरनेशनल सेंटर' (भारतीय अंतर्राष्ट्रीय केंद्र) में भुट्टो के नेतृत्व में आए एक प्रतिनिधि मंडल को

दिए भोज मे डा ज़ाकिर हुसैन बीच मे थे, और उनके दाहिनी ओर भुट्टो बैठे थे और बाईं ओर एक आई सी एस. अफसर। भुट्टो बराबर ही उस अफसर के साथ, जो उनका परिचित था, बातें करने मे लगे रहे, और डा ज़ाकिर हुसैन से एक शब्द तक नही बोले। मैं दाहिनी ओर दो और कुर्सियो के बाद बैठा था, और देख रहा था कि पूरे ही भोजन मे डा ज़ाकिर हुसैन इतमीनान के साथ बैठे रहे और शायद ही उन्होने उस बीच इधर या उधर गर्दन घुमाई होगी, उनका चेहरा पूरी तरह से भावशून्य बना रहा। मैं यही सोचता रह गया कि इस कष्टकर अग्नि परीक्षा मे होकर उन्हे क्यो गुजरना पड़ा। उनके मेजबानो को तो यह बात सोचनी चाहिए थी। कुछ ही वक्त बाद जो भारत-पाकिस्तान युद्ध छिड़ा उसमे भारतीय मुसलमानो ने प्रतिष्ठा हासिल की, और इससे पाकिस्तान और भी जल भुन गया। भारत-पाकिस्तान सबधो का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे भारतीय मुसलमानो की देशभक्ति मौजूदा तनावो को कम नही कर सकती।

लेकिन बाकी तस्वीर के दमकते हुए रगो के विपरीत यह रग सबसे ज्यादा काला है। डा ज़ाकिर हुसैन की कूटनीतिकता मे एक जादू जैसा था, क्योकि वह न सिर्फ उनके सद्भाव की अभिव्यक्ति की बल्कि गहन ज्ञान और समझदारी की भी, जिसमे फूलो, पेडपौधो, जीवाश्मो, चट्टानो, स्फटिको, चित्रकला, खुशनवीसी, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, आदि मे उनकी दिलचस्पी ने, और सभी प्रकार के रूपों और आकृतियो मे पूर्णता की उनकी खोज ने, और भी जान डाल दी थी। किसी विदेशी राजनयिक को, जिसे गपशप, लफ्फाजी के साथ की जाने वाली तारीफो और कौशलपूर्वक कही गई ऐसी बातें सुनने की ही आदत होती है जिनके पीछे छिपे इरादों का कुछ भी पता नही चल सकता, यह देख कर खुशी होती थी कि डा ज़ाकिर हुसैन की उसके देश मे सच्ची दिलचस्पी है। उसे यह देख कर भी चकित रह जाना पड़ता था कि डा ज़ाकिर हुसैन को उसके देश के बारे मे दो एक ऐसी बाते भी मालूम हैं जो वह खुद नही जानता या इतना कम जानता है कि उनके बारे मे बात नही कर सकता। उदाहरण के रूप मे, फूलो के बारे मे, या दरख्तो, या पत्थरों, अथवा इतिहास या सस्कृति सबधी किसी बात के बारे मे। बर्मा के एक प्रधान मत्री जब इस देश की यात्रा पर आए थे तब उन्हें उनके देश मे पैदा होने वाले विरल कोटि के कुछ फूलो के लिये बधाई दी गई। "एम्हर्स्टिया का पौधा जब फूलों से भर उठता होगा, तब कितना मनमोहक

लगता होगा न ?" प्रधान मंत्री ने जवाब में 'हां' जरूर कह दिया, लेकिन उस मुलाकात के बाद बर्मी दूतावास के अधिकारियों को फूलों वाले उस वृक्ष के बारे में उन्हें जानकारी देनी पड़ी, और उसके कुछ पौधे डा. जाकिर हुसैन के पास भिजवाने के लिये आदेश जारी कर दिये गए। उत्तर अफ्रीका के एक देश से वह बौने अनारों की कई किस्में लाए थे। "मुझे एक जुलूस में ले जाया जा रहा था", उन्होंने मुझे बताया। "मुझे कतार में लगे कुछ पौधे दिखाई दिये जिनके फूल अनारों जैसे थे। इसलिये मैं वहीं रुक गया और अपने साथ के लोगों से पूछा कि इन पौधों का नाम क्या है। उन्होंने बताया कि ये बौने कद वाले अनार हैं। मैंने पूछा कि भारत में भी क्या इन्हें लगाया जा सकता है, और मुझे बताया गया कि लगाया जा सकता है। उन पौधों की ओर मैंने ऐसी ललचाई नजर से देखा कि उसी दम उन लोगों को उनके कुछ बीज और कुछ पौधे मेरे साथ भेजने का वादा कर देना पड़ा।" रूसी वैज्ञानिकों के एक प्रतिनिधि मंडल ने जीवाश्मों और शैलों का उनका संग्रह देखा और अपने देश वापस पहुंचने पर यूराल में पाए जाने वाले विभिन्न स्फटिकों का एक 'दरख्त' उनके लिये भेजा। जुलाई 1966 में जब वह अफगानिस्तान गए तब उन्होंने वहां के सबसे अच्छे खुशनवीसों के बारे में दर्यापित किया जो अभी मौजूद हों, और बाद को उन लोगों से कुछ चुने हुए शेर लिखवाए। जिस तरीके से भी हो, किसी देश के प्रतिनिधियों को वह यह महसूस करा देते थे कि उनके यहां कुछ ऐसा है जिसकी कीमत सारी दुनिया के सुसंस्कृत लोगों की निगाह में ऊंची है।

यही वजह है कि डा. जाकिर हुसैन को मैत्री और सद्भाव की हमारी राजनयिक अभिव्यक्तियों में पाई जाने वाली इस आम प्रवृत्ति पर और भी ज्यादा अफसोस होता था कि इतिहास और संस्कृति में, शांति, सहयोग और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने में और सभी प्रकार के संबंधों और व्यवहार में हम अपने ही योगदान पर ज्यादा जोर देते हैं। दूसरे देशों के योगदान के बारे में यह मानते हुए भी कि उन्होंने पर्याप्त रूप से उच्च किसी उद्देश्य का साधन किया है, हम यह नहीं मानते कि वह उद्देश्य हमारे उद्देश्य के समान ऊंचा है। 1963 में ईथियोपिया, संयुक्त अरब गणराज्य और सूडान की अपनी यात्रा पर जाते वक्त उन्होंने मुझसे कहा था कि विदेश मंत्रालय द्वारा तैयार किये गए उनके भाषणों के मसविदों में भारत और उन देशों के बीच के संबंधों की एकतरफा तस्वीर पेश की

गई है, और उन्हे ऐतिहासिक तथ्यो के अधिक निकट लाने, और शिष्टाचार तथा सत्य की ही नही कूटनीति की आवश्यकताओं की खातिर भी, उन्होने उन्हें फिर से लिखा था। काहिरा विश्वविद्यालय में, जहां कि उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि दी गई थी उनका जो भाषण हुआ था वह अरब जगत और भारत के संबंधों की सतुलित और व्यापक समीक्षा का एक सुदर उदाहरण है।

काहिरा विश्वविद्यालय के रेक्टर (अध्यक्ष) ने अपने प्रशंसात्मक उल्लेख मे डा. जाकिर हुसैन के शिक्षक होने का जिक्र किया था, और डा. जाकिर हुसैन ने अपनी बात इसी को लेकर शुरू की। "जिस आजादी के लिए बहुत बड़ी कुर्बानियां की गई हैं उसकी नीव पर खड़ी की जाने वाली राष्ट्रीय महानता की इमारत के निर्माणकार्य मे जो समाज लगा हुआ है उसमे किसी शिक्षक के पेशे के बारे मे मुख्तसर तौर पर मैं अपने खयालात पेश करने की इजाजत···चाहता हूं। उसे अपने समाज की नैतिक उन्नति की फिक्र रहती है। उसके देशवासियों ने जिन मूल्यों को सबसे ऊंचा मान कर अपने जीवन मे स्थान दिया है और जिनकी वे कद्र करते हैं उनका वह रखवाला है। इन उच्चतर मूल्यों को अपने क्षेत्रों तक पहुंचाने मे वह अपने निजी व्यक्तित्व के जरिये मदद करता है, और उस सास्कृतिक सामग्री के भी जरिये जो कि उसके पेशे के उपकरण हैं। सामाजिक किस्म का व्यक्ति होना उसके लिए जरूरी है। उसके काम का सार इसमे है कि दूसरे नौजवानो की जरूरतों और उनकी खूबियों के प्रति सहानुभूति और समझदारी रखते हुए वह उनके अदर उन मूल्यों के लिए आकर्षण पैदा कर सके। उसका सारा काम नौजवानों के अपरिपक्व, विकासशील जीवन के साथ रहता है जिनका व्यक्तित्व अविकसित कलियो के रूप मे है। उसे उन कलियों के पूरी तरह खिलने मे मदद करनी होती है, न कि अपनी कल्पना के कागजी फूल तैयार करने की। उसके प्रयत्नों का उद्देश्य और लक्ष्य है नैतिक दृष्टि से स्वायत्त व्यक्तित्व का विकास करना। शासन करने का शिक्षकको अधिकार ही नहीं है; उसे तो निष्ठापूर्वक, प्यार और श्रद्धा के साथ, मदद और सेवा करनी है, समझना और बताना है। अपने असीम प्रेम और अक्षय धैर्य के साथ वह समूह और व्यक्ति के बीच सही सतुलन स्थापित कर सकता है। वह इस बात मे मदद कर सकता है कि मनुष्य एक साथ विकास करे और आनदपूर्वक साथ-साथ चले और कभी ढीले न पड़ने वाले जोश के साथ एक साथ काम करे—ऐसा काम जिसका लक्ष्य स्वार्थसाधन से

ऊपर है। सभी कामों में, जिनमें हाथ का काम भी आता है, वह बुद्धि के, वस्तु-परक नैतिकता के और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्राण फूक दे सकता है, और ठोस, उद्देश्यमूलक क्रिया की पक्की नीव पर बौद्धिक कार्य की इमारत खडी कर सकता है। विभिन्न देशों के लोगों को वह अतीत के उनके मानसिक संबंधो के संदर्भ में, वर्तमान की उनकी एक-जैसी समस्याओ के सदर्भ मे, और भावी नियति के प्रसंग में उनकी एक-समान महत्त्वाकांक्षाओ के बारे में…परस्पर संयोजित कर सकता है।

"जी हाँ, शिक्षक के बारे में मेरी धारणा यही है, भारतीय शिक्षक के बारे मे, अरब शिक्षक के बारे में, और मेरा ख़याल है कि भारतीय शिक्षक और अरब शिक्षक अपने इस तेहरे कर्त्तव्य के प्रति सचेत है, अपने तीनो ही अवसरो के बारे मे।

"भारत और मिस्र और पूरे अरब जगत के अतीत का ऐसा बहुत-कुछ वह अपने विद्यार्थियों की चेतना मे डाल दे सकता है जो साफ तौर पर यह दिखा दे कि गुजरे हुए जमाने मे किस तरह वे एक साथ जुडे रहे हैं। क्योकि भारत और मिस्र के बीच तो इतिहास के करीब-करीब बिलकुल ही शुरू से सबध कायम रहे हैं, और विश्व की सभ्यता के इन दोनो ही उद्गम स्थानो मे विलक्षण सादृश्य वाली कितनी ही सस्थाओ और प्रथाओं का विकास हुआ है। ईसा से करीब चार हजार साल पहले, नील नदी के तटों पर और शिमला की पहाड़ियों के नीचे से लेकर अरब सागर तक फैले हुए सिंधु घाटी वाले नगरों में, जो सभ्यताएं फूल-फल रही थीं उनके बीच कितनी ही बातो मे समानता पाई जाती थी। महंजोदडो और हड़प्पा मे पाए गए गले के कठहारों के खंडीकृत मनकों और अर्धगोलाकार छोरों, वृषभपाद चौकियों, मक्षिकाकार मनको, शंबुकाकार चम्मचों से प्रकट है कि इन इलाको के लोगो के बीच निकट के सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध थे। अगर सिकंदर जैसे शख्स तक ने पहले यही समझ लिया था कि नील नदी भारत के ही किसी स्थान से निकली है, अगर मॅगास्थेनीज को भारतीय और मिस्री सिंचाई-प्रणालियों के बीच सारूप्यता दिखाई दे गई, और अगर मुहल्लबी ने 'कन्नौज' को 'भारत का काहिरा' कह डाला, तो इन उक्तियो के लिए, जो सम-सामयिक चिंतन के संदर्भ को दिखाने वाली हैं, ऐतिहासिक कारण रहे ही होंगे। भारत के अरब सागर वाले तट पर भड़ौंच, सोपारा, रोरुका, कौल, श्रीपुत्र जैसे कितने ही पुराने बंदरगाह थे जिनके मिस्र के साथ निकट के सबंध बने रहते

गई है, और उन्हें ऐतिहासिक तथ्यों के अधिक निकट लाने, और शिष्टाचार तथा सत्य की ही नहीं कूटनीति की आवश्यकताओं की खातिर भी, उन्होंने उन्हें फिर से लिखा था। काहिरा विश्वविद्यालय में, जहां कि उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि दी गई थी उनका जो भाषण हुआ था वह अरब जगत और भारत के संबंधों की संतुलित और व्यापक समीक्षा का एक सुंदर उदाहरण है।

काहिरा विश्वविद्यालय के रेक्टर (अध्यक्ष) ने अपने प्रशंसात्मक उल्लेख में डा. ज़ाकिर हुसैन के शिक्षक होने का जिक्र किया था, और डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपनी बात इसी को लेकर शुरू की। "जिस आजादी के लिए बहुत बड़ी कुर्बानियां की गई हैं उसकी नींव पर खड़ी की जाने वाली राष्ट्रीय महानता की इमारत के निर्माणकार्य में जो समाज लगा हुआ है उसमें किसी शिक्षक के पेशे के बारे में मुख्तसर तौर पर मैं अपने ख्यालात पेश करने की इजाजत···चाहता हूं। उसे अपने समाज की नैतिक उन्नति की फिक्र रहती है। उसके देशवासियों ने जिन मूल्यों को सबसे ऊंचा मान कर अपने जीवन में स्थान दिया है और जिनकी वे कद्र करते हैं उनका वह रखवाला है। इन उच्चतर मूल्यों को अपने क्षेत्रों तक पहुंचाने में वह अपने निजी व्यक्तित्व के जरिये मदद करता है, और उस सांस्कृतिक सामग्री के भी जरिये जो कि उसके पेशे के उपकरण हैं। सामाजिक किस्म का व्यक्ति होना उसके लिए जरूरी है। उसके काम का सार इसमें है कि दूसरे नौजवानों की जरूरतों और उनकी खूबियों के प्रति सहानुभूति और समझदारी रखते हुए वह उनके अंदर उन मूल्यों के लिए आकर्षण पैदा कर सके। उसका सारा काम नौजवानों के अपरिपक्व, विकासशील जीवन के साथ रहता है जिनका व्यक्तित्व अविकसित कलियों के रूप में है। उसे उन कलियों के पूरी तरह खिलने में मदद करनी होती है, न कि अपनी कल्पना के कागजी फूल तैयार करने की। उसके प्रयत्नों का उद्देश्य और लक्ष्य है नैतिक दृष्टि से स्वायत्त व्यक्तित्व का विकास करना। शासन करने का शिक्षक को अधिकार ही नहीं है; उसे तो निष्ठापूर्वक, *प्यार और श्रद्धा के साथ, मदद और सेवा करनी है, समझना और बनाना* है। अपने असीम प्रेम और अक्षय धैर्य के साथ वह समूह और व्यक्ति के बीच सही संतुलन स्थापित कर सकता है। वह इस बात में मदद कर सकता है कि मनुष्य एक साथ विश्राम करें और आनंदपूर्वक साथ-साथ चलें और कभी ढीले न पड़ने वाले जोश के साथ एक साथ काम करें—ऐसा काम जिसका लक्ष्य स्वार्थसाधन से

ऊपर है। सभी कामों में, जिनमें हाथ का काम भी आता है, वह बुद्धि के, वस्तु-परक नैतिकता के और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्राण फूंक दे सकता है, और ठोस, उद्देश्यमूलक क्रिया की पक्की नींव पर बौद्धिक कार्य की इमारत खड़ी कर सकता है। विभिन्न देशों के लोगों को वह अतीत के उनके मानसिक संबंधों के संदर्भ में, वर्तमान की उनकी एक-जैसी समस्याओं के संदर्भ में, और भावी नियति के प्रसंग में उनकी एक-समान महत्त्वाकाक्षाओं के बारे में…परस्पर संयोजित कर सकता है।

"जी हां, शिक्षक के बारे में मेरी धारणा यही है, भारतीय शिक्षक के बारे में, अरब शिक्षक के बारे में, और मेरा खयाल है कि भारतीय शिक्षक और अरब शिक्षक अपने इस तेहरे कर्त्तव्य के प्रति सचेत है, अपने तीनों ही अवसरों के बारे में।

"भारत और मिस्र और पूरे अरब जगत के अतीत का ऐसा बहुत-कुछ वह अपने विद्यार्थियों की चेतना में डाल दे सकता है जो साफ तौर पर यह दिखा दे कि गुजरे हुए जमाने में किस तरह वे एक साथ जुड़े रहे हैं। क्योंकि भारत और मिस्र के बीच तो इतिहास के करीब-करीब बिलकुल ही शुरू से संबंध कायम रहे हैं, और विश्व की सभ्यता के इन दोनों ही उद्गम स्थानों में विलक्षण सादृश्य वाली कितनी ही संस्थाओं और प्रथाओं का विकास हुआ है। ईसा से करीब चार हजार साल पहले, नील नदी के तटों पर और शिमला की पहाड़ियों के नीचे से लेकर अरब सागर तक फैले हुए सिंधु घाटी वाले नगरों में, जो सभ्यताएं फूल-फल रही थीं उनके बीच कितनी ही बातों में समानता पाई जाती थी। महंजोदड़ो और हड़प्पा में पाए गए गले के कठहारों के खंडीकृत मनकों और अर्धगोलाकार छोरों, वृषभपाद चौकियों, मक्षिकाकार मनकों, शंबुकाकार चम्मचों से प्रकट है कि इन इलाकों के लोगों के बीच निकट के सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध थे। अगर सिकंदर जैसे शख्स तक ने पहले यही समझ लिया था कि नील नदी भारत के ही किसी स्थान से निकली है, अगर मेगास्थेनीज को भारतीय और मिस्री सिंचाई-प्रणालियों के बीच सारूप्यता दिखाई दे गई, और अगर मुहल्लबी ने 'कन्नौज' को 'भारत का काहिरा' कह डाला, तो इन उक्तियों के लिए, जो सम-सामयिक चिंतन के संदर्भ को दिखाने वाली हैं, ऐतिहासिक कारण रहे ही होंगे। भारत के अरब सागर वाले तट पर भड़ौच, सोपारा, रोरुका, कौल, श्रीपुत्र जैसे कितने ही पुराने बंदरगाह थे जिनके मिस्र के साथ निकट के संबंध बने रहते

थे। एक यूनानी मिस्री नाविक द्वारा ईसवी पहली सदी में लिखी गई किताब 'एक नाविक की मार्गदर्शिका' से हम दोनो के देशों के बीच के व्यापार सपर्क पर रोशनी पड़ती है। प्रारंभिक तमिल कविताओ मे भारत-मिस्र व्यापार संपर्कों के सदर्भ भरे पड़े हैं। भारत के समुद्रतटवर्ती इलाको मे मिस्री सिक्को के जो खजाने मिले हैं वे भी इस बात के गवाह हैं कि मिस्र के साथ न सिर्फ भारत का जोरदार व्यापार होता था वल्कि भारत मे मिस्री व्यापारियो के उपनिवेश तक बन गए थे। काहिरा और सिकंद्रिया मे भी समृद्ध भारतीय व्यापारियो के काफी बड़े-बड़े उपनिवेश थे। प्राचीन काल मे भारत से यहा काफी मात्रा मे मसालो, इत्रों, जड़ी-बूटियों, रंगों, मोतियों, कीमती पत्थरो, मलमल, नील, हाथीदात, चीनी मिट्टी के बरतनों और कर्पूरका निर्यातहोता था। कहा जाता है कि मिस्र मे जिस कपड़े में पुराने शवो (ममी) को लपेटा जाता था वह भारत से ही आता था, और छह सौ साल पहले दिल्ली के सुलतान जो कपडा इस्तेमाल करते थे वह मिस्र से आता था।

"मिस्र और भारत के बीच राजदूतो की अदला-बदली की परंपरा बहुत पुरानी है। मिस्र के दूत मौर्य राजसभा मे भेजे गए थे और मौर्य दूत मिस्र आए थे, और यह अदला-बदली कई सदियो तक चली रहती थी। चौदहवी सदी के शुरूमे मिस्र के मलिक अलनादिर के साथ भारतीय सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक के ताल्लुकात बहुत ही अच्छे थे। ये प्राचीन सबध सिर्फ राजनीतिक और व्यापारिक क्षेत्रो तक ही महदूद नही थे। भारत से मिस्र को और मिस्र से भारत को विचारो का भी आना-जाना होता था। ईसा से दो सदी पहले सम्राट अशोक ने धर्म के प्रचार के लिए मिस्र मे एक मुनि को भेजा था, और तेरहवी सदी ईसवी मे अलाउद्दीन खिलजी के राज्यकाल मे—मौलाना शमसुद्दीन नाम का एक मिस्री विद्वान इस्लाम के पैगबर की परपराओ का एक अध्ययन केंद्र स्थापित करने के लिए भारत आया था।

"और संपर्कों के ये सफल आदानप्रदान सिर्फ मिस्र तक ही सीमित नही रहे थे। सारा अरब जगत ही इसकी परिधि मे आ गया था। दूरव्यापी सांस्कृतिक महत्त्व के इन सपर्कों के विस्तार पर कुछ ज्यादा कहने का मौका तो यह नही है, लेकिन फिर भी इस तरह के एक संपर्क का जिक्र करने का लोभ मैं नही रोक पा रहा हूं। यह था भारत मे इस्लाम का अविर्भाव, अरब के पैगबर का संदेश। इसने भारतीय जीवन को एक नया आयाम दिया और उस पर जबर्दस्त असर

डाला। धर्म, राजनीति, भाषा और साहित्य सभी बहुत ज्यादा प्रभावित हुए। इसमें कुछ ताज्जुब भी नहीं, क्योंकि शांति और सद्भाव के महान संदेश की घोषणा करने वाला व्यक्ति वह था जिसके अंदर मानव इतिहास में पहली बार समूची मानव जाति को संबोधित करने की सूक्ष्मदृष्टि और साहस था। उसका आम संबोधन था, 'या ऐयुहन्नस'। इस संदेश की विश्वजनीनता ने और आत्मसात् करने के महान भारतीयगुण ने मिल कर जो स्थिति पैदा की वह सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहां तक कि आज, भारतीय उपमहाद्वीप के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के बाद भी, भारत में साढ़े चार करोड़ से कम मुसलमान नागरिक नहीं हैं, और संसार के सभी देशों में यह मुस्लिम आबादी वाला तीसरा सबसे बड़ा देश है। वे एक ऐसी रोचक सर्जनात्मक सांस्कृतिक स्थिति में आ पड़े हैं जिसमें महत्वपूर्ण विकास की गुंजाइश बनी हुई है। इतिहास में मुसलमानों ने या तो किसी देश में अकेले ही राज किया है और या गैरमुसलमानों द्वारा शासित होकर रहे हैं। यहां भारत के साढ़े चार करोड़ मुसलमान नागरिक एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के अंतर्गत अन्य धर्मों वाले अपने देशवासियों के साथ-साथ शासन में हिस्सा बंटा रहे हैं। मैं समझता हूं कि यह नई स्थिति उन्हें एक बहुत ही मूल्यवान सांस्कृतिक संश्लेषण में महत्वपूर्ण योगदान करने योग्य बनाएगी, और मुझे भरोसा है कि उस महान पैगंबर ने, जो न सिर्फ़ अरबों का था बल्कि 'सभी दुनियाओं के लिए वरदान' के रूप में था और समूची मानव जाति को चेतावनी और शुभ समाचार देने आया था, जो संदेश दिया था उसमें नए-नए पहलुओं को खोज निकालने और उस पर नए ढंग से जोर देने की कोशिश बेकार नहीं जायगी।

"एक शिक्षक के नाते, जिसे कि आनेवाली पीढ़ियों और उनके अतीत के बीच संपर्क कायम करना होता है, ये ही बातें हैं जो मेरे दिमाग में आ रही हैं। लेकिन भारत-अरब संबंध सिर्फ़ गुजरे हुए जमाने पर ही नहीं टिके हुए हैं। यह जरूर अच्छी बात है कि स्मरणातीत काल में हमारे दोनों देश जिन शांतिपूर्ण तरीकों से एक साथ जुड़े रहे हैं उनकी हम अपने को याद दिलाते रहें। यह याद रखना जरूर अच्छा है कि कालीकट के व्यापारियों के दफ्तर काहिरा और सिकंदरिया में थे। हमें यह जानकर सचमुच खुशी होती है कि अरब जगत, जिसका कि मिस्र आज अगुआ है, सदियों तक भारत और पश्चिम के बीच कड़ी का काम करता

रहा था, और यह कि भारत और अरब जगत के बीच जो सक्रिय बौद्धिक संपर्क बना हुआ था उसने विश्व के ज्ञान और संस्कृति के कोष को काफी हद तक समृद्ध किया है। यह विचार दिल को बड़ी तसल्ली देता है कि एक-दूसरे को समृद्ध करनेवाली ये सारी प्रक्रियाएं सदियों तक इस तरह चलती रही थी कि उनमें राजनीतिक प्रभुत्व, आर्थिक शोषण और साम्राज्यवादी हिंसा की हलकी से हलकी भी गंध नही थी। सचमुच, हमारे अतीत अद्भुत हैं, लेकिन वह जमाना बहुत पीछे छूट चुका है और बीच का वक्त दुर्भाग्य से एक ऐसा अंधकार-युग रहा जब कि हम बेकार ही बिछुड़े रहे। इस बीच की यादें भी कुछ अच्छी नही हैं। लेकिन साम्राज्यवादी आधिपत्य के बुरे वक्तो के बाद हम दोनो के ही देशों में जो महान् राष्ट्रीय संघर्ष हुए उन्होने आज के बड़े कामों मे हमे कधे से कधा भिडाकर एक साथ चलने के लिये इकट्ठा कर दिया है। जालिम उपनिवेशवाद की एड़ियों के नीचे से निकलकर हम उठ खड़े हुए हैं। हम दोनों को इस बात का तजुरबा है कि उसके बोझ से दब कर हम किस तरह बेबस हो गए थे, उस बोझ को उतार फेंकने का उल्लास हमारी नस-नस मे दौड रहा है, अपने राष्ट्रीय जीवन को अपने ही तरीके से गढने, सुखी, मनोहर, शोषणहीन जीवन के नए नमूने तैयार करने, एशिया और अफ्रीका ही नही, आखीर मे तो सारी दुनिया के ही लोगों के बीच शाति, समझदारी और दोस्ती बढाने के उत्तरदायित्व की ऊंची भावना रखने मे हम दोनो ही एक साथ हैं।"

यह तो साफ ही है कि डा. जाकिर हुसैन का आदर्श था मेलमिलाप को बढाना, अतर्राष्ट्रीय शब्दावली मे इस शब्द का जो अर्थ—या अर्थहीनता—है उस हिसाब से नही, बल्कि जर्मन दर्शन मे इसका जिस रूप मे प्रतिपादन किया गया है उस अर्थ मे और जिनके साथ हम मेलमिलाप रखना चाहते हैं उनके साथ इस प्रकार का मानसिक तादात्म्य स्थापित करना, कि दूसरो को समझकर ही हम अपने को भी समझ सकें। इस प्रकार की समझदारी और मेलमिलाप की भावना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का ध्येय कभी भी नही रही है और इसकी बात आ भी उसी के दिमाग मे सकती है जो उस चीज से भी ऊपर उठ जा सकता है जिसे प्रबुद्ध स्वार्थभावना कहा जाता है। डा. जाकिर हुसैन भारत की जो तस्वीर तैयार करना चाहते थे उसमे आत्मनिर्भर और आत्मकेंद्रित उद्यम की उपलब्धि का महत्त्व नही था। उस तस्वीर को तो भारत और उन देशों को मिलकर तैयार करना था जिनके साथ

भारत आपसी मेलमिलाप के प्रयास में लगा रहा है। इस प्रकार, एक-दूसरे को समझ सकने की आकांक्षा का प्रसार भी होता जाएगा, और सामान्य हित के आकस्मिक आविष्कारों पर नहीं, बल्कि पारस्परिक सम्मान की भावना के एक बढ़ते हुए संदर्भ में हुई आत्मोपलब्धि पर ही, सद्भाव की इमारत खड़ी होगी।

डा. ज़ाकिर हुसैन को राज्यपाल और उपराष्ट्रपति के नाते कितने ही दीक्षांत भाषण देने होते थे।[1] वे बड़ी कार्यव्यस्तता के बीच लिखे जाते थे और इसलिये उनमें उनके उन विचारों को अभिव्यक्ति मिली है जो उनके दिमाग में सबसे ऊपर होते थे। करीब-करीब ऐसे हर भाषण में ही उन्होंने अपना ध्यान व्यक्ति पर केंद्रीभूत कर दिया है, उसके उस विकास पर जो विरासत में मिलने वाली संस्कृति को—मौलिक रूप में, और सौंदर्यात्मक तथा नैतिक आदर्शों और आकांक्षाओं के रूप में भी, मस्तिष्क की ही रचनाओं को—आत्मसात करने का फल है। आम-तौर पर वह मानसिक और नैतिक विकास की समस्या पर एक शिक्षक के नाते ही विचार करते थे, और उच्चतम मूल्यों के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण के जरिये आत्मोपलब्धि का मार्ग दिखाते थे। 29 अप्रैल 1967 को उन्होंने एन आर्बरस्थित मिशिगन विश्वविद्यालय में जो प्रारंभिक दीक्षांत भाषण दिया था उसमें भी हम उन्हें एक सामाजिक वैज्ञानिक और राजनेता के नाते उसी समस्या पर विचार करते, और व्यक्ति के ही मूल्य पर जोर देते, पाते हैं।

"…जहां हम भारत में एक राष्ट्रपरक राज्य के निर्माणकार्य में लगे हुए हैं, वहां आप लोग उसे बना भी चुके हैं, और सारी दुनिया की निगाहों के सामने वह सबसे ऊंचा खड़ा है। इसलिये यह उचित ही है और सही भी, कि राष्ट्रपरकराज्य के स्वरूप और उसके ज्यादा गहरे उद्देश्यों के बारे में, और वह किधर जा रहा है इस पर, हम लोगों के बीच लगातार बातचीत चलती रहे। आप लोगों के विचार और कार्य जो दिशा लेते हैं उनका संसार के लिये बहुत ही ज्यादा महत्त्व है, और इसलिये यह जरूरी है कि आप लोग भी उन राष्ट्रपरक राज्यों के स्वरूप का और उनकी कार्यपद्धति का सहानुभूति और आपसी समझदारी के साथ अध्ययन करें

[1]इनमें से अधिकांश का एक संग्रह 1965 में 'दि डायनेमिक यूनिवर्सिटी' (गतिशील विश्वविद्यालय) के नाम से बंबई के 'एशिया पब्लिशिंग हाउस' द्वारा प्रकाशित किया गया था।

तौर पर दिखाई पड़ते हैं उन सबके बावजूद, शोषण और अन्याय जल्द या देर से उस राज्य से बदला लेकर रहेंगे ही, और आखिर में जाकर तो इससे उसे कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती।...राज्यों द्वारा की जाने वाली राजनीतिक ज्यादतियों और अन्यायों को अगर रोकना है, तो ऐसा करने का अधिकार और शक्ति किसके पास है ? इस सवाल का एक ही जवाब है : अतिसवेदनशील और निर्भीक अंत:करण वाले उस नागरिक के पास, जो जरूरत पडने पर राज्य के हित में राज्य की अवज्ञा कर सकता है और नैतिक मूल्यों को दावे के साथ आगे रख सकता है। लेकिन वह नागरिक भी एक व्यक्ति ही है और नागरिकों की बिरादरी का ही सदस्य। इसलिये उसके अंत:करण और उसकी शिक्षा की समस्या पर विचार करने से पहले हमें यह परीक्षा कर देखनी होगी कि वह खुद किस जगह पर खड़ा है।

"राष्ट्रपरक राज्य के, जैसा कि वह है, निर्माता ऐतिहासिक दृष्टि से सभी प्रकार के व्यक्ति रहे हैं—राजनेता, शहीद, अन्वेषक, समुद्री लुटेरे, साम्राज्यवादी, दुस्साहसी लोग, व्यवसाय बुद्धि वाले उद्यमी लोग, विचारक, वैज्ञानिक, इतिहासकार, कवि। कभी उन्होंने एक साथ मिलकर काम किया, कभी उनके बीच संघर्ष रहा, लेकिन जो पूरी तस्वीर बन कर तैयार हुई उसमें उन सभी का अपना-अपना अनोखा योगदान रहा। उनमें से अब्राहम लिंकन जैसे कुछ ने राज्य को नैतिक ध्येयों की पूर्ति करने के लिये मजबूर कर दिया, कुछ ने नैतिक ध्येयों को तोड़-मरोड़ कर राज्य के हितों के चौखटे में बिठाने की कोशिश की; कुछ ने राज्यहित साधन की दृष्टि से नैतिक ध्येयों को असंगत माना। राष्ट्रपरक राज्य के मिलेजुले स्वरूप पर वे सभी अपनी छाप छोड़ गए हैं। हमारी तरह आपका अपना इतिहास भी ऐसे लोगों से भरा पड़ा है, और आप और हम दोनों ही उनमें से कितनों के ही प्रशंसक रहे हैं और आज भी हैं, खासतौर से उनके जिन्होंने नए रास्ते तैयार किये या राष्ट्रीय जीवन को नए आयाम दिये। लेकिन अजीब बात है कि हर उन्नत और समृद्ध राष्ट्रपरक राज्य में ही कुछ ऐसी बात हुई, कि विचारों और संगठनों, और आचरण के तौर तरीकों, की एक संपूर्ण पद्धति ही ऐसी तैयार हो गई जिसे करीब-करीब सभी नागरिक आंख मूद कर मानने लग गए, भले ही उसकी कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। मैं इस बात से इंकार नहीं करता कि, कम-से-कम लोकतंत्र में, मतभेद रखने का अधिकार सिद्धांत रूप में स्वीकार

किया जाता है, और कभी-कभी व्यवहार में भी। लेकिन अधिकांश व्यक्तियों के लिये उसका उपयोग करना कठिन होता है क्योंकि संस्थाओं और सत्ताओं की सारी जटिल व्यवस्था, बड़े-बड़े संगठनों की शक्ति, सामूहिक प्रचार के जबर्दस्त साधन उलटी दिशा में ही काम करने में जुटे रहते हैं। और मुकाबले में जो ताकतें काम करती हैं उनके विरुद्ध सफलता के साथ अपने को टिकाए रखने का बौद्धिक और नैतिक साहस किसी साधारण व्यक्ति के अंदर हम अक्सर नहीं पाते।

"फिर भी हमें याद रखना होगा कि यह व्यक्ति ब्रह्मांड के अंदर एक अणुमात्र नहीं है। यह मानव जाति का ही प्रतीक है—उसकी भावी आशाओं और सपनों और आकांक्षाओं का प्रतीक। उसकी खातिर हमें, आज ही नहीं बल्कि हमेशा, उस मूल्य का प्रखर पुनर्मूल्यांकन करने के लिए तैयार रहना होगा जिसे उस व्यवस्था में, जिसके अंदर कि यह रहता है, मूर्त रूप मिला हुआ है। किसी भी बनी-बनाई स्थिति को सिर्फ इसलिये स्वीकार करते जाना, कि वही स्थिति चली आ रही है और विचारहीन या भोलेभाले बहुमत द्वारा स्वीकार की जा रही है, मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी की दृष्टि से मूर्खतापूर्ण भी है और अशोभनीय भी···

"राष्ट्रपरक राज्य की जब रचना हो रही थी औरनई आर्थिक व्यवस्था कायम की जा रही थी,तब जो कुछ भी उसके सीमित उद्देश्यो की परिधि के अदर अपनी अदम्य जीवनी शक्ति का सबूत देता नजर आ रहा था उसकी जगह पर, उस जमाने के विचारको ने, कोई अपनी चीज नही ला रखी थी; शायद वैसा कर सकना उनके लिये मुमकिन भी नही था। उनमे से कुछ तो उस राष्ट्रपरक राज्य और उस आर्थिक व्यवस्था के अतर्भूत मूल्य मे आस्था रखते हुए उन्हे आदर्श के रूप मे ही *मान बैठे थे*, और *थोड़े से ही लोग थे जिन्होंने*, उसमे जो भद्दा और बुरा नजर आया उसके खिलाफ, नैतिक या सौंदर्यबोध की दृष्टि से अपना विरोध प्रकट किया। इतिहासकारों ने पीछे की ओर गर्वपूर्वक नजर डालने पर अपने राष्ट्रपरक राज्यो का गरीबी, अज्ञान और बीमारी के बीच से आविर्भाव होते देखा, रूढ़िवाद और अस्तव्यस्तता की तत्कालीन स्थिति के बीच से रास्ता बना कर शक्ति और प्रतिष्ठा की ओर बढ़ते। उन्होने अधदेशभक्ति और राष्ट्रवादी श्रेष्ठता के कितने ही ऐसे सीधे सादे, और कभी-कभी तो अनिष्टकर भी, रागद्वेषो और ऐसी मनोवत्तियों को बढ़ावा दिया जिनकी कि राष्ट्रपरक राज्य को अपनी

नींव मजबूत करने के लिये जरूरत थी, और उसके आकांक्षित ध्येयों की परिधि के अंदर, चाहे वे चरितार्थ हुए हों या न हुए हों, लोगों के स्वप्नों का तालमेल बिठाया। यह बात उन्हें सूझी तक नहीं कि न केवल अपनी आभ्यंतरिक अर्थनीति के, बल्कि उससे भी ज्यादा, स्वस्थ अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास के मामलों में वे अपने लिये कितनी ही नई और उलझन में डालने वाली समस्याएं पैदा कर रहे हैं।

"इस अपेक्षाकृत नए राजनीतिक और आर्थिक ढांचे के अंदर व्यक्ति आज अपने को किस जगह खड़ा पाता है? इस नई सभ्यता का जब हम मूल्यांकन करने बैठते हैं तो देखते हैं कि कुछ बातों में जहां उसे फायदा हुआ है, वहां दूसरी कितनी ही बातों में उसे भारी नुकसान पहुंचा है, और शायद सबसे बड़ा नुकसान हुआ है उसके नैतिक रूप का लुप्त हो जाना। हम यह विश्वास करने लग गए हैं कि यह व्यवस्था जिस रूप में कायम है उसके द्वारा निर्धारित वैज्ञानिक और शिल्प-शास्त्रीय प्रगति के ढांचे को छोड़ सकना या बदलना हमारे लिये संभव ही नहीं है, भले ही उसके फलस्वरूप शांति और अंतर्राष्ट्रीय मेलजोल असंभव हो जाए या मानव जाति का ध्वंस करने वाले ज्यादा से ज्यादा शैतानी किस्म के उपकरण तैयार हों। शारीरिक विध्वंस का खतरा अगर बचता भी दिखाई दे या बिलकुल ही न रहे—हालांकि मैं ऐसा नहीं मानता—फिर भी, मानव व्यक्तित्व के और मनुष्य की सांस्कृतिक विरासत के बढ़िया फलों के विनाश के दूसरे भी तरीके हैं ही, जो अपने हथियार पैने करने में लगे हुए हैं। हमारी जिंदगी को हमारी अर्थ-व्यवस्था, हमारी शिल्पविधि, हमारा संगठन चला रहे हैं; अगर और कहीं नहीं, तो उन्नत देशों में तो हम अपने शिल्पशास्त्र के ऐसे प्रचंड दानव की जकड़ में आ गए हैं जो अपने सर्जक को ही खा जाए। व्यक्तित्व को कांटछांट कर एक स्तर पर लाने की एक अविच्छिन्न प्रक्रिया चालू है, जिंदगी के कितने ही महत्त्वपूर्ण हिस्सों में बाकी लोगों जैसा ही बन जाने के लिये हर व्यक्ति पर पड़ने वाला एक ऐसा दबाव है जिससे बच सकना करीब-करीब नामुमकिन ही है। हमें हर किसी की तरह करना होगा, वैसा ही सोचना होगा; वैसा ही महसूस करना होगा; जिस चीज की तारीफ करने के लिये कहा जायगा उसकी तारीफ करनी ही होगी। विज्ञापनबाजी के एक सबसे ज्यादा कुशल और शक्तिशाली तरीके के मोहजाल में हम बुरी तरह फंसते जा रहे हैं। सुख और आनंद की व्याख्या करने में हममें

से प्रत्येक को, आंख मूंद कर झुंड के ही पीछे चलना होगा और उनका सौदा करने वाले पेशेवर लोग भद्दी और अपरिष्कृत रुचियों को संतुष्ट करने के लिये होशियारी के साथ मन बहलाव की उपयुक्त सामग्री तैयार करने में लगे हैं। औसत व्यक्ति का न रब रह गया है, न कोई भीतरी पहचान, ऐसा कुछ नहीं जिसे अनूठा कहा जा सके। मनुष्य अब रहस्य नहीं रह गया; अब उसे न सिर्फ जाना जा सकता है बल्कि मापा भी, और चतुर लोग उन्हें चला भी सकते हैं, या चतुर यंत्र भी, जो भी आखिर तो उसी की ईजाद हैं। हो सकता है कि मेरी इस बात में कुछ अतिरंजना हो, लेकिन इसमें मुझे शक नहीं कि हमारे अधिकांश भाई-बहनों के बारे में यह बात सही है। मगर ईमानदारी की बात यह है कि इसके लिये हम उन्हें दोष नहीं दे सकते और न जिम्मेदार ही ठहरा सकते हैं, क्योंकि उनके लिये जो परिवेश गढ़ा गया है उसके नतीजे इनके सिवा और क्या हो सकते हैं।

"परंपरागत रूप में हमारी जो सबसे ऊंचे किस्म की रचनाएं है उनमें से कुछ पर जरा नजर सो डालिये। उनकी समसामयिक अभिव्यक्तियों का कितने ही मामलों में हम किस प्रकार का उपयोग होते देख रहे हैं? कला और साहित्य ने भी अधिकाधिक उग्रतापूर्वक मनुष्य का 'यथार्थवादी' मूल्याकन करके व्यक्ति को विघटित करने की इस प्रक्रिया में हिस्सा लिया है। किसी जमाने में यह माना जाता था कि ईश्वर ने अपने ही अनुरूप मनुष्य की आकृति गढ़ी थी। अब उसी मानव आकृति को कला के नाम पर विकृत, विरूपित, विभाजित करने के बाद उसके अलग-अलग हिस्सों को फिर से जोड़ कर एक बीभत्स निरर्थकता की शक्ल में पेश किया जा सकता है। साहित्य अपने माध्यम का इस्तेमाल व्यक्ति पर यह छाप डालने के लिये कर रहा है कि अंदर से वह खोखला है, और यह कि उसके युग-युग से संचित सभी स्वप्न और आकांक्षाएं व्यर्थ हैं, बल्कि उनकी कोई अंतर्भूत प्रामाणिकता है ही नहीं। और चूंकि सबसे ताजा और नया 'फैशन' यही है, और जो सबसे ज्यादा नया है वही सबसे अच्छा माना जाता है, इसलिये उसे फौरन मंजूर कर लिया जाता है। उसे चेतावनी दी जाती है कि अपनी जड़ों को वह अपनी शारीरिक सत्ता से और सतही तौर पर दुनिया जैसी दिखाई देती है उससे, गहरी न ले जाए। हमें बताया जाता है कि प्रगति की बदौलत कला और साहित्य जनता के ज्यादा करीब पहुंचे हैं, और किताबों के उत्पादन की तो कोई सीमा ही ी है। लेकिन परिमाण की बाढ़ में गुण डूब जा सकता है और अधिकांश चीजें

'इंस्टैंट (तात्कालिक) कॉफी' की तरह जल्द से तैयार हो जाना चाहती हैं। व्यक्ति ने सचमुच ही इस नए जगत और नई सभ्यता को रचने के लिये बहुत बड़ी कीमत चुकाई है।

"व्यक्ति का यह विघटन अगर जारी रहा, तो हम किस भविष्य की आशा कर सकते हैं? इस रास्ते के अंतिम छोर में हम पर जो भारी विपत्ति आने वाली है उसका इशारा हमें एकदलवाद की शक्तियों के उदय में मिल ही चुका है। व्यक्ति ने अगर अपने को किसी समूह की एक गुमनाम इकाई से कुछ ज्यादा समझने की क्षमता ही खो दी और अगर उसे किसी अधिक मानवतापूर्ण और अधिक सभ्य सामाजिक व्यवस्था की ओर से इस बात के लिए प्रशिक्षित और तैयार नहीं किया गया कि अपनी ही पैदा की हुई शक्तियों के खिलाफ, और मेरी राय में तो ऐतिहासिक शक्तियों के भी खिलाफ, जंग छेड़ने की जिम्मेदारी वह अपने कंधों पर ले सके, तो क्या लोकतंत्र सुरक्षित रह पाएगा?

"शिक्षाविदों को ही इस सवाल का जवाब देना है, उन्हें ही यह तय करना है कि वे नेतृत्व ग्रहण करेंगे या बाहरी शक्तियों के दबाव में पड़कर जो कुछ भी होता चला जायगा उसी के पुंछल्ले बने रहेंगे। हम जानते हैं कि मौजूदा हालात में ही हमें शिक्षा देनी है, लेकिन यह भी शिक्षा देने वाले के ही काम का हिस्सा है कि जरूरत पड़ने पर इन हालात को बदले और भविष्य को पहले से देख सके। मौजूदा हालात को पैदा करने और कायम रखने वाली शक्तियों को ही अगर उचित मानकर उनके पीछे चलना है, तो इसका कारण सिर्फ यह नहीं होना चाहिए कि आज उन्हीं का बोलबाला है। अपने नाम को सार्थक करने वाली किसी भी शिक्षा की अवधारणा हम किसी चीज के तौर पर नहीं कर सकते जो कहीं बाहर है, जिसका मनुष्य की अंतरतम सत्ता और उसके विकास के साथ कोई संबंध ही न हो। इसमें संदेह नहीं कि हमें उसे दुनिया के अनेकों कामों को कर सकने योग्य बनाना चाहिए, लेकिन हमारी इस क्रिया की जड़ें उन नैतिक और आचारशास्त्रीय मूल्यों की साधना में होनी चाहिए जो उन्हें सार्थक बनाती हैं। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का काम होना चाहिए मूल्यों की खोज के लिए प्रोत्साहन देना, अधिक-से अधिक विपरीत स्थितियों में भी साहसपूर्वक उनका दावा पेश कर सकना और सभी तरह के कामों में जहां तक संभव हो उन्हें अभिव्यक्ति देना। और ये मूल्य ऐसे होने चाहिए जिनकी अपनी अंतर्भूत प्रामाणिकता हो, और जो

सभी के लिए प्रामाणिक हों। शिक्षा जब अपने इस कार्य को पूरा करती है तभी मनुष्य अपने जीवन को, अपनी संस्थाओं को, और समूचे राज्य को कोई नैतिक ध्येय दे सकता है।

"इस संदर्भ में, अमेरिकी विश्वविद्यालयों की जिम्मेदारी सचमुच ही बहुत बड़ी है। उन्हीं का मस्तक आज, अपने राष्ट्रपरक राज्य की ही भांति, सारी दुनिया में सबसे ऊंचा है और दूसरे देशों के शिक्षक अक्सर उन्हीं से नेतृत्व की अपेक्षा रखते हैं। जहां उनकी अच्छाइयों का अनुकरण किये जाने की भारी संभावना है, वहां उनकी गलतियों के भी कई गुना बढ़ जाने की। अगर इस भ्रम कि अनुक्रिया जागरूकता का एक लक्षण है, वे मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की हर मांग को, बिना उसके बौद्धिक, सामाजिक या नैतिक मूल्य पर स्वतन्त्र और वस्तुपरक रूप से विचार किये, पूरा करने की कोशिश करते हैं, तो वे शिक्षा को चालू व्यवस्था की चेरी बना देंगे। मैं तो कहना चाहूंगा कि यह बात ऐसी है जो हमें शांति प्रदान करती है। लेकिन, दूसरी ओर, शिक्षा संबंधी उनकी धारणा अगर ऐसी है कि उन आदर्शों की सृष्टि के लिए जिनका स्वरूप नैतिक व्यवस्था के अनुरूप है, वह मजबूती से जमी हुई एक आत्मपरक संस्कृति को वस्तुपरक संस्कृति के संपर्क में ला सके, तो व्यक्ति के अंदर वे नए प्राण फूंक देंगे और तब लोकतंत्र सच्चे आत्म-स्वातंत्र्य का प्रतिनिधित्व करेगा।

"...मुझे पता है मैंने किसी हद तक एक निराशापूर्ण दृष्टिकोण सामने रखा है। लेकिन मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि रचनात्मक राजनीतिक प्रयास और विज्ञान के, तथा विज्ञान के उपयोग द्वारा जो कुछ हासिल किया गया है उसके, महत्त्व को घटाने या उसकी उपेक्षा करने की बात मेरे दिमाग से कोसों दूर है। जो कुछ हासिल किया गया है वह इतना शानदार और सुस्पष्ट है कि उससे इंकार किया ही नहीं जा सकता। बात सिर्फ यह है, कि दाव पर इतना ज्यादा-कुछ चढ़ा हुआ है कि हम इतने पर ही संतोष करके नहीं बैठ जा सकते, तस्वीर के सिर्फ खूबसूरत पहलू को ही देखकर चैन की सांस नहीं ले सकते। एक विश्व के विचार ने व्यक्ति और राज्य दोनों के ही लिए राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक क्रियाकलाप के क्षेत्र का बेहद विस्तार कर दिया है, और इस विचार को विकसित करने की दिशा में जो भी अगले कदम उठाए जाएं वे बड़ी जिम्मेदारी के साथ उठाए जाएं। हम सभी को अपने सामने समाज के भावी ढांचे की तस्वीर रखनी

चाहिए, राज्य के संपूर्ण आभ्यंतरिक संगठन की, और राज्यो के पारस्परिक संबंध की, उनकी अपनी खातिर नही वल्कि इसलिए कि वे मानव, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को मूर्त्त रूप देते हैं। ये मूल्य स्वयं भी उसी सीमा तक महत्त्व रखेंगे जिस सीमा तक वे व्यक्ति के अंत.करण और उसके आध्यात्मिक अनुभव का प्रकाश करेंगे और फिर भी जिनकी सार्वभौम प्रामाणिकता होगी। यह एक चुनौती है, न सिर्फ व्यक्ति की बल्कि पूरे मानव समाज को, न केवल शिक्षा को वल्कि उन सभी सर्जनात्मक प्रभावो को, जो उससे लाभ उठाते हैं और उसके उद्देश्यों को रूप देते हैं।

"राष्ट्रपरक राज्य के, और प्रसंगानुसार उसके अतर्गत चालू आर्थिक प्रणाली के भी, कुछ पहलुओं पर आपका ध्यान खीचना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा। व्यक्ति की स्थिति के बारे में भी मैंने इसलिए चर्चा की कि मैं एक ऐसे प्रश्न को लेकर चिंतित हूं जो न सिर्फ हमारे ही दोनों देशो के लिए एक समान है वल्कि सभी राष्ट्रों के लिए। सयुक्त राज्य अमेरिका ने भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में प्रत्यक्ष दबाव डाला था और भारत को स्वाधीनता मिल जाने के बाद भी उसने कई शक्लों मे उसे मदद देकर भारतीय लोकतंत्र की ताकत बढाई है। भारत के कल्याण के लिए उसे कितनी ज्यादा फिक्र है यह इसी का सबूत है। उधर भारतीय भी अपने को अमेरिकियो के साथ विचारों के सादृश्य मे एक साथ पाते हैं, क्योकि लोकतत्रात्मक सिद्धातो और स्वाधीनता के मूल्य के ही नही, शाति और न्याय की सहयोगात्मक खोज के प्रति भी, उनकी निष्ठा एक समान है। लेकिन यह भी जानते रहना अच्छा ही है कि कभी-कभी गलतफहमिया या मतभेद भी पैदा होते ही रहते हैं। अमेरिकियों को कभी-कभी इस बात पर नाराजगी होती है कि उनके उद्देश्यो को, चाहे वे कितने ही उदार क्यों न हो, सदेह की दृष्टि से देखा जाता है, हालाकि मुझे यह कबूल करना ही होगा कि दुनिया के सभी मुल्कों मे उद्देश्यो के बीच मिलावट आ ही जाती है। दूसरी ओर, भारतीयों के अंदर भी आधिपत्य का डर समाया हुआ है, जो किसी ऐसी जाति के लिए स्वाभाविक ही है जिसने उपनिवेशवादी शासन को अपने कधों पर से उतार फेंका है, और जब कभी किसी बड़प्पन का इजहार उन्हें दिखाई देता है, चाहे वह सही हो या सिर्फ काल्पनिक हो, तब भी वे बुरा मान जाते हैं। हम दोनों के बीच लोकतंत्र की कड़ी जरूर है, लेकिन अमेरिकी उद्योग और रुपये की ताकत इतनी जबर्दस्त है कि यह समस्या

सकना कुछ मुश्किल नही होना चाहिए कि उदारता का भी हाथ बढ़ाए जाने पर भारत डर जाता है। गलतफहमी की वजहों को अगर हम दूर करना चाहते हैं तो हमें बातचीत को राजनीतिक, आर्थिक, यहा तक कि शैक्षिक स्तर से भी ऊपर उठाना होगा। बडी-बड़ी उपलब्धियो को अगर हमेशा विकास की आशाओं के ही मुकाबले रखा जाता रहेगा तो बराबरी की भावना नही पैदा हो सकती। जो बात हमे एक-दूसरे के नजदीक ला सकती है, और फिर एक साथ रख सकती है, वह जीवन के मानदंड के उतने ही ऊचे हो जाने की नही, बल्कि अपने प्रति सचाई बरतने, अपने से भिन्न जीवन पद्धतियो के प्रति सहिष्णुता रखने, और पुरुषो और स्त्रियो के रूप मे, बराबरी की सहज भावना पैदा करने के मामलो मे उतना ही ऊंचा मानदंड रखने की है। तब हम अपनी विनम्रता मे, और अपने जीवन और कार्यों को पूर्णता की ओर ले जाने के एक आभ्यतरिक प्रयास मे, एक साथ मिलकर *ईश्वर के और अपने अंत.करण के सामने खड़े हो सकते हैं*…"

सारी दुनिया मे, और, साथ ही भारत मे भी, समसामयिक आदोलनो और स्थितियो के कारण ऐसे व्यक्ति सामने आए हैं जिन्होने सुस्पष्ट रूप से अपने-अपने राष्ट्रपरक राज्यो को एक नैतिक विशिष्टता दिलाने के प्रयास किये। हमारे यहा ऐसे व्यक्तियों के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हैं महात्मा गाधी और जवाहरलाल नेहरु, लेकिन उनकी सूक्ष्मदृष्टि और गुणो का बार-बार जिक्र करते रहने से यह छाप पड़ सकती है कि इसके उदाहरण सिर्फ वे ही थे। और उदाहरण के रूप में उन्हे विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए हमे ऐसे व्यक्तियों की ओर भी नजर डालनी है जो औरो से ज्यादा ऊंचे तो नही थे लेकिन जिन्होंने अपने प्रभाव का विस्तार ऐसे स्तरो पर किया जिन्हे और भी बड़े प्रयासो के लिए आगे ले जाने वाली सीढ़ियों के रुप मे देखा जा सकता है। डा. ज़ाकिर हुसैन ने यूसुफ मेहरअली की जो तस्वीर खीची थी उससे हमारे अदर यह भावना पैदा होती है कि जिस व्यक्तित्व की बात वह सिद्धात के तौर पर माने हुए थे वह उन्हें दिखाई दे गया था।

"यूसुफ मेहरअली का वर्णन एक भारतीय, सच्चे भारतीय, के रूप मे करने भर से मुझे खुशी और तृप्ति हो जाती, लेकिन मुझे डर है कि तब बहुत कम लोग ही यह समझ पाते कि मेरा मतलब दरअसल है क्या। यह तो मैं कह ही नही सकता कि वह हिंदू थे, क्योकि वह एक मुस्लिम घराने में पैदा हुए थे। मैं उन्हे

मुसलमान भी नहीं कह सकता, क्योंकि वह खुद मजहबी भेदभावों को मानने से इंकार करते थे, और इसलिए उन्हें उन पर थोपना ठीक नहीं। लेकिन परंपरा और संस्कृति ने अच्छे मुसलमान की एक तस्वीर खींच रखी है, और जैसे ही हम किसी अच्छे मुसलमान को देखते हैं,उस तस्वीर में जान पड़ जाती है। मेरी कलम में वह ताकत नहीं कि उस तस्वीर को उसके सारे चटख रंगों के साथ, जिनमें से कोई भी बेमेल नहीं है, फिर से खींच सकूं। मैं तो सिर्फ उसका एक मोटा खाका भर दे सकता हूं।

"पुरानी परिभाषा के अनुसार, अच्छा मुसलमान वह है जो नदी जैसा उदार हो, सूरज जैसा परोपकारी हो, और धरती जैसा मेहमान नवाज। वह दुखियों की पुकार सुनता है, असहाय लोगों की जरूरतें पूरी करता है, आम लोगों के दुख-दर्द ही उसके दुखदर्द हैं और आम लोगों के कामकाज ही उसके कामकाज हैं; वह उन्हीं के बीच रहता है, उनके संगसाथ की वजह से जो सख्तियां झेलनी पड़ती हैं उन सबको झेलता है, और जो उसे नुकसान पहुंचाते हैं उनके साथ वह उलटे उदारता और आत्मत्याग का रास्ता अख्तयार करता है। अच्छा मुसलमान दोस्तियां करता है, क्योंकि दोस्ती के अंदर ही मनुष्यों और ईश्वर के बीच का सही संबंध प्रकट होता है, और अच्छा दोस्त बनने के लिए वह अपने अंदर उन सामाजिक गुणों का विकास करता है जो साथ वालों को सबसे ज्यादा पसंद हैं— मनोहर आचरण, बातचीत, तर्कवितर्क और कायल कर सकने की योग्यता, साहित्य और कला के रसास्वादन में ही नहीं, उन बातों में भी हिस्सा लेना जिनसे मानव जाति में गहरी दिलचस्पी प्रकट हो और धार्मिक लोगों के प्रति श्रद्धा-भक्ति। बराबरी का व्यवहार उसके लिए कोई धर्मादेश की तरह नहीं होता जिसका मानना जरूरी हो, बल्कि एक सहज क्रिया जैसा होता है जो उसका निजी स्वभाव बन जाता है और जिसे वह दबा नहीं सकता। अच्छा मुसलमान सिर्फ खुदा को ही प्यार करता है, लेकिन इस तरह, कि जिन लोगों के बीच वह रहता है उन्हें यह महसूस करा दिया जाता है कि वह सिर्फ उन्हीं को प्यार करता है।

"क्या ये गुण कोई ऐसा चौखटा पेश करते हैं जिसके बीच यूसुफ मेहरअली की तस्वीर को जड़ दिया जा सके? अगर हां, तो वह एक अच्छे मुसलमान थे, लेकिन अगर हम उन्हें एक ऐसे इंसान के तौर पर याद करें जो हमें प्यार करता था और

जिसे हम भी प्यार करते थे, तो भी हम उनके साथ कोई अन्याय नहीं करेंगे।"[1]

इसका बहुत-सा हिस्सा तो खुद डा. ज़ाकिर हुसैन पर ही लागू होता है। दोस्ती का न सिर्फ उनका आदर्श ऊंचा था बल्कि दोस्तों के साथ उनका ऐसा ही रिश्ता था जिसे निभाने में वह अपनी बुद्धि का ही नहीं, अपनी सहज शिष्टता और उदारता का भी प्रकाश करते थे। ऐसे भी दोस्त थे जिन्हें यह शिकायत थी कि उन तक उनकी पहुंच ही नहीं हो पाती, और जब उन्हें मिलने का कोई मौका मिल जाता था तो वे देखते थे कि वह बहुत शर्मिंदा हैं। लेकिन 'प्रोटोकोल' (नयाचार) की जरूरतों के अलावा भी, वह यह जरूर महसूस करते होंगे कि जिस ओहदे पर वह थे वहां रहते हुए अपने मुलाकातियों को चुनने की पूरी छूट वह नहीं ले सकते। जो भी उनसे मिलना चाहे उन सबकी पहुंच उन तक होनी चाहिए, और जहां तक मुमकिन हो, वह अपनी पसंद या नापसंद का ख्याल न करें। मुलाकाती आमतौर पर कोई दरख्वास्त लेकर आते थे, या कोई शिकायत, जिसे वे उन तक पहुंचा देना चाहते थे। इनमें प्रमुख होते थे राजनीतिज्ञ या जिम्मेदारी संभालने वाले ऐसे बड़े लोग जो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कुंठित होने पर उनसे बात करके कुछ सांत्वना पाना चाहते थे। कोई दूसरा व्यक्ति, जो शिष्टाचार, उदारता और धीरज की अपनी शक्ति की अंतिम सीमा तक परीक्षा होने देने के लिए तैयार न होता, अपनी रक्षा के रास्ते निकाल ले सकता था, लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन के लिए यह एक चुनौती के तौर पर थी, और वह हार मानने को तैयार नहीं थे। कभी-कभी जब मेरी उनसे मुलाकात होती, वह कहते, *कि उनकी मुस्कुराहट उनके चेहरे की स्थायी मुद्रा बन गई है,* उसी का एक हिस्सा, या यह कि उन्हें इस हद तक बराबर ही खीसें निकाले रहना पड़ता है कि उनके जबड़े दुख जाते हैं। कभी-कभी वह इतने मायूस हो जाते थे कि कहने लगते उनका दोस्त कोई रहा ही नहीं।

मगर शिष्टाचार संबंधी जो जिम्मेदारियां उन्होंने खुद अपने ऊपर थोप ली थीं उनके साथ ही साथ वह ऐसे व्यक्तियों की भी तलाश में रहते थे, और उन्हें

---

1. ए. जी. नूरानी लिखित 'प्रेसिडेंट ज़ाकिर हुसैन—ए क्वेस्ट फ़ॉर एक्सेलेंस' (राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन—उत्कृष्टता की एक खोज); 'पापुलर प्रकाशन,' बंबई, 1967, पृ. 88-89।

खोज भी निकालते थे, जिनके शौक उन्हीं के जैसे होते थे, या जिनके अंदर भी देश के जीवन और उसकी संस्कृति को समृद्ध करने की प्रतिभा और ऊंची आकांक्षा होती थी। कितने ही लेखक, विद्वान, कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ और बागवानी के शौकीन न सिर्फ उनकी मेहरबानी की बातें याद करेंगे, बल्कि उस प्रोत्साहन को भी जो उन्हें इसलिए मिला कि उनके काम और उनकी योजनाओं में उन्होंने गहरी व्यक्तिगत दिलचस्पी ली। सृजनात्मक क्षमता वाले लोगों को महज तारीफ से ज्यादा इस चीज की जरूरत होती है; इससे उन्हें सौहार्द का एक सूत्र मिलता है जिसकी जरूरत उन्हें सबसे ज्यादा रहती है और जिससे उनका आत्मविश्वास बढ़ता है। जो लोग इस तरह का सम्मान पाने के योग्य थे उनके अलावा ऐसे भी लोग थे हो जो इसके लायक अभी नहीं बन पाए थे। दिल्ली कालेज के एक अध्यापक के बारे में मुझे मालूम है जिनका सपर्क डा. जाकिर हुसैन से इसलिए हो पाया था कि वनस्पति विज्ञान के अनुसंधान में उनकी गहरी दिलचस्पी थी; और उनके साथ कुछ ही मिनटों की बातचीत से किसी पर यह छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी कि वनस्पति विज्ञान संबंधी अनुसंधान में डा. जाकिर हुसैन की दिलचस्पी खासतौर से है। और, अत में आते थे वे लोग—और उनका महत्त्व कुछकम नहीं था—जिनमे डा जाकिर हुसैन की पिछले जमाने की जान-पहचान थी मगर जिनकी हैसियत इतनी मामूली थी कि वे खुद-ब-खुद भारत के उपराष्ट्रपति से मुलाकात करने के लिए नहीं आ सकते थे। हर सभा, सम्मेलन या समारोहों में ऐसे लोग होते थे, जो एक किनारे पर कहीं खड़े दूसरे लोगों को उनसे मिलते और बातें करते देखते रहते थे। न जाने कैसे, डा. जाकिर हुसैन को उनकी मौजूदगी का पता चल जाता था, और जो लोग उनमे मिलने के लिए आगे बढ़ आते थे उनके साथ अपनी फर्ज-अदायगी करने के बाद वह पीछे की ओर अपनी नजर डालकर देखते, और ज्यों ही किसी ऐसे शख्स पर नजर पड़ जाती जिसे उपराष्ट्रपति बनने से पहले वह जानते थे, तो वह उसकी ओर बढ़ जाते और दोस्ताना तरीके से उसका हाथ अपने हाथों मे दबा लेते, या उसे गले भी लगा लेते।

जब वह राष्ट्रपति थे, उस समय की एक प्रकाशित घटना मिसाल के तौर पर है। "मुझे याद है कि 9 मार्च 1969 को जब वह मेरे बगीचे में पधारे थे तो मेरे माली पर उनकी नजर नहीं पड़ पाई थी। वह पहले से उसे जानते थे; वह यों

तो उस दिन छुट्टी पर था लेकिन राष्ट्रपति जब जाने लगे तभी तब आ पहुंचा था। उन्होंने मुझसे दर्यापत किया कि मेरा 'आदमी' कहां है। मैंने उसी दम माली को आवाज दी, जो उस जगह जमा हो जाने वाली छोटी-सी भीड़ के बीच खड़ा था, और भारत के राष्ट्रपति उससे मिलने और हाथ मिलाने के लिए खुद ही आगे बढ गए।"[1]

लेकिन अपने सारे सामाजिक गुणों के बावजूद, डा जाकिर हुसैन बडे खरे आलोचक भी थे। मैं नही जानता कि इस मामले मे मुझे जो 'खास सम्मान' मिला हुआ था वह और कितनो को नसीब था, लेकिन मेरी उनसे जितनी भी अंतरंग मुलाकातें हुई उनमे से अधिकाश मे वह अपनी सारी जमी हुई कटुता मेरे सामने उगल डालते थे। उन्हे खासतौर से यह बात तकलीफ देती थी कि जो तमाम लोग अपनी पूछ होते देखना, या तरक्की या काम करने के बेहतर मौके चाहते हैं, उनमें शायद ही कोई यह महसूस करने वाला हो कि किसी-न-किसी तरह का आत्म-परीक्षण भी जरूरी है, और यह भी, कि उन्हे जिन बातो से वचित किया गया है या जो सहूलियतें उन्हे नही मिली हैं उनके बारे मे अपनी शिकायतो की फिहरिस्त अगर वे बनाते हैं, तो उन्हे साथ ही इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि अपने लिए जो कुछ चाहते हैं उसकी योग्यता या दक्षता के नाते भी उनके क्या अधिकार होते हैं।[2] बहुतेरे जरूर ऐसे भी थे जिनके द्वारा किये गए कामो के,

---

[1]डा. जाकिर हुसैन स्मारक समिति, अखिल भारतीय ब्वाय स्काउट्स एसोसियेशन, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित 'जाकिर हुसैन, दि मैन—ए गाइडबुक फॉर यूथ (मानव जाकिर हुसैन-नवयुवकों के लिए एक मार्गदर्शक पुस्तिका) मे बी. पी अग्निहोत्री लिखित एक लेख।

[2]इस सिलसिले मे मुझे प्रवेशिका परीक्षा पास एक ऐसे नौजवान के बारे मे बताई गई डा जाकिर हुसैन की बात याद आती है जिसकी आत्मोन्नति की आकांक्षा ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था। वह नौजवान रोजगार की तलाश मे आया था और प्रधान माली के साथ उसे काम पर लगा दिया गया था। सवेरे जब डा जाकिर हुसैन बगीचे में घूमने निकलते तो वह भी मालियों के साथ-साथ रहने लगा। एक बार डा. जाकिर हुसैन ने प्रधान माली को यह हिदायत दी कि तोड़ कर लाए जाने वाले गुलाबों के साथ वह उनके नामों का पुर्जा नत्थी कर दिया करे। उस नौजवान ने यह सुन लिया। उसने गुलाबों के नाम याद कर डाले, फिर उन्हें ठीक-ठीक लिखने का अभ्यास किया, और एक रोज सुबह डा. जाकिर हुसैन यह देख चकित रह गए कि हर गुलाब के साथ उसके नाम का पुर्जा नत्थी था। उन्होंने उन पुर्जों को पढ़ा, और पाया कि सभी नामों के हिज्जे सही थे।

और अगले काम की जिनकी योजनाओं के, वह प्रशंसक थे, बहुतों पर उनका बड़ा स्नेह था, लेकिन ऐसे लोगों की तो बाढ़-सी आई हुई थी जो उनके पद से फायदा उठाना चाहते थे या इस संभावना से भी कि वह उनकी मदद कर सकते हैं। अपने संपर्क में आने वालो को वह तीन वर्गों में बाटने के लिए मजबूर हो गए थे : जो अपने लिए उनसे कुछ कराना चाहते थे, जो कुछ भी नही चाहते थे, और जो—हालांकि इनकी संख्या बहुत, बहुत कम थी—उन्ही बातो मे दिलचस्पी रखते थे जिनमे कि उनकी दिलचस्पी थी और उनके दिमाग उनके लिए ही कुछ कर सकने की बात सोचते रहते थे। इस अंतिम वर्ग के प्रति वह बहुत ही कृतज्ञ थे, सिर्फ इसीलिए नही कि उन्होने उनके लिए क्या किया, बल्कि मानव प्रकृति में आस्था कायम रखने में उनकी मदद करने के लिए भी।

कितने ही मौको पर मैंने डा. जाकिर हुसैन और प्रधानमंत्री नेहरू को एक साथ देखा। प्रधानमंत्री बहुत ही सहज स्वाभाविक मुद्रा मे दिखाई देते। वह जिस पद पर थे उस पर उनका बनावनाया हक था और जनता बार-बार उस हक की पुष्टि करती आई थी। उन्हें प्रतिष्ठा मिली हुई थी, भले ही जरूरत पड़ने पर भी उसका इस्तेमाल करना वह कम ही पसंद करते थे। अपने काल के लोगों मे उनकी गिनती उनमें थी जो सबसे ज्यादा पढते हैं और सबसे ज्यादा जानकारी रखते हैं, उनकी दिलचस्पी तमाम तरह की बातों में थी, और उनसे भी ज्यादा चीजों के साथ उनकी हमदर्दी रहती थी। उनके चेहरे और उसकी मुस्कान ने लाखों-करोडों को मोह लिया था। मानो यह तो सोचा ही नही जा सकता था कि वह प्रधानमंत्री नही बनेंगे और जब तक चाहेंगे तब तक उस पद पर नही बने रहेंगे। यो डा. जाकिर हुसैन की भी प्रकृति मे कुछ कम रईसी नही थी लेकिन वह एक ऐसी संस्था के प्रधान रहे थे जिसे किसी सीमा तक भी मान्यता प्राप्त करने में कितने ही दशक लग गए थे; उपराष्ट्रपति की हैसियत जैसे उनके लिए सर्वथा उपयुक्त थी, मानो वह उसी के लिए पैदा हुए हो। इन दोनो को ही कुछ दूरी से देखने पर मुझे लगता था कि डा. जाकिर हुसैन को, प्रधानमंत्री से ज्यादा ऊचे कद का होना, और नयाचार के हिसाब से उनसे ज्यादा ऊंची हैसियत रखना, जैसे कुछ

खलता हो।[1] सार्वजनिक अवसरो पर हर तरह की नई स्थिति के लिए तैयार रहना उन्होने सीख लिया था, और कब उनसे किस तरह की उम्मीद की जाएगी इसके लिए वह हमेशा चौकन्ने बने रहते थे, और उन उम्मीदो से भी बढकर कर दिखाने के लिए व्यग्र रहते थे, अगर वैसा सहज रूप मे किया गया ही दिखाई दे। और इसलिए, जब कभी वे दोनो एक ही जगह होते थे, तब डा. ज़ाकिर हुसैन अपने को छोटा ही बनाकर रखने की कोशिश करते थे—और कुछ साल छोटे वह थे भी, उनसे कम तजर्बेकार—लेकिन अक्लमदी का, और स्वीकार योग्य, कोई सुझाव देने के लिए हमेशा तैयार, और जब वे दोनो किसी सभा-समिति का सचालन कर रहे होते, तो थके प्रधानमत्री की वह बीच-बीच मे इस तरह मदद करते जाते कि सही फैसले पर बिना ज्यादा वक्त बर्बाद किये पहुंचा जा सके। यह मान लेना तो सही नही होगा कि डा ज़ाकिर हुसैन ने अगर राजनीतिक जीवन मे प्रवेश किया होता तो प्रधातमत्री के साथ हर बात पर उनका पूरा मतैक्य ही होता। लेकिन अपने-अपने पद पर रहते हुए उन दोनो का वह साथ अनूठे ही किस्म का सुस्पष्ट था, और चित्ताकर्षक विषमताओ का एक सुदर सामजस्य।

काल ने इस सुदर सामजस्य को उसके विभिन्न रूपो मे प्रकाशित नही होने दिया, क्योकि 27 मई 1964 को प्रधानमत्री नेहरू की मृत्यु हो गई। डा ज़ाकिर हुसैन को कितना गहरा शोक हुआ था उनके उस भाषण से प्रकट हुआ जो सगम मे भारत के प्यारे प्रधानमत्री की भस्म के बहाए जाने पर दिया गया था।

तीन मूर्ति भवन मे जवाहरलाल नेहरू की पहली बरसी मनाने के लिए जो सभा हुई थी उसकी अध्यक्षता डा. ज़ाकिर हुसैन ने ही की थी। उससे पहले हा मैं अपने एक सहयोगी मोहम्मद खालिक की एक कविता उनके पास भेज चुका था जिसे जवाहरलाल नेहरू की मौत के सदमे मे उन्होने लिखा था। मैंने यह कविता इसीलिए उनके पास भेजी थी कि मुझे अच्छी लगी थी, सच पूछा जाय

---

[1]एक बार उन्होने शिकायती लहजे मे मुझे बताया था कि प्रधानमत्री से मिलना कठिन हो गया है। जब भी वह मुलाकात का वक्त मांगने के लिए फोन करते, यही जवाब मिलता कि प्रधानमत्री खुद ही उनसे मिलने के लिए तशरीफ लाएंगे। इससे उन्हें बड़ा सकोच होता था, क्योकि इसका यही मतलब दिखाई पड़ता था मानो वह खुद ही प्रधानमत्री को अपने यहां आने के लिए कह रहे हों।

सो, उस वक्त लिखी ऐसी कविताओं में करीब-करीब सबसे अच्छी। मुझे यह देख कर ताज्जुब ही नही एक तरह का गर्व भी हुआ कि अपने भाषण का अंत डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसी कविता से किया। इससे मुझे कोई तीस साल पहले का एक मुशायरा याद आ गया, जब कि वह अचानक उठ खड़े हुए थे और गोंडा के शायर असगर की एक गजल पढ़ने लग गये थे। शायर खुद वहां मौजूद थे, लेकिन मालूम होता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने, जिन्होंने उनकी गजल पढ़ सुनाई थी, यह महसूस किया होगा कि अपनी कमजोर और बेसुरी-सी आवाज में वह उसके साथ न्याय नही कर पाएगे। उन्होने उसे एक ऐसे तीव्र भावावेग के साथ पढ़ा कि उसमे उनकी अपनी आवाज की सारी खूबसूरती और जान आ गई। जिस सुर में और जिस अदा के साथ उन्होंने वह पंक्ति पढ़-सुनाई थी वह आज भी मेरे दिमाग में पूरी तरह नक्श है :

ज़े शौके बंदगी परवरदिगार करदःअम पैदा

यानी—

पूजा करने की अपनी आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए ही मैंने ईश्वर की रचना की।

तीस साल बाद भी, जब कि उम्र और बीमारियो की वजह से उनकी आवाज में वह बात नही रह गई थी, उनके जोश-खरोश मे कोई कमी नही दिखाई दी, और कुछ वैसी ही तन्मयता भी जो असगर की गजल पढ़ते वक्त थी।

आखिरी बार मैंने उन्हें सार्वजनिक रूप मे कविता पढते तब सुना जब उन्होने ऐवाने-गालिब की नीव का पत्थर रखा। उन्होंने गालिब की दो लोकप्रिय गजलें पढ़ सुनाई, और उनके पढ़ने के ढंग मे यही भाव मन में आया कि सच्चा काव्यप्रेम घिसी-पिटी कविताओं को भी किस तरह नई जिंदगी दे सकता है।

जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद प्रधानमन्त्री के रूप मे उनके उत्तराधिकारी का चुनाव, और 1966 में लालबहादुर शास्त्री के उत्तराधिकारी का चुनाव, ऐसी राजनीतिक घटनाए थी जिनसे डा. ज़ाकिर हुसैन का प्रत्यक्ष संबध नही था। वह भले ही न जान सके हों, लेकिन श्रीमती गांधी का प्रधानमंत्री चुना जाना उनके अपने भविष्य के लिए भी निर्णायक सिद्ध हुआ। 1964 मे वह अलजीरिया और मोरक्को की, मई-जून 1965 में कुवैत, सऊदी अरब, जोर्डान, तुर्की और

यूनान को, और जुलाई 1966 मे अफगानिस्तान की सद्भावना-यात्रा पर गए। अपनी अवधि के अत तक वह चुपचाप 'भारतीय' और 'भारत' की रूप-रचना में लगे रहे—उसके खाके को बराबर ही पहले से ज्यादा उभारते रहे और उसकी उन्होने वह तस्वीर खीची जो कही-अधिक स्पष्ट और निश्चयात्मक थी।

3. भारत के राष्ट्रपति

कोई वजह नही कि राष्ट्रपति के चुनाव मे सघर्ष न हो, लेकिन जब कोई पार्टी केंद्र मे, और राज्यो की भी एक बड़ी संख्या मे, बहुमत में हो तो यह संघर्ष सिर्फ नाम के लिए होना चाहिए। 1967 मे राष्ट्रपति के चुनाव के लिए जो सघर्ष हुआ उसमे काग्रेस पार्टी के अदर ही ऐसे तनाव और मतभेद थे कि काग्रेसी उम्मीदवार के बारे मे फैसला होने में देर होती गई, और विरोधी दलों ने, जो शायद यो डा जाकिर हुसैन को ही सबसे ज्यादा सही और अच्छा उम्मीदवार मानते, अपना अलग ही उम्मीदवार खडा करने का फैसला किया।

काग्रेस पार्टी ने अपना फैसला करने मे जो देर की उसके सही कारण तक न पहुच कर अगर उसके बारे मे उदारतापूर्ण दृष्टि रखी जाय, तो वह यही है कि केंद्र मे उसे बहुमत प्राप्त कर लेने का भरोसा नही था और साथ ही केंद्र और कुछ राज्यो के बीच पार्टी के अंदर मतभेद भी थे। 26 जनवरी की पूर्वसंध्या को डा राधाकृष्णन ने जो भाषण दिया था वह इतने तीखे तौर पर और खुल्लमखुल्ला, आलोचनात्मक था कि यह मान लिया गया कि उन्होने निवृत्त होने का निर्णय कर लिया है, और उन्होने अपने इस इरादे को छिपाया भी नही। लेकिन काग्रेस के अदर के एक गुट ने, जो प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का विरोधी था—किस हद तक और किन तरीको से, यह तो वही सबसे ज्यादा जानती होगी—उन्हें फिर से अपने निर्णय पर विचार करने के लिए राजी करने की कोशिश की, और इस गुट की ख्वाहिश यह थी कि अब कोई ऐसा राष्ट्रपति हो जो अपने पद की प्रतिष्ठा का इस्तेमाल अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए करे। इस बात मे कितना सच है यह तो पता नही, लेकिन बात यह फैलाई गई कि डा. राधाकृष्णन फिर से राष्ट्र-

मातृभूमि की रूप-रेखा।

पति चुने जाने के लिए राजी हैं, और यह, कि कम-से-कम किसी मुसलमान का चुना जाना तो दक्षिणी राज्यों को पसंद नहीं ही है। डा. ज़ाकिर हुसैन की अपनी स्थिति उस सूचना द्वारा साफ कर दी गई थी जो अखबारों में छपी थी : दोबारा उपाध्यक्ष पद स्वीकार करने के लिए वह किसी भी हालत में तैयार नहीं होंगे; राष्ट्रपति पद अगर उन्हें दिया गया तो उसे वह हार्दिक कृतज्ञता के साथ स्वीकार कर लेंगे। तब तक उनके नामांकन का प्रश्न कई हफ्तों से विचाराधीन था, और राजनीतिक दलों के बीच इस सवाल पर जो विवाद छिड़ गया था उसने उन लोगों को, जो डा. ज़ाकिर हुसैन के पक्ष में नहीं थे, बेबुनियाद बातों को फैलाने का मौका दे दिया था। आखिर श्रीमती गांधी को सफलता मिल गई और 10 अप्रैल को कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने डा. ज़ाकिर हुसैन को अपना उम्मीदवार नामजद कर दिया। 26 अप्रैल को, जब कि चुनाव अभियान पूरे जोरों पर था, डा. ज़ाकिर हुसैन संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए रवाना हो गए और मतदान शुरू होने के तीन दिन पहले लौटे। यों, कहने को, मतदान राजनीतिक पार्टियों के आधार पर ही हुआ, लेकिन इस बात को मानने के कारण मौजूद हैं कि दरअसल वैसा हुआ नहीं। ऐसा लगता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन की जीत किसी पार्टी के उम्मीदवार के नाते नहीं, अपने व्यक्तित्व के बल पर ही हुई। इस चुनाव का यह पहलू ही शायद उसकी मर्यादा की रक्षा कर सका। एक लाख से ज्यादा वोटों के बहुमत से डा. ज़ाकिर हुसैन निर्वाचित घोषित किये गए और 13 मई 1967 को उन्होंने संसद के केंद्रीय कक्ष में अपने पद की शपथ ली। श्री वी. वी. गिरि उपराष्ट्रपति चुने गए।[1]

बाद को दिये गए एक वक्तव्य में डा. ज़ाकिर हुसैन ने कहा, "संपूर्ण राष्ट्र का मैं कृतज्ञ हूं—जनता के प्रतिनिधियों का और आम जनता का भी—कि भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति के ऊंचे पद के लिए मुझ पर भरोसा रखा गया।

"सचमुच यह एक बहुत बड़ा सम्मान है, कि राष्ट्र ने महज एक अध्यापक को इसके काबिल समझा, एक ऐसे अध्यापक को, जो लगभग सैंतालीस साल पहले यह संकल्प कर चुका था कि अपनी जिंदगी के सबसे अच्छे साल वह राष्ट्रीय

---

[1] श्री गिरि के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन के परम सौहार्दपूर्ण संबंध थे। श्री गिरि जब उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे तब 1959 में वह नैनीताल में एक महीने तक उनके अतिथि के रूप में रहे।

शिक्षा को अर्पित कर देगा। मुझे तो यही लगता है कि इस तरह मेरे देशवासियों ने बिलकुल साफ तौर पर यह स्वीकार किया है कि शिक्षा किसी राष्ट्र के जीवन के प्रकार में पूरी तरह घुली-मिली रहती है बल्कि वस्तुतः वही राष्ट्रीय ध्येय का एक प्रधान उपकरण है।

"मैं अपने देशवासियों को यह यकीन दिला सकता हूं कि मुझ पर जो भरोसा किया गया है उसके काबिल बनने का मैं निरंतर प्रयास करता रहूंगा। अपना सार्वजनिक जीवन मैंने महात्मा जी के चरणों में बैठकर शुरू किया था और वही मेरे मार्गदर्शक और प्रेरक थे।

"अपनी जिंदगी में मैं महात्माजी की शिक्षाओं में से कुछ पर अमल करने की कोशिश करता आया हूं और, अपने देशवासियों की सेवा करने का जो यह नया मौका मुझे मिला है उसमें, भरपूर कोशिश करूंगा कि अपने देशवासियों को उसी ओर ले जाऊं जिधर पहुंचने के लिए गांधी जी बराबर जूझते रहे—एक पवित्र जिंदगी, व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में इस बात पर पूरा जोर कि साधन भी लक्ष्य की ही भांति पवित्र हो, कमजोरों और पददलितों के लिए एक सक्रिय और सतत सहानुभूति और सत्य तथा अहिंसा के आधार पर विश्व में शांति और मानव भ्रातृत्व की स्थापना में मदद देने की पहली शर्त के तौर पर *भारतीय जनता के विविध अंशों के बीच एकता गढ़ने की जबर्दस्त ख्वाहिश।* इसी को उन्होंने रामराज्य कहा था।

"सब तरफ ही तो झगड़ा है। मेरा उद्देश्य यह रहेगा कि अपने देशवासियों के बीच मेलजोल का भाव बढ़ाऊं ताकि वे सभी कंधे से कंधा मिला कर उन जबर्दस्त कामों में जुट जाएं जो करने को पड़े हैं। देश के कुछ हिस्सों में लोग जो मुसीबतें झेल रहे हैं उनका मुझे बखूबी पता है और मेरा दिल दुख रहा है। खाद्यान्नों की कमी तो जैसे हमेशा ही कहीं न कहीं बनी रहती है। हमें अपनी कमर कस लेनी है और अपने देशवासियों की समृद्धि के इन सभी दुश्मनों से लड़ना है।

"तो आइये, अपने देशवासियों के कष्टों को घटाने के जबर्दस्त काम में जुट जाने के लिए एक बार फिर हम अपने को समर्पित कर दें। मैं इन कामों के लिए अपने को एक बार फिर समर्पित करता हूं और कल सुबह सात बजे राजघाट जाकर मैं उस महापुरुष की समाधि पर, जिसने पहलेपहल अपने देशवासियों को

सेवा के लिए अपने को समर्पित करने का पाठ मुझे पढ़ाया था, यही करूंगा।

"मैं उम्मीद करता हूं कि आप सभी देश को शक्तिशाली और उसके लोगों को सुखी बनाने के काम में अपने को समर्पित कर देंगे। ईश्वर हममें से हर एक को अपना कर्त्तव्य निभाने की शक्ति दे।"[1]

एक जर्मन अखबार, 'स्यूड्डयूत्श्चे त्सयूटुंग' ने यह भविष्यवाणी की कि नए राष्ट्रपति की एक स्वतंत्र राजनीतिक भूमिका रहेगी; दूसरे भी कुछ लोग जरूर ही रहे होंगे जिन्होंने आशा की कि वह अधिकारपूर्वक अपनी बात मनवाने की कोशिश करेंगे। उन्होंने ऐसा किया भी जरूर होगा, जो उन संघर्षों से प्रकट है जो उनकी आकस्मिक मृत्यु के बाद उभर कर सामने आ गए। जिन लोगों के साथ उनका वास्ता था उनकी प्रकृति को समझ कर ही—और उसे समझ लेना उनके लिए बिलकुल सहज-स्वाभाविक था—उन्होंने वह सब किया होगा, क्योंकि बाहर से यह सब कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। लेकिन बातचीत के दौरान कभी-कभी वह मुझसे जो कुछ कह डालते थे उससे मुझे यही लगा कि बातें कहने के अपने उस तरीके को वह कायम रखे हुए थे जिसमे जिज्ञासु श्रोता तो अटकल-बाजी ही करता रह जाय, और वह संविधान द्वारा निर्दिष्ट अपनी महान भूमिका को भी पूरा कर सकें। लेकिन उनके जैसे व्यक्ति के लिए अपने को अलग रख सकना मुमकिन हो ही नहीं सकता था। हमें यही मान कर चलना होगा कि अपने सद्भाव द्वारा, जो उनके अंदर प्रचुर मात्रा मे था, मेलजोल और सामंजस्य की भावना को बढ़ाना वह अपना एक जरूरी काम मानते होंगे। दूसरी ओर प्रधानमंत्री ने भी, उनके चुनाव के बाद, कहा था कि सेवा में ही समर्पित समूची जिंदगी की बदौलत उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के ही स्नेह, सम्मान, स्वीकृति और सद्-भाव को अर्जित कर लिया था।[2] निस्संदेह यह उनका हार्दिक उद्गार था, और उन्हें जिताने के लिए उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा था। उस उच्च पद पर उन्हें प्रतिष्ठित देख उन्हें बेहद खुशी हुई थी, लेकिन उनकी भी अपनी अलग ही

---

[1] ए. जी. नूरानी लिखित, 'प्रेसिडेंट ज़ाकिर हुसैन—ए क्वेस्ट फ़ॉर एक्सेलेंस', पृ. 174

[2] ए. जी. नूरानी लिखित, 'प्रेसिडेंट ज़ाकिर हुसैन—ए क्वेस्ट फ़ॉर एक्सेलेंस', पृ. 104।

मर्जी थी और वह भी अपने ही तरीकों से काम करना पसंद करती थी। फिर भी, उनकी बात सुनने को वह तैयार रहती थी, और उनकी बात सुनने भर से, जान पड़ता है, उनके लिए और कांग्रेस के अंदर के उनके विरोधियों के लिए काफी फर्क पड़ गया था।

किसी राजनीतिक और संवैधानिक दृष्टि से यह बात निस्संदेह परम महत्वपूर्ण थी, लेकिन इस पर बाहर कोई चर्चा नहीं हुई क्योंकि अखबारवालों को *इसका पता ही नहीं चलने पाया। यह बात भी आमतौर पर अज्ञात ही रही आई* कि राष्ट्रपति होने के कुछ ही वक्त बाद उनकी गृहमंत्री से मुलाकात हुई थी, और इसलिए, खुद गृह मंत्रालय की सिफारिश पर, वह मृत्युदंडों को आजीवन कारावास के दंडों में परिणत कर देने के अपने अधिकार का भरपूर इस्तेमाल कर सकते थे। जिस बात ने कुछ अनुकूल, और उससे ज्यादा प्रतिकूल, आलोचनाओं को जन्म दिया था वह थी डा. ज़ाकिर हुसैन का शृंगेरी के शंकराचार्य और मुनि सुशील कुमार से मिलने के लिए जाना। शनिवार 13 मई के 'स्टेट्समैन' ने निम्नलिखित समाचार प्रकाशित किया था :

"भारत के राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित होने से पूर्व, पी. टी. आई. के समाचार के अनुसार, डा. ज़ाकिर हुसैन शुक्रवार को दिल्ली में शृंगेरी के श्री शंकराचार्य से मिलने के लिए गए और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया।

"जगद्गुरु के चरणों में फूल और फल रख कर डा. ज़ाकिर हुसैन ने यह कहते हुए उनका आशीर्वाद मांगा, 'आपका आशीर्वाद है।' शंकराचार्य ने निर्वाचित राष्ट्रपति के सिर के ऊपर तक अपना हाथ उठाया और उन्हें आशीर्वाद दिया।

"आशीर्वाद पाने के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने स्वामी जी के साथ करीब दस मिनट तक बातें कीं। उसके बाद श्रद्धापूर्वक स्वामी जी के चरण स्पर्श करके डा. हुसैन ने बिदा ली।

"जैन मुनि सुशील कुमार का भी आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये डा. हुसैन उनसे मिलने गए थे।

"डा. हुसैन एक मामूली दरी पर बैठे जब कि मुनि जी लकड़ी के एक तख्त पर बैठे थे। 20 मिनट तक वे दोनों एक ऐसे कमरे में थे जिसमें कोई पंखा नहीं था।"

इस विवरण में यह बात गलत थी कि उन्होंने शंकराचार्य के पांव छुए थे। खुद डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक दोस्त को बताया था कि उन्होंने शंकराचार्य के पांवों में

सिर्फ फूल चढ़ाए थे। लेकिन वह वहां गए क्यों थे इसकी उन्होंने कोई सफाई नहीं दी थी। मैंने भी जब यह बात पूछी थी तब भी उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया था, और उनकी भावभंगिमा से मैंने यही अंदाज किया कि वह चाहते थे कि इसकी वजह मैं खुद ही समझ लू।

क्या वह डा. राधाकृष्णन द्वारा शुरू की गई प्रथा का पालन कर रहे थे, जो शंकराचार्य के दिल्ली आने पर हर बार उन्हें मस्तक नवाने जाते थे? क्या वह बहुसंख्यक सम्प्रदाय को खुश करना चाहते थे? क्या यह उनकी अपनी ही आदत थी कि जनता जिन्हें पूजती हो उनके प्रति सम्मान-प्रदर्शन करें? इनमे से किसी भी सवाल का स्वीकारात्मक जवाब सिर्फ आंशिक रूप में ही सही हो सकता था, पर साथ ही उससे यह भी सूचित होता कि भारत के राष्ट्रपति बनने के बाद उनकी विचार-पद्धति और कार्यपद्धति भी बदली थी। मगर मेरी अपनी राय में, इसकी संभावना कहीं ज्यादा कम थी; मेरी अपनी राय में वह बिलकुल भी नहीं बदले थे।

मेरा अपना खयाल यह है कि शंकराचार्य से मिलने के लिये उनके जाने की बात अपने ही संप्रदाय के खिलाफ उनकी उस शिकायत के साथ जुड़ी हुई है जो 1920 की उस शाम से ही उनके दिल में कसकती रही थी जब कि उन्होंने अपने दोस्तों की भी जबान से महात्मा गाधी के बारे में असम्मानजनक शब्द सुने थे। तब से बराबर ही वह धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों में मुसलमानों के विशिष्ट अधिकार का साहसपूर्वक दावा करते आए थे। और वह महसूस करते थे कि इसके बदले में मुसलमान भी हिंदुओं को अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता कायम रखने और उसका दावा करने का अधिकार ईमानदारी के साथ देंगे। मगर उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया था। ऐसा करने के लिए निस्संदेह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और राजनीतिक कारण थे ही, जिनमे सबसे ज्यादा उत्तेजक था, न सिर्फ हिंदुओं के प्रतिक्रियाशील तत्वो द्वारा, बल्कि उन राजनीतिज्ञों द्वारा भी जो यों बहुत ही मैत्रीभाव रखते थे और प्रबुद्ध विचारों वाले थे, इस बात से खुल्लम-खुल्ला इंकार करना कि मुसलमानों की कोई पृथक् सांस्कृतिक सत्ता है। फिर भी, हिंदुओं की सांस्कृतिक सत्ता को स्वीकार करने और उसका सम्मान करने से मुसलमानों का इंकार करना एक इंकार तो है ही और इससे न सिर्फ यह प्रकट हो जाता है कि उनके अंदर उस उदारता का अभाव है जो किसी मुसलमान के लिये

करीब-करीब कर्त्तव्य जैसा है, बल्कि यह भी उनका दिल कहता है और उनके अंदर प्रतिशोध की यह भावना है जो खुद उनके लिये भी नुकसानदेह है। डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपनी निजी हैसियत में भी, और जामिया मिल्लिया तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में भी, मुसलमानों के इस रुख को बदलने के लिये जो कुछ भी मुमकिन था किया था। बिहार के राज्यपाल के रूप में उन्हे राज्य के एक उच्च पदाधिकारी की हैसियत से पहली बार हिंदू जीवनपद्धति में अपनी दिलचस्पी और उसके प्रति अपना गहरा सम्मान दिखाने का मौका मिला था। मुसलमानों को यह बात नापसंद थी, और उनमें से काफी लोग यह महसूस करते थे कि एक ऊंचे ओहदे पर पहुंच जाने के बाद उन्हे उससे फायदा उठाकर मुसलमानों को वे सब 'हक' दिलाने चाहिये जिनकी कि वे मांग कर रहे थे। यही उम्मीद उनसे तब की गई जब वह उपराष्ट्रपति हुए। दूसरी ओर, यह बात दिन पर दिन और भी ज्यादा साफ होती गई कि गैर मुसलमान उनके प्रशंसक और विश्वासपात्र बनते जा रहे हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि मुस्लिम संस्कृति के वास्तविक मूल्यों का वह सही प्रतिनिधित्व करते हैं। तब फिर वही क्या करते ? उनके गुरु, गांधी जी, ने अपने लोगों द्वारा किये जाने वाले हिंसात्मक कार्यों का प्रायश्चित करने के लिये उपवास किया था। वह उपवास तो कर नही सकते थे, इसलिये अपने सम्प्रदायवालों की संकीर्ण हृदयता के प्रायश्चित स्वरूप वह शंकराचार्य और मुनि सुशील कुमार के पास पहुंचे। आमतौर पर मुसलमानो को यह बात बुरी लगी; कुछ तो गुस्सा भी हुए; कई लोगों ने यह भी कह डाला कि उनके दिल में उनके लिये जो भी इज्जत थी वह भी खत्म हो गई। ईद की नमाज के लिये जब वह पहलेपहल जामा मस्जिद गए तो लोगों ने उन्हे घेर लिया और रस्म के मुताबिक उनसे गले मिले, और भाईचारे का यह इजहार इतने जोश के साथ हुआ कि उनका दिल पिघल गया, मगर आलोचना फिर भी जारी रही। उनके चुनाव के करीब साल भर बाद जब मैं उनसे मिला था तब वह किसी मुसलमान के लिखे एक बडे ही बेहूदा खत से तिलमिलाए हुए थे। "लोगबाग अब सिर्फ अपनी जबानों से कोडे लगाने लगे हैं," वह मुझसे बोले और फिर गालिब का एक शेर कहने लगे—

हक गोयम व नादां बज़बानम देहद आज़ार
यारब चे शुद आं फ़तवः बरदार कशीदन।

अर्थात्—

> मैं तो सच्ची बात कहता हूं, मगर नादान लोग
> अपनी जबानों से मुझे कोड़े लगाते हैं।
> या खुदा, क्या मुंसिफ को अब
> फांसी के तख्ते और फंदे से परहेज है ?

कोई भारतीय नागरिक जिस उच्चतम पद को प्राप्त करने की आकांक्षा कर सकता है उस पर डा. ज़ाकिर हुसैन के पहुंच जाने के बाद की दास्तान शुरू करने का यह कोई बड़ा अच्छा तरीका जरूर नहीं दिखाई देगा। लेकिन दुर्भाग्यवश उनका वह कार्यकाल इसी घटना से शुरू होता है। इसके अलावा, किसी दूसरे ढंग से इसे शुरू करना एक तरह से डा. ज़ाकिर हुसैन की गलत तस्वीर पेश करना होगा। ऊंचे पदों तक पहुंचने की उनकी तमन्ना यों तो थी ही नहीं, लेकिन अगर वह कभी रही भी हो, तो उसके पूरे होने पर उनके लिये उस पर इठलाना तो बिलकुल नामुमकिन था। ज्यादा इज्जत मिलने का उनके लिये मतलब था औपचारिक प्रतिष्ठा को व्यक्तिगत नम्रता के साथ,[1] अधिकार और प्रभाव को न्याय-भावना के प्रति और भी ज्यादा गहरी श्रद्धा के साथ, एक उच्च सार्वजनिक पद पर रहने के बोध को अपनी खुद की सीमाओं के और आम लोगों की अभावग्रस्तताओं के साथ, मिलाकर चलने का और भी बड़ा कर्त्तव्यबोध। इस कर्त्तव्यबोध को सफलतापूर्वक निभाने की वजह से ही वह इतनी ज्यादा प्रतिष्ठा पा सके और सच्चे भारतीय के आदर्श रूप को, जिसे तैयार करने में वह जिंदगी भर लगे रहे, पूरी तरह रख सकें।

---

[1] उनकी बेटी सईदा से मुझे पता चला कि फरवरी 1969 में जब कि वह इन्फ्लुएंजा के बाद अच्छे हुए थे और उनके चिकित्सकों ने उन्हें कुछ देर तक टहलने की इजाजत दे दी थी, या, बीच-बीच में सुस्ता लेने पर ज्यादा देर तक टहलने की भी, तब वह बागीचा देखने के लिये चल दिये। उनके निजी चिकित्सक और 'एडीसी' लोगों के अलावा कुछ और लोग भी उनके साथ थे। रास्ते में जहां-जहां भी कोई बेंच आई, कुछ देर सुस्ता लेने का उनसे अनुरोध किया गया। लेकिन पूछताछ करते और हिदायतें देते वह बराबर आगे ही बढ़ते चले गए। जब वह अपने कमरे में वापस आए और उनसे पूछा गया कि बीच बीच में वह सुस्ताए थे या नहीं, तो बोले, "सुस्ताता कैसे ? सभी जगह तो सिर्फ चार-पांच आदमियों के बैठने की जगह थी, और मेरे साथ थे कुल मिला कर आठ-दस लोग।"

27 दिसबर 1967 को पटियाला मे पंजाबी विश्वविद्यालय के गुरुगोविंद सिंह भवन का शिलान्यास करते हुए उन्होने जो भाषण दिया था वह शायद इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण होगा कि इस रूप को रचने के लिये उन्होने कितने प्रचंड आवेग और कितनी बड़ी निष्ठा के साथ प्रयत्न किये थे। उनका यह भाषण एक गद्यकाव्य जैसा था। इसे लिखते वक्त वह रो रहे थे और उसे सुनते वक्त उनके श्रोताओं की भी आखें भर आई थी।[1] किसी आदर्श के लिये किसी के उस जबर्दस्त प्यार का यह उदाहरण था जो दिल के बांध को तोड़कर *उमड पडता है और उस प्रेमी की आखों से मोतियो की नाईं टपकने लगता है।*

"आप लोगो के बीच आज की अपनी मौजूदगी को मैं अपने लिये एक बहुत बड़े सौभाग्य की बात मानता हूं और कुलपति का मैं दिल से शुक्रगुजार हूं कि गुरु गोविंद सिंह भवन का शिलान्यास करने के लिये उन्होने मुझे पसद किया। लेकिन मुझे कबूल करना होगा कि जब उन्होने खुदा रसीला (बड़े पहुंचे हुए संत), आध्यात्मिक ज्ञान के आगार, हज़रत मियां मीर वली के ही साथ-साथ, जिनके करकमलो ने अमृतसर के दरबार साहब का शिलान्यास किया था, मुझ जैसे नाचीज का नाम उसी सास में ले डाला, तो मैं घबराहट और शर्म से गड़ गया। मुझ जैसे अध प्राणी का नाम इस तरह के पवित्र कामो के साथ भला कैसे जोड़ा जा सकता है? 'आध्यात्मिक जगत के साथ भला मुट्ठीभर धूल का क्या संबध रह सकता है?'

"लेकिन हां, दीन और मजहब की दुनिया मे यह बात आम रही है कि बड़े अपने बड़प्पनके और अपनी अच्छाई के जरिये अधम और पतित लोगों को सहारा दें। अल्लाह से यही दुआ मागता हूं कि आपने मेरे ऊपर जो मेहरबानी की है उसी की खातिर वह मुझे इस शानशौकत वाली जगह पर वही सचाई, ईमानदारी और सेवाभावना दे दे जो किसी भिखारी को नसीब है। कुलपति महोदय, आपने मुझ पर इतनी बड़ी मेहरबानी की है और मुझे इतनी बडी इज्जत बख्शी है कि तहे दिल से मैं आपका शुक्रिया अदा करता हू और महज इतना ही चाहता हू कि काश मैं किसी हद तक भी अपने को उसके काबिल बना पाता।

[1]देखिये, 6 जुलाई 1969 का 'दि इलस्ट्रेटेड वीक्ली ऑफ़ इंडिया'।

"जो भी हो, मेरी हार्दिक बधाई तो स्वीकार करें ही, कि आप लोग एक बड़े और प्रशंसनीय काम में आगे बढ़े। धर्मों के एक तुलनात्मक अध्ययन का काम जितना अच्छा हमारे देश मे हो सकता है उतना और कही भी नही, मगर फिर भी जहा दूसरे देश इस पर बहुत ज्याद काम कर रहे हैं, हम सिर्फ शुरुआत कर रहे हैं। लेकिन एक बार शुरुआत करने भर की देर है, कि हमारे कदम कही ज्यादा तेजी से बढ़ेंगे। भिन्नता मे एकता की खोज करने की, विरोधों के बीच समन्वय स्थापित करने की, उद्देश्य का सामजस्य उत्पन्न करने की बात तो करीब-करीब हमारी प्रकृति मे ही समाई हुई है। हमारे देश, हमारे घर, का तो मानो निर्माण ही इसी ढंग से हुआ है। और अपनी मातृभूमि भारत की एक झाकी हमे इस 'भवन' में मिलेगी। मगर मैं समझता हूं कि भारतवासी अपने देश के साथ अपना सबध तभी समझ सकता है जब कि अपने देश का, अपने घर का, मतलब यह ठीक ठीक महसूस कर लेता है। बच्चे का घर है मा के गोद की आरामदेह और मीठी गरमी। जब वह बढ़ने लगता है तब उसके मा-बाप जिस झोपड़ी या महल मे रहते हैं वही उसका घर हो जाता है। बाद को, पूरा गांव या शहरी पड़ोस, घर जैसा दिखाई देने लगता है। फिर उसके आसपास की चीजें, वे दरख्त, जिन्हे वह पहचानने लगा है, चिड़ियों की चहचहाहट, वे जानवर और लोगो के वे चेहरे, जिन्हे देखने का वह आदी बन चुका है, ये सभी उसके घर का सामान बन जाते हैं। धीरे-धीरे इस घर मे न सिर्फ भौतिक चीजों का समावेश होने लग जाता है, बल्कि उनके भी परे, विचारों और आदर्शों तक का। तब तो वह सस्कृति, जिस पर लोगों ने, सभी तरह के लोगो ने अपनी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रभाव डाला है, धर्म और आस्था वाली बातें, कलाए, साहित्य, इतिहास, लोग जो बातें कह गए हैं, वे जो कुछ कर गए हैं उनकी स्मृतिया, यह सब, और इनके अलावा भी बहुतकुछ, उसके घर के अंश बन जाते हैं। और इस तरह होता यह है कि घर का आगन ही बढ़कर सारा देश बन जाता है, उसके निवासी एक परिवार के ही सदस्यों की नाई उस घर मे उसके साथ-साथ रहते हैं; राष्ट्र, या राज्य, सिद्धांतपूर्ण और ईमानदारी की जिंदगी बिताने वाले लोगों के अपने इतिवृत्त के साथ, इतिहास की अपनी संचित निधि और संस्कृति के कीमती खजाने को लिये हुए, अपने महापुरुषों की महानता और नेक लोगों की अच्छाइयों सहित, इस घर का ही एक हिस्सा बन जाता है। मां की गोद, गांव, या शहरी पड़ोस, निकट का

टीला या सोता ; फिर, प्रांत, एक ही बोली बोलने वाले और एक ही मजहब को मानने वाले लोग, सभी इस घर में आते हैं, और कौन कह सकता है कि धीरे-धीरे इस घर में और क्या-क्या शुमार होने लग जाता है : हिमालय और विंध्य पर्वत श्रेणी, गंगा और यमुना, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा और कावेरी, बदरीनाथ और रामेश्वरम, द्वारका और जगन्नाथ पुरी, राम और कृष्ण, गौतम बुद्ध और भगवान महावीर, शंकराचार्य और रामानुज, अशोक और अकबर, नानक और कबीर और गोविंद सिंह, अजमेर के मुईनुद्दीन और ख्वाजा निजामुद्दीन, सूरदास, तुकाराम और मीराबाई, कालिदास और तुलसीदास, गालिब और अनीस, वल्लथोल और टैगोर, गांधी और अबुलकलाम, जवाहरलाल नेहरू, ये सब, और इनके अलावा भी कितने ही लोग, अपने नामों और अपनी उपलब्धियों के साथ, घर का रूप ले लेते हैं। और ये सब वही आनंद और वही मीठी गरमी देते हैं, वही दिलासा और वही ताकत, जो पहलेपहल मा की गोद में मिलती है। यह बड़ा घर वही आसक्ति उत्पन्न कर देता है, वही प्यार, और इसकी सेवा और रक्षा करने के लिये दिल के अंदर वही जोश उमड़ पड़ता है जो मां की सेवा और रक्षा करने के लिये उमड़ता है। मुझे पूरी उम्मीद है कि उस बड़े घर के अंदर जिसे कि हम भारत कहते हैं, पंजाबी विश्वविद्यालय के अंदर बनने वाला यह घर, यह गुरु गोविंद सिंह भवन,आप लोगों के दिल में और दिमाग में अपने घर की ही भावना को मजबूत करेगा। मुझे यकीन है कि जो लोग यहां काम करते हैं और जो इस संस्था से लाभ उठाते हैं, वे सभी उस व्यक्ति की महानता को चरितार्थ करेंगे जिसके नाम पर यह भवन बन रहा है।

"गुरु गोविंद सिंह जी की समूची जिंदगी त्याग,परिश्रम, शिक्षाकार्यों, सामरिक प्रतिभा, संगठनशक्ति, बेजोड़ बहादुरी, असीम कृपालुता और अथाह प्रेम की ही एक अद्वितीय गाथा है। इस गाथा में हमें ऐसी सख्तियों को झेलने की बातें मिलती हैं जो दिल को दहला देती हैं, और सफलता की भी ऐसी बातें जो हमारे अंदर साहस और उम्मीद भर देती है। अगर अपने भोलेपन में कोई शख्स अपने को यह धोखा दे ले सकता है कि बिना सख्तियां झेले ही सफलताएं मिल सकती हैं तो यह कहानी उसे साफ दिखा देगी कि किसी ईश्वरोपासक का जीवन, कोई सुंदर, निर्मल और ऊंचा जीवन, सस्ते दामों पर नहीं खरीदा जा सकता। गुरु गोविंदसिंह जैसी सूक्ष्म दृष्टि, साहस, और निष्ठा वाले लोग हर रोज नहीं पैदा

हुआ करते। क्योंकि, ऐसी कौन सी चीज रह गई थी जिसे इस ईश्वरोपासक व्यक्ति ने परमात्मा के चरणों में अर्पित न कर दिया हो? अपने पिता को, अपने प्यारे बेटों को जो उनकी आंखों के तारे थे, अपने दुस्साहसी वीर साथियों को जिनके प्रति वह अपनी संतान से भी बढ़ कर कृपालु थे, सभी को तो उन्होंने न्यौछावर कर दिया था। हर तरह की विपत्तियों को झेलते हुए वह खानाबदोश की ही तरह रहे, और सख्त से सख्त मुसीबतें उठाईं, उनके कितने मोह टूटे और कितनों ने ही उनके साथ बेवफाई की, और, आखिरी बलिदान के रूप में, उन्होंने अपनी जान ही दे दी। ऐसी एक भी बात नहीं थी जिसने पल भर के लिये भी उनके साहस को डिगाया हो, या उनके आत्मविश्वास को ही, जो किसी पर्वत की तरह शान के साथ अडिग और ऊंचा खड़ा रहा। अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये जो इस कदर डटा रहे, विरोधों का मुकाबला करने का जिसका संकल्प इतना दृढ़ हो, उसे इतिहास सफल किये बिना नहीं रह सकता। इस सिंह को सभी के खिलाफ मोरचा लेना पड़ा था—पहाड़ी राजाओं की, बराबर बनी रहने वाली, द्वेषभावना और शत्रुता के खिलाफ, स्थानीय अधिकारियों के कुचक्रों, उनकी प्रतिद्वंद्विताओं, उनकी क्रूरता और कड़ाई के खिलाफ, मुगल साम्राज्य की शक्तिमत्ता, रौबदार शानशौकत, घमंड और हेकड़ी के खिलाफ। लेकिन मनुष्यों के एक ऐसे संप्रदाय को गढ़ने के अपने संकल्प को उन्होंने पूरा करके ही दम लिया जो अच्छाई और सचाई के पक्ष में लड़ेंगे, जो क्रूरता और अत्याचार से उनकी भी रक्षा करेंगे जो उनके अपने संप्रदाय के नहीं हैं, जो एक ही परमात्मा की सर्वोच्चता की घोषणा करेंगे, जो उस परमात्मा को छोड़ और किसी के भी आगे सिर नहीं झुकाएंगे और किसी भी दूसरी शक्ति से नहीं डरेंगे, जिनकी ईश्वर में पक्की आस्था होगी और जिनके दिलों में ईश्वर का ही डर होगा—यह सभी उन्होंने एक टिकाऊ और पक्की नींव पर खालसा की स्थापना करके कर डाला। गुरुगोविंद सिंह का यह काम इतना शानदार था कि उनका नाम इतिहास के पृष्ठों पर हमेशा के लिये लिखा रहेगा। सिर्फ इतिहास के ही पृष्ठों पर नहीं, बल्कि ऐसे अगणित मनुष्यों के हृदयों पर, जिनके लिये उनका नाम शक्ति और बहादुरी का मंत्र बन जाएगा, जिनके अंदर वह धार्मिक जोश और उच्च आकांक्षाएं जाग्रत करेगा, जिन्हें वह सत्य पर अटल रहना, ईश्वर से, और सिर्फ ईश्वर से ही डरना सिखाएगा, और जिनके अंदर वह उनके पदचिह्नों पर चलने के

संकल्प पर डटे रहने की शक्ति भर देगा।

"मानव प्रकृति जब तक अन्याय और अत्याचार के प्रति घृणा से अनुप्राणित है, मनुष्यों के अंदर जब तक इस बात का साहस है कि अपने अंतःकरण की धीमी मगर साफ आवाज को वे राजनीतिक सत्ता के भय और आतंक के सामने, चाहे वह कितना ही प्रचंड क्यों न हो, दबने न दें, मनुष्यों के हृदय जब तक नीति-परायणता और न्याय की रक्षा करने के जबर्दस्त जोश से आंदोलित होते रहेंगे, राजनीतिक मामलों में पक्षपात और धार्मिक मामलों में बाह्याडंबर के मोह के खिलाफ भले और सच्चे लोगों के अंदर जब तक नफरत कायम है, तब तक दुनिया गुरु नानक और उनके यशस्वी उत्तराधिकारी गुरु गोविंद सिंह को नहीं भूल सकती।

"इस संस्था को आपने गुरु गोविंद सिंह के नाम पर बनाया है, तो फिर उन्हीं के गुण इस संस्था के कार्यों को प्रेरणा देते रहें।"

किसी राष्ट्रपति को तो अपने व्यक्तिगत विचारों को सार्वजनिक रूप में प्रकट करने के मामले में, किसी उपराष्ट्रपति या राज्यपाल के मुकाबले भी, कम आजादी रहती है। निजी बातचीत के दौरान भी राज्य के प्रमुख की उसकी हैसियत का तकाजा यही है कि वह अधिक-से-अधिक कौशल से काम ले। लेकिन किसी भी भारतवासी से यह तो कहा ही जा सकता है कि वही अपने देश के लिये आशा-स्वरूप है, और इस तरह की तारीफ अगर किसी राज्य की की जाए तो, बिना किसी की कोई क्षति किये, राजनीतिक दृष्टि से यह कारगर भी हो सकती है। बिहार को उन्होंने भारत का हृदय कहा था। मैंने सुना है कि उन्होंने तमिल-नाडु के एक मुख्यमंत्री से कहा था कि उनका राज्य ही भारत के लिये आभा-स्वरूप है। इससे भी ज्यादा हाल की तरफ मैंने सुना कि इसी तरह की तारीफ उन्होंने एक मंत्री से बात करते वक्त मैसूर की की। अंतर्राष्ट्रीय तमिल सम्मेलन में उन्होंने जो भाषण दिया था उससे निश्चय ही हर तमिलभाषी को अपनी संस्कृति पर, अपने राज्य पर—और अपने देश पर, गर्व हुआ होगा। मेरे पास कोई निश्चयात्मक, वस्तुनिष्ठ, साक्ष्य तो नहीं है जिससे मैं अपने मत की पुष्टि कर सकूं, लेकिन मेरा खयाल है कि एक उत्तर भारतीय राष्ट्रपति द्वारा तमिल-नाडु की सांस्कृतिक सत्ता के स्वीकार किये जाने का उत्तर और दक्षिण के बीच की तनातनी को दूर करने में कुछ-न-कुछ हाथ जरूर रहा होगा।

डा. जाकिर हुसैन अगर अपने पद पर उनकी पूरी अवधि तक रह पाते तो भारत में उसके जिस रूप की रचना के काम में वह लगे हुए थे उसे, अपनी विदेश-यात्राओं द्वारा, एक दूसरे क्षेत्र में भी आगे ले जाते। फिर, जुलाई 1968 में हुई उनकी सोवियत रूस की यात्रा ने एक ऐसी जरूरत भी पूरी की जिसे वह खुद भी जरूर महसूस करते रहे होंगे। वेर्नर सोंबार्ट के एक विद्यार्थी के नाते उन्होंने आर्थिक विकास और आर्थिक न्याय के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण बना लिया था जिसके कारण पूंजीवादी और मार्क्सवादी दोनों ही विचारधाराओं के निरूपणों के पीछे छिपी वास्तविकता को वह देख सकते थे। समाज के सहकारी, समाजवादी, ढांचे में उनकी पक्की निष्ठा थी, लेकिन उन्हें उस ढीलेढाले चिंतन का, दोषपूर्ण आयोजना का, और संशयपूर्ण कार्यान्वियन का भी पता था जिसके फलस्वरूप भारत में इस आदर्श पर उस तरह नहीं चला जा रहा था जिस तरह कि चला जाना चाहिये था। मुझे याद नहीं है कि सोवियत संघ में उनके मन पर जो छाप पड़ी उसके बारे में उन्होंने मुझे कुछ भी बताया था; दूसरी ओर उन्हें जानने वाले सभी दूसरे व्यक्तियों की तरह मुझे भी यह यकीन है कि बौद्धिक रागद्वेष से वह मुक्त थे और इसलिये सोवियत संघ को मिलने वाली ठोस और शानदार उपलब्धियों की सिर्फ इसी आधार पर वह उपेक्षा नहीं कर दे सकते थे कि वे उस विचारधारा और कार्यपद्धति का परिणाम थी जिनके साथ उनका मतैक्य प्रकट नहीं था। भारत में जिन सोवियत वैज्ञानिकों और विद्वानों से उनकी मुलाकात हुई थी उनके वह बड़े प्रशंसक थे, और सोवियत संघ और भारत में जब-जब वह सोवियत संघ और भारत के बीच सौहार्द और सहयोग की स्थापना के बारे में बोले थे तो साधारणतः जिस अर्थ में राजनीतिज्ञ लोग इस तरह की बातें कहते हैं उससे कहीं ज्यादा गंभीर अर्थ में उन्होंने यह बात कही थी।

सरकारी और राजनयिक कामकाज के अलावा भी, उनकी दिनचर्या का प्रमुख भाग, पहले की ही तरह, मुलाकातियों से मिलने-जुलने का रहता था। बल्कि, विभिन्न प्रकारों से सहायता की मांग पहले से और बढ़ी ही दिखाई देती थी। लेकिन डा. जाकिर हुसैन का लचीलापन किसी जादू के चमत्कार जैसा था। कहते वह यही थे—पहले से कहीं ज्यादा बार, और कहीं ज्यादा दर्द के साथ—कि उनका कोई दोस्त नहीं है, लेकिन उत्कृष्टता की उनकी तलाश कायम थी, और

जहां भी वह उन्हे दिखाई पड़ जाती थी, वह उसकी कद्र करते थे।[1] गुलाब के शौकीन वह थे ही, और गुलाब के शौकीनो के अपने दायरे को वह बढ़ाते रहे। श्रीमती कांता डोगरा इकेबाना शैली मे फूलो की सजावट करके उनके निजी कमरों को नई ताजगी देती रहती थी। कलाकारों को अपनी कलाकृतियों में उनकी दिलचस्पी से अब भी प्रोत्साहन मिलता रहता था। नेशनल बुक ट्रस्ट ने अपने द्वारा संगठित पुस्तक-मेला का उद्घाटन करने का उनसे अनुरोध किया था। प्रदर्शनी मे घूमते-घूमते किसी वक्त वह पूछ बैठे, कि मकतबा जामिया का भी कोई प्रदर्शन-कक्ष वहा है क्या ? जब बताया गया कि मकतबा का भी प्रदर्शन-कक्ष है, तो वह वहा जा पहुचे और यह देख चकित रह गए कि किताबें बड़ी ही खूबसूरती के साथ सजाई गई हैं। जामिया मिल्लिया के इस प्रकाशन विभाग के ही नही जामिया मिल्लिया के भी निर्माण के लिए किए गए सघर्ष की यादें निश्चय ही दिल के अदर उमड़ उठी होगी, और उनकी आखें खुशी के आसुओ से छलछला रही थी।

मुझे याद है कि 1947 मे, जबकि दगो की वजह से यह खतरा पैदा हो गया था कि जामिया मिल्लिया को अपने अहाते से उठ जाना होगा, डा जाकिर हुसैन ने मुझसे कहा था कि हम लोग सभी चीजो को ऐसी हालत में छोडकर जाए कि हमारे बाद जो वहा आकर रहे वे यह समझ सकें कि हम इसे प्यार करते थे, और दो निम्नस्तरीय सहयोगियो के साथ मेरे ही सुपुर्द यह काम हुआ कि बागीचे को ठीक हालत मे रखा जाए। जहा कहीं वह खुद कुछ लबे अरसे तक रहे, उन्होने भी इसी नियम को निभाया। अलीगढ मे विश्वविद्यालय का अहाता और कुलपति-निवास, ओखला मे उनका अपना घर, पटने का राजभवन, न. 6, मौलाना आजाद रोड—ये सभी उनके इस नियम पर चलने के ज्वलंत उदाहरण हैं। यहा तक कि राष्ट्रपति भवन भी, जहा कोई भी कमी नही दिखाई देती थी, किसी हद तक दूसरा ही लगने लगा था। बागीचो को देखकर साफ लगता था कि उनकी उनमे गहरी व्यक्तिगत दिलचस्पी है, गुलाबो की नई-नई क्यारियो की वजह से उनकी

---

[1]अक्तूबर 1918मे नेपाल की अपनी यात्रा पर से लौटते वक्त उन्होने दूतावास के सचिव और उसके धोबी पर खास तौर से मेहरबानी की नजर रखने की राजदूत से सिफारिश की थी।

बहार मे सघनता आ गई थी, और फूलों वाली कितनी ही बेलें भी, और पत्तों की बहार के लिए मशहूर पौधे! उत्तरी बाजू वाले कुछ गलियारों मे मैंने देखा कि पुरानी तस्वीरों की मनहूसियत को रोशन खुशनवीसी की खूबसूरती ने दूर कर दिया है।

3 मई 1969 को सवेरे डा. जाकिर हुसैन को लगा कि असम और नेफा के दौरे के कुछ दिन पहले लौटने पर उन्हें जो थकान मालूम हुई थी वह अब दूर हो चुकी है। उन्होने अपनी हमेशा की दिनचर्या शुरू कर दी, और तभी उनके चिकित्सक लोग भी उनके स्वास्थ्य की परीक्षा के लिए आने वाले थे। करीब पौने ग्यारह बजे तक वे सब-के-सब इकट्ठे हो चुके थे, मगर उन्हे कुछ देर इंतजार करने के लिए कहकर वह गुसलखाने चले गए। वे लोग इंतजार ही करते रहे, मगर वह लौटकर नही आए। उनके निजी नौकर इशाक को, जो करीब बीस साल से बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी खिदमत करता आया था और उनके साथ कड़ाई से पेश आने वाला अकेला आदमी था, फिक्र हुई और उसने दरवाजा खटखटाया। जब उसे कोई जवाब नही मिला तो दूसरी ओर जाकर उसने रोशनदान पर चढ कर वहा से अदर झाका। उसने देखा, उसके मालिक दरवाजे के पास ढेर हुए पड़े हैं। उसे खोलने जाकर वह वही गिर पड़े थे। चिकित्सको ने कुछ भी उठा नही रखा, लेकिन उनके थके हुए दिल की धड़कन को फिर चालू नही करा सके। कुछ ही देर बाद समाचार प्रसारित हो गया कि राष्ट्रपति चल बसे।

मुजदए सुबहः दरीं तीरा शबानम दादंद
शमा कुश्तंदो जे खुर्शीद निशानम दादंद

अर्थात्—

जिंदगी की अंधेरी रात मे सुबह की खबर आई—
एक दीया बुझ गया, मगर सूरज आ रहा था

सभी ओर गम छा गया। सभी राज्यो के उच्च अधिकारी और सैकड़ों-हजारों उनके देशवासी उनके शव के समक्ष श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए आने लगे, जिसे सार्वजनिक दर्शन के लिए लिटा कर रखा गया था। दो दिन बाद उन्हे सामरिक सम्मान के साथ दफनाया गया, और अपार जनराशि ने उसी सुव्यवस्था का परिचय दिया जो खुद उन्हे बेहद पसद थी। भारतीय इतिहास मे ही नही

शायद मुस्लिम इतिहास में भी पहली बार, स्त्रियों की एक बड़ी संख्या ने, जो मुसलमान भी थीं और गैर मुसलमान भी, कब्र में तीन मुट्ठी मिट्टी फेंकने की रस्म अदा करके, उनके इस अंतिम सस्कार के वक्त, सभी मानव-संबंधों को विशुद्ध मानवता का रूप देने और धार्मिकता तथा श्रद्धा सम्मान के कृत्यों में सभी को एक करने के दिवंगत राष्ट्रपति के आदर्श को निभाया।

आज भी वह जामिया मिलिया के ही अहाते में, करीब एक सौ फुट लंबे और उतने ही चौड़े, प्राकृतिक चबूतरे के नीचे दफन हैं, जिसके पूरब में एक स्कूल है, उत्तर में एक मस्जिद, और पश्चिम में एक पुस्तकालय। उन्हें दफन करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त दूसरी कोई जगह नहीं हो सकती थी। वह उस जगह शांति की नींद में सोए पड़े हैं जिसके चारों ओर ही वह सब था जिसे वह अपने जीवन को सार्थक बनाने वाला समझते थे—विकासोन्मुख मस्तिष्क, ज्ञान और प्रार्थना।